जन भारती भाग-२.

मीरा स्मृति ग्रन्थ

बंगीय हिन्दी परिषद
१५ बंकिम चैटर्जी स्ट्रीट
कलकत्ता

"मोर मुकुट पीताम्बर धारी मीरा 'मन अनु रंजन'।
श्याम! समर्पित है चरणों में यह मीरा अभिनन्दन॥"

मीरा स्मृति ग्रन्थ

ग्रन्थ सामग्री	दाता	पृष्ठ

निवेदन

आज रास पूर्णिमा है। भारतीय जीवन में योगिराज कृष्ण के पावन चरित्र ने जो सात्विक चेतना युगों पहले फूँकी थी, वह आज भी अमर और अम्लान है। उनसे सम्बन्धित यह पुनीत पर्व भारतीयों के लिये और भी पावनतर हो उठा, जब लगभग चार सौ वर्ष पूर्व देवी मीरा ने इसी दिन पृथ्वी पर अवतरित होकर भक्ति की भागीरथी फिर एक बार प्रवाहित कर दी।

उनका पावन चरित्र सैंकड़ों वर्षों से उनकी स्वर लहरी में प्रवाहित होताहुआ देश के हृदय-हृदय को केवल स्पर्श ही नहीं करता रहा है, वरन उसके कलुष को धोकर निर्मल चेतना से ओत-प्रोत भी करता रहा है। उन्हीं की स्मृति में बंगीय हिन्दी परिषद् आज अपनी यह विनीत श्रद्धांजलि अर्पित कर रही है।

इस ग्रंथ की सामग्री भेंट करनेवाले देश के विविध अञ्चल के परम प्रतिष्ठित उच्चकोटि के उद्भट् विद्वान् और विचारक हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी यह सामग्री भारतीय साहित्य के लिये अमूल्य भेंट है। इसके अवलोकन मात्र से प्रत्यक्ष हो जायगा कि मीरा का चरित्र, उनकी विचार धारा तथा उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान चेतना अब तक की दुखद् अनिश्चित स्थिति के कारण विविध मेधावी विद्वानों को भी भिन्न निष्कर्षों की भूलभुलैया में बरबस डाले हुए हैं। इस दयनीय परिस्थिति का उल्लेख प्रस्तुत सामग्री में प्रायः सभी विद्वानों को करना ही पड़ा है। देवी मीरा के प्रसाद की अवांछनीय अनिश्चिति को दृढ़ आधारों पर स्थिर और सुनिश्चित करने का यह एक आवश्यक प्रयास है।

साहित्य के सेवकों और उसके प्रेमियों की यह संस्था अपनी इस भेंट को मीरा के श्याम, के चरणों में समर्पित करती हुई प्रसाद स्वरूप इसे आज भारतीय-साहित्य को भेंट करने के लिये प्रस्तुत हुई है।

जिन पंडितों और कवियों का सहयोग उनकी कृतियों के नाते इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में परिषद् को प्राप्त हुआ है, वह गौरव और विचार गरिमा में इतना अमूल्य है कि उसके मूल्यांकण की चेष्टा भी नहीं की जा सकती। परिषद् उनके प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता प्रगट करती है।

मीराबाई की रस भरी वाणी केवल भक्त हृदय या काव्य मर्मज्ञों को ही स्फूर्ति नहीं प्रदान करती रही है, वरन् चित्रकार भी निन्ततर इससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। मीरा हरि रे हाथ बिकाणी लोक कह्या विगड़ी, के भाव को परम विख्यात कलाकार स्व० ईश्वरी प्रसाद जो वर्मा के सुयोग्य पुत्र श्री महावीर प्रसाद जी ने अपनी तुलिका के द्वारा सजीव करके इस ग्रंथ के लिये भेंट करने की कृपा की। इसका मूल्यांकण तो सम्भव नहीं; किन्तु परिषद् हार्दिक बधाई के साथ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करतो है। मुख पृष्ठ का चित्र भी उन्हीं का बनाया हुआ है।

यह पुनीत और पावन अवसर अपने अभावों और अपनी मजबूरियों के दुखड़ों की शिकायतों से म्लान नहीं किया जा सकता।

स्थानीय मित्रों में कविवर 'प्रकाश' धन्यवाद के पात्र हैं कि समर्पण की सुन्दर पंक्तियां ग्रंथ के लिये उन्होंने भेंट की। हमारे विविध कार्यकर्त्ताओमें नवयुवक उत्साही श्री बालकृष्णजी गर्ग विशेष धन्यवाद के पात्र हैं जिनके अटूट परिश्रम की परिषद् सराहना करती है। माडर्न आर्ट प्रेस की संचालिका कुमारी शिबानी बोस के सह-योग के लिए परिषद् से उन्हें भी धन्यवाद देती है।

अर्थ प्रधान वर्तमान सामाजिक वातावरण आज के जीवन में पग पग पर आड़े आता है। यह ग्रंथ अपने वर्तमान स्वरूप में पर्याप्त

व्ययसाध्य रहा है, किन्तु परिषद् सराहना करती है अपने उन मित्रों की जिन्होंने थोड़ा ही थोड़ी सही, इस निमित्त अपने आर्थिक सहाय्य के द्वारा व्यय की समस्या को हल कर दिया। कुछ मित्रोंने कुछ छोटी-छोटी रक़में भेंट की, तो अनेक साहित्य प्रेमी मित्रों ने प्रकाशन पूर्व प्रतियां लेकर परिषद् की आर्थिक कठिनाई दूर करने की कृपा की।

भक्ति और श्रद्धा की जिस भावना से परिषद् ने यह ग्रंथ, राष्ट्र के साहित्य कोष को भेंट करने का संकल्प किया है, आशा है प्रेमी जन उसी भावना से इसे स्वीकार करने की कृपा करेंगे।

विनीत—

सम्पादक मण्डल

सकल नारायण शर्मा — विपिन बिहारी त्रिवेदी
राम प्रसाद त्रिपाठी — कमला देवी गर्ग
ललिता प्रसाद सुकुल — तारक नाथ अग्रवाल

भूमिका

प्रेम पयस्विनी मीरा की जीवन घटनाओं पर इतिहास भलीभांति प्रकाश अद्यावधि नहीं डाल पाया है। यद्यपि स्वर्गीय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कुछ भ्रमात्मक किन्तु प्रचलित विचारों का निराकरण कर दिया है तथापि दृढ़तापूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वे भी मीराबाई की जीवन सम्बन्धी घटनाओं पर निश्चयात्मक प्रकाश डालने में सफल हुए। कुछ अन्य विद्वानों ने भी, जिनमें डा० श्री कृष्ण लाल सबसे ताज़े हैं, मीरा के जन्म, विवाह, वैधव्य, तीर्थाटन आदि के संवत-निर्धारण किये हैं, किन्तु वे केवल कल्पित अनुमानों पर आश्रित और संदिग्ध हैं। इन त्रुटियों के रहने पर भी स्थूल रूप से कुछ बातें मान्य कही जा सकती हैं। राठौर वंशी राव जोधा ने अपने पुत्र दूदा को जो जागीर प्रदान की उसमें उसने मेंड़ता नामक स्थान को जागीर का केन्द्र बनाया। उसी कारण उसकी शाखा मेड़तिया कही जाने लगी। दूदा के ज्येष्ठ पुत्र वीरम देव ने वीरवर जयमल्ल को और कनिष्ठ पुत्र रत्नसिंह ने मीराबाई को जन्म दिया। दूदा वीर और धर्मनिष्ठ थे अतएव उनके निरीक्षण में पौत्र और पौत्री का पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा हुई। मीरा के प्रति उनका अधिक ध्यान गया क्योंकि बाल्यकाल में ही उसके पिता और माता स्वर्गवासी हो गये थे। जयमल्ल और उसकी चचेरी भगिनी मीरा दोनों ने अपने अपने गुणों से राठौर, एवं सीसोदिया कुलों की मर्यादा एवं प्रतिष्ठा बढ़ाई। राजपूताने के इतिहास में दोनों के नाम स्वर्णाक्षरों में अङ्कित हो गये। जयमल जैसे वीर वैसे ही भक्त भी थे। मीरा की भक्ति और भी बढ़ी चढ़ी थी।

मीरा का विवाह मेवाड़ के प्रसिद्ध राणा सांगा के किसी राजकुमार से हुआ। ओझा जी का अनुमान है कि उसका नाम भोजराज था। यहां भी वातावरण सानुकूल मिला। उनकी देवरानी अजब कुंवर बाई भी भक्ति भावना से विभूषित थीं। दैवयोग से विवाह के कुछ वर्षों के पश्चात मीरा

पर वैधव्य का पहाड़ टूट पड़ा। क्षत्राणी होने के कारण सम्भव था कि अपने पति के शव को क्रोड में रख कर अग्नि मार्ग से स्वर्ग चली जातीं। किन्तु दीनवत्सल गिरिधारी भगवान कृष्ण ने उनको उस ओर प्रेरित न करके अपनी शरण में ले लिया, जिससे मीरा राज-वधुत्व से बढ़ कर गोपीत्व को प्राप्त हुईं। हमारे सौभाग्य से सतियों की भीड़ में भस्मसात् होकर स्मृतिपटल से वे मिटने न पायीं। प्रत्युत् कृष्ण का पतित्व पाकर उन्होंने प्रेम के लोकोत्तर एवं अक्षय सुख का संयोग तथा वियोगात्मक अनुभव किया, जिससे उत्कट भक्तों की अमर कीर्त्ति उनको मिली और प्रेमामृत पूर्ण संगीत हमें और हमारे देश को मिला।

उपनिषद् और श्री मद्भागवत में जिसे 'पतिः पत्नीनाम्' कहा है वह कल्पना की तीव्रता के कारण मीरा के साथ खेलने लगा। तन्मयता और तल्लीनता ने मीरा को आत्मविभोर अथवा आत्म-विस्मृत कर दिया। कुल तथा राज मर्यादा की सीमाएं उनके मनोवेग के सामने मिटने लगीं। उनको संसार के सभी जीव स्त्री रूप में प्रतीत होने लगे क्योंकि उनकी यह धारणा बंध गयी कि श्री कृष्ण ही एकमात्र पति और जीवमात्र स्त्रियां हैं। दया एवं कारुण्य मूलक वैष्णव धर्म ने शैव-शाक्त वातावरण में विचार, विश्वास एवं भावों का संघर्ष पैदा कर दिया। साधु-सन्तों के दर्शन तथा सत्संग से रनिवास की मर्यादा बिगड़ने की आशङ्का बढ़ने लगी। युवती विधवा की आत्मतन्त्रता से कलङ्क लग जाने का भय होने लगा। सम्भव है कि उपर्युक्त कारणों से जिस प्रकार अपनी भौजाई रत्नावली को आमेर के राजा मानसिंह ने डराने धमकाने तथा निधन करा देने के प्रयत्न किये थे, कुछ उसी ढंग के प्रयत्न मीरा से छुटकारा पाने के लिये किये गये हों। यह भी असम्भव नहीं कि उपर्युक्त रानियों को भक्ति की तीव्रता तथा भगवत्कृपा द्वारा सब आपत्तियों से उनकी रक्षा किये जाने की कथा द्वारा भक्ति की महत्ता स्थापित करने के लिये मीरा के प्रति कुव्यवहारों का अतिशयोक्त और अतिरञ्जित वर्णन किया गया हो।

उस समय मेवाड़ की श्री उत्तरोत्तर बिगड़ती चली जाती थी मानो

उस पर साढ़े-साती शनिश्चर की दशा लग गयी थी। खनुआ की रोमांचकारी दुर्घटना, महाराणा सांगा का निधन, मेवाड़ का नैतिक पतन, षड्यंत्रों की प्रचुरता, गुजरात के सुल्तान द्वारा अपमान, चीत्तोर का पतन, राणा विक्रमाजीत का वध इत्यादि दुर्घटनाओं का ऐसा ताँता बँधा जिससे वैयक्तिक तथा सार्वजनिक शान्ति का रहना असम्भव-सा हो गया। ऐसे अव्यवस्थित तथा कलुषित वातावरण से ऊब कर मीरा अपने मायके चली गईं। किन्तु दुर्भाग्य से वहाँ भी वातावरण शान्त न था। जब से जोधपुर के राजा मालदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीना, तबसे दोनों घरानों में वैमनस्य बढ़ता गया और मेड़ता, मारवाड़, मेवाड़ तथा देहली के राजनैतिक षड्यंत्रों का केन्द्र-सा बन गया। बाहरी वातावरण जितना ही प्रतिकूल होता गया उतना ही अशरण शरण भगवान की शरण का आकर्षण बढ़ता गया। इस समय तक मीराँ की आयु भी इतनी बढ़ गई थी कि गृह-त्याग से उनको अथवा उनके कुटुम्बियों को लांछन लगने की उतनी सम्भावना न रही। अतएव तीर्थाटन का निश्चय करके वे घर से निकल पड़ीं। गोकुल-वृन्दावन में होकर द्वारकाधीश की छत्र-छाया में भजन-कीर्त्तन करती रहीं। वहीं उन्होंने अपनी ऐहिक-लीला समाप्त की। उपर्युक्त घटनाओं का काल-क्रम निर्णय करना अभी संभव नहीं। स्थूल रूप से इतना कहा जा सकता है कि मीरा का समय सोलहवीं शताब्दी के पहले तीन चरणो में था। यह युग वही था जिसमें कि कृष्ण-भक्ति का प्रचार हमारे देश में अपने प्रबल रूप में हो रहा था और साकार-निराकार का प्रश्न साधारण जनता के भी सामने तीव्र रूप में उपस्थित हो गया था। राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक उथल-पुथल और संघर्षों ने कल्प-विकल्प में स्फूर्ति और भावों में उन्मेष और ऊष्णता को उत्तेजना प्रदान कर दी थी। मीरां उसी साधना की स्निग्ध आलोक कारिणी दीप-शिखा हैं।

मीरा की गणना सिद्धि-प्राप्त भक्तों में की गई है। उनके भजनों से उनकी आत्मिक एवं मानसिक प्रवृत्ति का अनुमान किया जा सकता है। दुर्भाग्य से उनके भजनों का शुद्ध और प्रामाणिक संग्रह न मिलने के कारण

निश्चयात्मक आलोचना करना कठिन है। इतना तो सभी मानते हैं कि उनके नाम से अनेक प्रक्षिप्त पदों की रचनाएं की गईं, किन्तु क्षेपकों से मुक्त शुद्ध पाठवाला कोई संग्रह प्रकाशित नहीं मिलता। जिन विद्वानों ने शुद्ध पाठ निर्धारित करने की चेष्टा की उन्होंने भी यह बतलाने का कष्ट न किया कि किन कसौटी और किन सिद्धान्तों पर उन्होंने पाठ निश्चित किया। पाठ निश्चित न होने से क्या अनर्थ हो सकता है, उसका अनुमान पाठक एक उदाहरण से ही समझ लेंगे। होली के पद में एक पद में निम्न चरण आया है—"उड़त गुलाल लाल भए बादल बरसत रंग अपार"। अर्थ स्पष्ट है। किन्तु एक संग्रह में 'अपार' के स्थान पर 'अँगार' छपा है। उन दोनों शब्दों की व्यंजनाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है। दोनों येन-केन उपयुक्त हो सकते हैं किन्तु वे एक ही अर्थ नहीं देते। जब एक ही शब्द इतना भ्रमात्मक हो सकता है तब पंक्तियों और पदों से अनर्थ होने की कोई सीमा ही नहीं। मध्य-भारत-हिन्दी-साहित्य-समिति द्वारा प्रकाशित ग्रंथ में क्षेपकों को हटा कर प्रामाणिक पदों के संग्रह करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु संकलित पद जिन आधारों पर चुने गये हैं उन पर लेखक अथवा सम्पादक महोदयों ने कोई प्रकाश नहीं डाला। इस कठिनाई के रहते हुए भी उसी संकलन के आधार पर कुछ विचार स्थिर किये जा सकते हैं।

उनके पदों से यह प्रतीत होता है कि मीराँ देवी की रचनाएं भाषा अथवा काव्य चातुर्य की दृष्टि से विशेष महत्व नहीं रखतीं। भाषा अथवा काव्य-कला का उनमें कोई विशेष चमत्कार नहीं। फिर भी उनके पदों में विशेष आकर्षण है; उनमें पुलकित तथा गद्गद करने की शक्ति है; कम से कम श्रोताओं के हृदय पर वे प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इनके अनेक कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि उनके पढ़ने या सुनने से मीराँ का ध्यान आ जाता है और उनके व्यक्तित्व की मोहिनी उन्हें अधिक सरस एवं मधुर बना देती है। यह भी प्रतीत होता है कि उनकी भक्ति एवं साधना उनकी पदावली को विशेष ढंग से अनुप्राणित करती है। उनके शुद्ध, सरल तथा मंजुल भाव उनकी, निश्छल अनुरक्ति, तल्लीनता एवं मादकता उनके शब्दों में

भी छलकती-सी जान पड़ती है। साधिका की प्रगाढ़ भक्ति-भाव से उसके शब्दों में भी उसकी आत्मा का विशेष स्पन्दन एवं सौरभ प्रकट हो गया। यदि शब्दों, वाक्यों, पदों आदि का कौशल अथवा पद्यों को विपुलता मात्र ही काव्य, कवित्व अथवा कवि की महानता या हीनता का प्रमाण समझा जाय तो संभवतः मीरा का स्थान नगण्य-सा माना जायगा। यदि भावावेष, हृदयावेग, तीव्र भावुकता तथा तन्मयता से विगलित शब्द विन्यास को कविता का विशेष लक्षण माना जाय तो मीरां के कवियत्री होने में कोई शंका नहीं। यही नहीं, उनकी पदावली में भावोन्मेषकता एवं सङ्गीत के विशेष गुण हैं जिनसे उनके काव्य का उत्कर्ष बहुत बढ़ जाता है। रस उत्पन्न करने की उसमें शक्ति है। वह आज भी वैसी ही सरस और मधुर है जैसे कि पहले थी। संभवतः ये गुण भविष्य में रहेंगे क्योंकि इनमें स्थायित्व के लक्षण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी भाषा की कवि-यत्रियों में मीराँ का स्थान प्रमुख है।

यद्यपि मीरां गिरधर गोपाल की अनन्य भक्ति में तल्लीन रहती थीं तथापि उनमें मानसिक अथवा साम्प्रदायिक संकीर्णता न थी। तत्कालीन सम्प्रदायों में से किसी एक में उनकी आसक्ति नितान्त सीमित नहीं की जा सकती। संभव है कि जयमल्ल के जिस कुंवारी बहन का उल्लेख मेड़ता के हरिदास बनियाँ की वार्ता में दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता में आया है वह मीराँ बाई ही हों। यदि यह अनुमान सत्य ठहरे तो कहा जा सकता है कि वे वल्लभ सम्प्रदाय के गुसाँई जी की शिष्या-सी हो गई थीं। बालकृष्ण की अपार भक्ति भी मीराँ पर वल्लभ सम्प्रदाय के प्रभाव की ओर संकेत करती है। उस वार्ता से यह भी प्रकट होता है कि जयमल्ल की बहन ने श्रीमद्भागवत का संस्कृत में ही अच्छा अनुशीलन किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने गुरु दीक्षा नहीं ली इसी से पुष्टि मार्गीय भक्तों की सूची में उनका नाम नहीं रखा गया। यही नहीं, चौरासी वैष्णवों की वार्ता में जो अनुश्रुति है उसके अनुसार वल्लभ मतानुयायी रामदास ने मीरा का साथ इसीलिए छोड़ दिया था कि मीरा ने आचार्य महाप्रभून के पदों के अतिरिक्त

अन्य पदों के गाने के लिए प्रस्ताव किया। रामदास को इस प्रस्ताव में महाप्रभू की अवहेलना दिखाई पड़ी। यह समाचार पाकर कि उनका एक भक्त गोविन्द दुबे मीरां बाई के अतिथि बने हैं, गोसाईं जी ने पत्र द्वारा उनको वहाँ से चले जाने का आदेश दिया। पत्र देखते ही वे चल पड़े, मीरां समझाती-बुझाती ही रह गईं। कृष्णदास अधिकारी नाम के पुष्टि-मार्गीय भक्त ने तो मीराँ से स्पष्ट कह दिया कि मैं तेरी भेंट इसलिए स्वीकार न करूँगा कि "तू आचार्य महाप्रभून की सेवक नाहीं होत'। उपर्युक्त अनुश्रुतियों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मीराँ वल्लभ सम्प्रदाय में नहीं मानी गईं।

मीरा की गणना निम्बार्क या चैतन्य सम्प्रदाय में ही की जा सकती है। उनमें गोपीभाव तो अवश्य था किन्तु उनके भजनों में राधा का महत्व कहीं नहीं दिखाई पड़ता। यद्यपि एक दो स्थानों में राधा का नाम अवश्य मिलता है किन्तु उसका प्रयोग साधारण ढंग से किया गया। जीव गोस्वामी से जो उनका आलाप हुआ उससे भी यही ध्वनि निकलती है कि वे चैतन्य सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुई थीं।

मीराँ का सम्पर्क निर्गुणवादी सन्तों के साथ भी सम्भवत: हुआ होगा। किन्तु उनके उपास्यदेव तथा उनकी उपासना तथा साधना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन पर निर्गुण विचार-धारा का प्रभाव नगण्य था। रयदास की शिष्या हो जाने की अनुश्रुति भी कपोल कल्पित सी जान पड़ती है। त्याग तथा विराग की वृत्ति निर्गुण उपासकों की विशेषता नहीं। वैष्णव सम्प्रदाय में भी त्यागियों और विरक्तों की कमी नहीं। "सील संतोष की केसर घोलो प्रेम प्रीति पिचकार रे .....। घट के पट सब खोल दिए हैं लोक लाज सब डार रे" वैष्णवों के विश्वास के उतने ही अन्तर्गत हैं जितने कि किसी अन्य साधु या सन्त के मत में। रोम रोम में विंध जाने वाले राग रंग का अनुभव कृष्णोपासक उनकी नित्य एवं शाश्वत लीला में किया करते हैं। गीतों की दो, एक रहस्यात्मक कड़ियों पर किसी निश्चयात्मक धारणा का बोझ नहीं रखा जा सकता।

उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन से यह प्रतीत होता है कि मीराँ किसी सम्प्रदाय विशेष से संबद्ध न थीं। उन्होंने कृष्ण से अपना सम्बन्ध सीधा स्थापित कर लिया था। उनकी भक्ति अधिकतर वियोगात्मक थी। किसी शुभ क्षण में, या स्वप्न में वे उनकी झलक देख लेतीं, कभी-कभी उनके साथ खेलने का भी अनुभव कर लेतीं किन्तु साधारणतया वे विप्रयोग प्रेम की मधुरिमा से उन्मत्त एवं छकी कभी आंसुओं की माला पोहती रहती, कभी कोकिला-सी कूक उठतीं, कभी मयूरी की तरह नाच उठतीं, कभी मौन कभी मुखर उद्विग्नता से रात-रात भर प्रतीक्षा करती और तलपती आलपती रह जातीं...। इस प्रकार "सखि निर्भरानुरागात्प्राप्तोयं निखिल गोपिकैकात्म्यम्" को चरितार्थ करतीं। प्रेमोन्माद का लौकिक रूप ही भीतरी तथा बाहिरी जीवन में विप्लव करने की क्षमता रखता है। वह प्रेमी को बाहरी जगत से खींच कर मानसिक, काल्पनिक, आन्तरिक, लोकों में न जाने कहां-कहां घुमाता फिराता रहता है। तो फिर यदि वह अलौकिक लोक तथा

आरक्तदीर्घनयनो नयनाभिरामः
कन्दर्पकोटिललितं वपुरादधानः
भूयात्समेध्य हृदयांबुरुहादवर्ती
वृन्दाटवी नगर नागर चक्रवर्ती

के अपार अनिर्वचनीय सौन्दर्य, लालित्य, लावण्य और माधुर्य की छटा जिसके स्वप्न अथवा कल्पना में भी झलक मार जाती है उसको आत्म-स्मृति के लिए अथवा सीमाग्रस्त बुद्धि के संचारी चंचल ज्ञान के लिए स्थान ही नहीं रह जाता वह चकित और कृतार्थ होकर लहर खाता रहता है। उसके लिए तो काज, लाज, समाज, लोक, परलोक अपना पराया आदि जीवन के जितने व्यापार हैं सब विडम्बनामय हो जाते हैं। उसकी मनोवृत्ति

विश्वास एवं संदर्शन और के और ही हो जाते हैं। उसे साक्षात अनुभूति होती है कि

सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्री गूढ़ भावात्मकं,
पुंरुपं च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत्स्वप्रिये,
संश्लिष्टावुभयोर्वभौरसमयः कृष्णोहितत्साक्षिकम्,
रूपं तन्त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम्।

मीरां बाई भी उसी ओर वेग से जा रही थीं जहां जीवन-मरण, देश-काल, रात्रि-दिन की समस्या ही नहीं। उनकी ऐहिक लीला कब और कैसे समाप्त हुई उसका अनुसन्धान इतिहास न जाने कब तक करता रहेगा। श्रद्धालु भक्तों को अनुश्रुति परम्परा तो यही कहती चली आई है कि उन्हें "रणछोर जी ने सदेह अपनी मूर्ति में लीन कर लिया!" प्रेम-सिन्धु में डूब कर श्री गौराङ्ग की तरह वह अमर हो गई और अपनी अक्षय कीर्ति की कौमुदी से हिन्दी साहित्य, सभ्यता और हिन्दू समाज को आलोकित कर गईं। मीरा जी ने दास्य, सख्य, दाम्पत्य भावों का संतरण करके सायुज्यता का सौभाग्य प्राप्त कर लिया जिससे वियोग अक्षय संयोग में परिणत हो गया और साधना सिद्ध हो गई।

—रामप्रसाद त्रिपाठी

मिस्टिक लिपिस्टिक और मीरा

(प्रोफ़ेसर शिवाधार पाँडेय, एम. ए., एल. एल. बी., प्रयाग)

डर्हम के विशप को भी विक्टोरिया के समय में कहना पड़ा था कि "मिस्टिक लोगों में 'मिस्ट' नहीं है। वह बहुत साफ़ साफ़ देखते हैं और कहते हैं।" पश्चिम में इसका सब से बड़ा प्रमाण विलियम लौ की 'सीरियस कौल' नामी पुस्तक है जिसने अठारवीं सदी में भी इंग्लिस्तान में धर्म की धारा बहाई और जौनसन गिबन आदि का ध्यान धर्म की ओर फेरा। लौ पर बेमे का प्रभाव पड़ा था। बेमे एक गड़ेरिए का बेटा चमार का काम करता था और एक कसाई की बेटी से व्याहा था। अध्यात्म मार्ग बताने को यह मिस्टिक भारत की एक कथा कहते थे—"एक ऋषि से एक युवक ईश्वर को पाने का हठ करता था।" ऋषि ने नदी में स्नान करते समय उस युवक का सिर जल के भीतर दबा दिया और उसके अधमरा हो जाने पर छोड़ा। जब युवक को होश आया ऋषि ने पूछा "उस समय तू सब से अधिक क्या चाहता था?" युवक बोला "एक सांस हवा।" ऋषि ने कहा "जब ईश्वर को उसी हवा की सांस की तरह चाहेगा ईश्वर मिलेगा।"

लौ और बेमे आत्मा और संसार का स्पष्ट बर्णन करते हैं "सृष्टि सर्वदा होती रहती है। विश्व अनादि अनन्त है। भूत भविष्यत वर्त्तमान कुछ नहीं है। जल दिखाई देता है औक्सीजिन हाइड्रोजिन नहीं दिखाई देते। ऐसे ही सब द्वन्द्व दुख सुख बुरा भला संकुचन प्रसार अकेन्द्रित और केन्द्रित अवस्थाएं हैं अग्निरूपी ज्योतिरूपी वा शक्तिस्वरूपी प्रेमस्वरूपी। भावना से सब होता है वह मुख्य है। अकेन्द्रित केन्द्रित और तांडव तीन तीन अवस्थाओं के दो चक्र हैं।

कर्कशता केन्द्र से परे खींचती है मधुराइ केन्द्र की ओर ले जाती है परिणाम है विरह नृत्य। तब इस संसारचक्र की चौथी दशा उत्पन्न होती है तीव्र भावना का संवेग। अब जीव नकार छोड़ हुंकार के पथ में आता है। यहां भी तीन दशा हैं अकेन्द्रित तत्व केन्द्रित शब्द और प्रेम नृत्य जो अनन्तज्योति से मिलाता है। ईश्वर एकरूप है। नियम एक है परन्तु सब काम द्वन्द्व से होते हैं। भावना शक्तिचक्र से निकल प्रेमचक्र का अनुभव करती है और इन सात परतों का संसार ईश्वर से अभिन्न है। भावना प्रार्थनामय है जो जीव का कभी पिंड नहीं छोड़ती और उत्साहित उल्लसित होने पर ज्योति तेज प्रेम रूपी पराकाष्ठा है।

पश्चिम में प्राचीन लोग सृष्टि के इन्जीली उद्भव पर कविता करते थे। ईसा के जीवनचरित्र पर और सन्तों के कारनामों पर भी। परन्तु इन सब में अधिक प्राण नहीं फूंक पाते थे। मरियम की स्तुतियां भी बनी थीं महन्तिनियों की दिनचर्या भी बखानी गई थी। परन्तु मठों के निवासी भावान्तर ही करते रहे स्वतन्त्र उड़ान न ले सके। अंगरेज़ी कविता जब चौसर से आरम्भ हुई इन सब की खूब खिल्ली उड़ा चली। परन्तु चौसर ने एक ईसाई बच्चे की हत्या बताने में करुण रस कूट दिया लोभ के कारण पापियों की भयंकर मृत्यु बड़ी भयावनी रीति से दिखाई। चौसर ने तीर्थयात्रा का वर्णन किया परन्तु न उसमें भक्ति थी न उसके कथापात्रों में आई। उसके शिष्यों ने तो ऐसा तूमार बांधा कि कविता की बधिया ही बैठ गई। स्पेन्सर ने जब उसे जगाया तब वह बहिर्मुखी होगई और धार्मिक आन्तरिकता के स्थान में सांसारिक आनन्द दिखाने लगी। मिल्टन ने प्रकांड पक्षपात से धार्मिक कविता को कविता की चोटी पर पहुंचाया पर धर्म का पक्ष शैतान ने शिथिल कर दिया। सत्रवीं सदी में धर्म की लहर उठी थी भेद विरोध भी बढ़ा। लोगों के मस्तिष्क व हृदय पर बीती। तब अंगरेजों में तीन प्रसिद्ध

मिस्टिक हुए हर्बर्ट क्राशा व वौन। दरबारी असफलता से विश्वविद्यालय के प्रवचनों को छोड़ हर्बर्ट प्राटेस्टेन्ट पादड़ी होगया। क्राशा प्रोटेस्टेन्ट पादड़ी था परन्तु धार्मिक आवेश से कैथलिक पादड़ी होगया। वौन डाक्टर था कठिन रोग से जब चंगा हुवा तब उसने धर्म में गोते लगाए। ट्रैहर्न एक चमार था जिसने एक अच्छी गद्यपुस्तक लिखी। डन पहले केथलिक था फिर एक ऊंचा प्रोटेस्टेन्ट पादड़ी हुवा। उसकी कविता बिचारपूर्ण थी और इस सदी के आरम्भ में उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। क्राशा ३८ वर्ष जिया हर्बर्ट ३९ डन ५८। वौन बूढ़ा हो सका परन्तु उसका मुख्यग्रन्थ मध्य आयु में ही आवेग से लिखा गया था। दूसरा बुढ़ापे का छपा ग्रन्थ मुख्यतः अनुवाद ही था जो उसके काव्य के स्रोत तो अवश्य बताता है परन्तु काव्य को आगे नहीं बढ़ाता। प्रकट है कि यह लोग भारतीय भक्तों से बहुत ही विभिन्न थे। भारतीय भक्तात्माओं ने तन्मय होकर आजीवन उपासना की और अधिक अवस्था पाई जिसका उनके ग्रन्थों पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। राग का तो सागर ही उमड़ पड़ा।

हर्बर्ट तपस्वी था क्राशा भक्त वौन रहस्यवादी डन दार्शनिक। ट्रैहर्न भी रहस्यवादी ही कहा जायगा। हर्बर्ट ने मन्दिर की सेवा की ईसाई पूजा का आन्तरिक भाव ढूंढ़ा। वह बालू की रस्सी फेंकता है। प्रभु की शरण में जाता है। दिल दिमाग़ उसे अर्पण करता है। यश रूप धन समाज सब से हटता है। बालकों सा उसका रुदन है। आदम गिरा और आदमी को ले गिरा। मनुष्य अशान्त है थक कर ईश्वर की ओर फिरता है। वह अंगारा है जो यदि सुलगाया नहीं जायगा तो राख हो जायगा। पाप और मृत्यु मानव का नाश करते है परन्तु प्रेम और प्रसाद उद्धार करते है। गिरजे का कर्मकांड हृदय और मस्तिष्क की ऐक्यता द्वारा अपने असली तत्वों से उसका कल्याण करता है। हर्बर्ट की कविता सुन्दर है परन्तु सर्वोच्च कोटि की नहीं। भाषा सरल है सरस नहीं।

क्राशा के भभकते हृदय में ओज है उमंग है रस है राग है। स्वर्गीय थेरेसा की सन्तात्मा से वह प्रार्थना करता है कि वह अपने ईश्वरीय चुम्बनों के राज्य में से क्राशा पर दृष्टि फेरे। अपने ईश्वरीय अंश के बल से क्राशा के अहंभाव को दूर कर दे जिसमें वह अपनी सांसारिकता से मरण पा जाय। साथ ही क्राशा यह भी कह सकता है कि थेरेसा के प्रेमी देवदूत का बाण थेरेसा के हृदय को इतना नहीं धधकावेगा जितना थेरेसा का धधकता हृदय उसके बाण को भभका देगा। क्राशा साधुओं का जीवन दिखलाता है। वह रूखा-सूखा खाते हैं मोटा पहनते हैं कष्ट उठाते हैं नित्य नित्य मृत्यु भोगते हैं कि और ईश्वरीय कर्म कर पाएं। क्राशा मरियम का स्वर्गगमन गाता है। मृत्यु का मित्रसा स्वागत करता है। भावना में वह इन तीनों में सर्वोच्च है। लोरेंटो के मरियममन्दिर के कुप्रबन्ध से वह असन्तुष्ट था। कहते हैं इटलीवालों ने इसलिए उसे विष दे दिया और उसकी मृत्यु हो गई।

वौन सुमिरता है बाल्यकाल के श्वेत दिव्य विचारों की सुन्दरता। माटी के चोले में वह पछियाता है अनन्तकाल की छाया। देखता है कि निकल रहीं हैं एक अमरवृक्ष की टहनियां पत्तियां। उसे अनन्त-जीवन झलक जाता है जैसे शुद्ध अनन्तज्योति का चक्र-शान्त शुभ्र—जिसके नीचे चल रहा है त्रिकाल का छायामय चक्र। वह कहता है कि राजनीतिज्ञ सुरंग में चलते हैं जैसे छछुंदर और अपने शत्रुओं को धर दबोचते हैं गप से। परन्तु ईश्वर की आंख से तो नहीं बच पाते। वह पूछता है पन्छी घोसले से उड़ा तो कहां जाता है? मनुष्य मरा तो कहां जाता है? तारा कबर में बन्द होजाय तो भी जलेगा ही। खुलते ही भुवन में चमकेगा। ईश्वर दया कर इस संसारसागर में भी उस शिखर पर पहुंचावे जहां से दृष्टि दूरवादिनी होगी। वौन में दिव्य झांकियां हैं परन्तु वह अग्रसर नहीं हो सका न तन्मय ही हुआ।

इन में गूढ़भाव हैं। उथल पुथल बरसाती बाढ़। न हेमन्त न बसन्त। दृष्टि पैनी है गहरी है परन्तु ऊंची नहीं। इतनी व्यापिनी भी नहीं। वह कहता है कि संसारसागर में न काग की भांति उतराओ न जस्ते की भांति बूड़ो। मछलियों सा तैरते फिरो। सराय चाहे जहां बना लो परन्तु बसो अपने में ही। सदा एक जगह रहना नरक है। घोंघा कम चलता है परन्तु अपना घर अपने पास रखता है, तुम भी अपना महल आप बनो नहीं तो संसार तुम्हें जेलखाना हो जायगा। प्रेम मरगया तो सुन्दरता पड़ी रह जाती है जैसे खान में सोना। लावण्य किसी काम का नहीं होता जैसे कबर पर की धूप घड़ी। प्रेम भी नेति नेति ही करके बताया जा सकता है। वह इतना अद्वितीय है। जब हम अपने ही को पूरा नहीं समझते हैं तब और क्या जान सकते हैं? प्रेम अनन्त है सनातन। जैसे नक्शों में पूर्व पश्चिम एक से लगते हैं इधर उधर देखने से। योंही मृत्यु और पुनरुत्थान है। मुझ में दो दो आदम मिले हैं एक आदम का पसीना दूसरे (ईसा) का खून। पतन से ही उत्थान होता है। अनन्तजीवन सदा बदलता रहता है।

केबिल ने ऊन्नीसवीं सदी में कुछ त्योहारों पर भजन लिखे जिनका जनता में कुछ प्रचार हुवा। टौमसन ने स्वर्ग का कुत्ता लिख कर दिखाया कि ईश्वर मनुष्य को सदा उस के भले के लिए पछियाता रहता है और पा लेता है। हौपकिन्स ने कैथलिक उत्साह और उमंग की पेंग मारी। सामयिक सन्देह का वह तिरस्कार ही कर सका बहिष्कार नहीं। ब्लेक में कल्पना प्रबल थी। दृष्टिकोण अनूठा। संसार उसे प्रत्यक्ष ईश्वर का चमत्कार दिखाई देता था। उसके भावों में चमत्कार था भावना में नहीं। निजी जीवन में नहीं। वह कहता है "धरती चिपटी है मैं उसके अन्त तक हो आया हूं आकाश को कन्धों से छू आया हूं मृत लेखकों की आत्माओं से बात कर चुका हूं।" वह बार बार संसार में धोखा खाया और माया को पूरा समझ न

पाया। लीला में पहुंच न पाया। शैशव में उसका विशेष प्रवेश है। उसके अधिकांश गाने अच्छे हैं यद्यपि उनमें राग कम हैं। मृत्यु के पीछे उसके काम की कुछ सराहना की गई है।

स्वीडिनबोर्ग शौपेनहौर आदि मिस्टिक व दार्शनिक योरप में देश देश में हुए हैं। धर्म और संसार का संघर्ष योरपीय कविता बहुत अच्छा दिखलाती है। अंगरेजी कविता भी मानव हृदय की आशा निराशा चिन्ता और परलोकचिन्तन यथेष्ट दृष्टिपथ में लाती है। विश्वचेतना का चित्र खींचती है। परन्तु उसकी भावनाएं जब प्रबल हुईं तब भी सामयिक ज्ञान से सामयिक काव्यशैलियों से मुक्त नहीं हुईं। पंख दबे ही रहे। गीतों के संसार में ऊंचे नहीं उड़ पाए। अंगरेजी कविता के अधरों पर मिस्टिक माधुरी केवल लिपिस्टिक से ही लगी हुई है। न वह रस है न वह मधुराई न वह सत्य जो भारतीय भक्ति में है और मीरा के तन्मय जीवन की सरल सच्चाई में।

२

हमारे प्रधान भक्त हैं कबीर सूर तुलसी और हमारी मीरा। संभव है महात्मा गान्धी का कोई गद्यसंकलन भी इस पथ में कुछ पैर बढ़ावे।

कबीर ज्ञानी हैं। उनकी पहुंच और उनकी सीमा की तुलना तथागत के कार्य से भी की जा सकती है। कर्म ज्ञान उपासना मनुष्य प्रकृति के आवश्यक अंश हैं। किसी ओर से सीमित रहना मनुष्य के आदर्शों और उद्देश्यों को अवश्य संकीर्ण करता है। इसका फल मानवसमाज पर पड़ता है और वहां कभी न कभी परीक्षा हो जाती है। हमारा सन्तकाव्य कई अंशों में इस बात को सत्य कर दिखाता है, साहित्य भी मानवशक्ति के सब अंशों की पूर्त्ति चाहता है। ज्ञानी विचार प्रज्ञानी न हुए तो अज्ञानी सिद्ध हो जाते हैं। कर्ममार्ग किसी ओर झुकता है तो पक्षपात में फंसता

है। भक्ति हवाई ही रहती है तो उसे अपनानेवाले कहां से आवेंगे? नई लहर की करामात उसके ओज ही पर नहीं पूर्णांग प्रवाह पर भी अवलम्बित है। हमारे कुछ वर्त्तमान बुद्धिमान ऐक्यता का पाठ पढ़ाना और एकाकार भावनाओं को बढाना चाहते हैं। परन्तु वह विशेषताओं को भूल जाते हैं या लीपना चाहते हैं। मानवप्रकृति की विशेषताओं को काटछांट कर लुन्जपुन्ज बना देने से परिणाम प्रत्यक्ष है। उनके सागर और महासागर तालतलैया ही रह जांयगे। जब पूरी पैठ नहीं है तब सच्ची परम्परा का विरोध कहां तक जड़ जमने देगा?

सूर ने नेत्र बन्द किए तो भीतर के नेत्र खुल गए। मिल्टन का भी देशप्रेम से यही हाल हुवा परन्तु मिल्टन का प्रभाव सीमित रहा मस्तिष्क ही पर रहा। सूर व्यापी हुए और अन्तःपुरों में हृदयों में पैठ गए। भगवान कृष्ण घर घर में घुसे। गोविन्द कन्हैया नस नस में समा गए। प्रेम सब के आगे नाच गया—माता का प्रेम राधा का प्रेम गोपियों का प्रेम बालकों का प्रेम भक्तों का प्रेम भगवान का प्रेम कृष्ण कन्हैया का प्रेम। योंही दक्षिण से बौद्धों को शैव भजनों ने भगा दिया था। महामाया हृदय में है तब बंगाल के मस्तिष्क में भी है। नन्ददास परमानन्ददास बड़ी ऊचीं कोटि के भक्त कवि और गायक थे परन्तु सुरदास अनूठे हैं और अनूठे रहेंगे। सूरश्याम में किधर सूर हैं किधर श्याम कहना कठिनहो जाता है। भिन्न और अभिन्न की सीमा टटोलनी पड़ती है। दो बोल कितना जादू कर सकते हैं। कितने गहरे पैठ सकते हैं यह सूरदास ही बताते हैं। हिन्दी कैसी लिखनी चाहिए यह सूरदास ही सिखाते हैं।

परन्तु सूर में कसर थी जो मीरा से पूरी हुई। नहीं तो उसका पूरा होना असंभव ही था। परन्तु मीरा का पूरा काम तभी समझ में आ सकता है जब पहले तुलसी का महान कार्य पूरा समझा जाय। एपिक और लिरिक में घनिष्ट सम्बन्ध है जो जड़

सूर और मीरा ने जमाई तुलसी में फलीं फूलीं। और जो बीज तुलसी ने बोए वह मीरा मे पदों और चरणों में मन्जरित हैं।

तुलसी ने ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिखे —अनुपम। वह सिद्ध होगए— रामचरित दर्शन किया। स्वान्तः सुखाय दरशाया भरपूर। मानस सरोवर— शुभ्र शीतल पावन सलिल—सात दशाओं के सात सोपान— जहां भारत भर का मेला करता है नित्य स्नान। देखिए—कविता का सरयू भक्ति की भागीरथी रामकथा का पुण्य तीनों मिलकर रामरूप के सागर का दर्शन कराते हैं। यह तुलसी की सुन्दर काव्यभावना हम सब को कृतार्थ करती है।

वह लिख चले। पहले अपने भाव बताए इष्ट का बाल्यकाल गाया-- स्वयम्बर फुलवारी धनुषयज्ञ विवाह। प्रेम फूट पड़ा। रोमान्स दर्शा और रोमाञ्च।

> निजगिरा पावनि करन कारन रामजस तुलसी कह्यो।
> रघुवीरचरित अपारवारिधि पार कवि कौने लह्यो॥
> उपवीत व्याह उछाहमंगल सुनि जे सादर गावहीं।
> वैदेहिरामप्रसाद ते जन सर्व्वदा सुख पावहीं॥

इस मंगलायतन रामजस के सदा उछाह के पीछे आई अयोध्या। तुलसी ने दिखाई महल का एक रात। राम का गंगा उतरना दशरथ का मरण। और फिर तेरही के पीछे चित्रकूट का मिलाप। वर्णन नाटकों को मात करता है। सागरों से गहरा डुबाता है पहाड़ों से ऊंचा उठाता है। वह है महाकाव्य और तुलसी पुलकित हो कहते हैं "जो न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को।"

> सियरामपेमपियूषपूरन होत जनम न भरत को।
> मुनिमनअगम जमनियमसम-दम बिषमव्रत आचरत को।
> दुखदाहदारिददम्भदूषन सुजस मिस अपहरत को।
> कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि रामसन्मुख करत को॥
> भरतचरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
> सीयरामपदपेम अवसि होइ भवरसविरति॥

भरत की तपस्या और मीरा की तपस्या, भरत का प्रेममय बलिदान और मीरा का प्रेममय बलिदान मिलाने योग्य है। परन्तु भरत तो नारायण का अंश माया मानव थे।

गोसांई जी दो सीढ़ी उतर गए। आधी कथा कह गए। परन्तु अब अवतार संसार में अपने कर्म पर अग्रसर हुवा। तुलसी साथ हो लिए। उसी की प्रेरणा से आगे की कथा जुटाने और उसकी प्रकृति लुटाने लगे। अब सब कांडों की अन्त की टिप्पणियां पढ़िए।

अरण्यकांड में क्या है? विमल वैराग्य। यों नहीं कि रामजी बैरागी हो गए या बैरागियों में रहे फिरे ठहरे। परन्तु इस लिए कि निर्वेद है पहली सीढ़ी सब सच्चे कामों में। जोश पीछे आता है। विश्व बुरा नहीं है तब भी बैराग्य सच्चा विमल बैराग्य अपनाना पड़ेगा शुद्ध होकर। तभी कुछ हो सकेगा। जो नेता लिप्त है वह लिप्त रहेगा और डूब भी सकेगा। जो कुछ इस कांड में है—शूर्पणखा का उन्माद सीताहरण जटायु का बलिदान शबरी की सेवा राम का विलाप-सब चिल्लाता है बैराग्य! विमल अमल वैराग्य! संसार के सिनमा से ऊपर रहो पाप में मत फंसो। तप करो प्राण दो परन्तु उसे बहुत मत मानो। वह भी अहंकार उपजा सकता है। रावण का सा। ईश्वर क्यों विलाप करने चला? उसको क्या दुख क्या सुख? परन्तु नहीं यह उसकी शिक्षा है मनुष्य के कल्याण के लिए। शौनक की नीति नहीं कि राम की स्थूल जांघें थी सीता के घने केश इससे उन्हों ने दुख उठाया वशिष्ठ का ज्योतिष भी चूक गया। नहीं यह भी वही लीला है। राम आप रोते हैं तो उसी फेर में जिससे उन्होंने नारद को बचाया था। जीवन बुरा भला आदर्श सब वही बताता है कि पहली सीढ़ी पहला कदम है बैराग्य। मानव को मानवजीवन को यही अरण्यकांड का सन्देश है।

अब आई किष्किन्धा। हनुमान ब्राह्मण बन भगवान की परीक्षा लेते हैं। भाई भाई से भिड़ता है। रामजी बालि का शिकार

करते हैं। सुग्रीव ऐश करता है। दूतों के ठट्ठ भटकते हैं। अंगद अशक्त है मरने के लिए आसन जमाता है। सब प्रयत्न लगते हैं अकारथ और तुलसी कहते हैं सीखो विशुद्ध सन्तोष। यह क्या? बात अनूठी है। ईश्वर के आगे जाओ तो छल छोड़ो। पद पाओ तो अधर्म मत करो। नहीं तो ईश्वर को देना पड़ेगा कठोर दंड। उसके न बैर है न प्यार। वहां मोल तोल नहीं है। रक्षक है केवल एक पश्चात्ताप। उससे वह पड़ता है कोमल कर देता है क्षमा। वही पोसता है वही छोह करता है। मित्रता बड़ी बात है भक्ति मानी जाती है। यह सब सन्तोष की जड़ें हैं। मरते हुए भी काम बन जाता है। जले पंख भी निकल आते हैं। उसी की शक्ति उसी की भक्ति उसी के गुण ग्राम में है विशुद्ध सन्तोष। जब वैराग्य हुवा तब सन्तोष सच्चा होना चाहिए। नहीं तो तृष्णा फिर ले डूबेगी। यह रामायण का दूसरा कदम है। क्या अर्जुन में वैराग्य था? सन्तोष था? कितना? वैराग्य तो उसे किए देता था युद्ध ही से परांमुख। सन्तोष था? सन्तोष से तो वह बैठा जाता था रथ ही में। यह वैराग्य और यह सन्तोष और ही हैं—राममय।

सुन्दरकांड में सुन्दर है सीता का चरित्र सुन्दर है हनुमान की महावीरता सुन्दर है लंका का विध्वन्स सुन्दर है सेतुबन्ध और सुन्दर है विभीषणमिलन। परन्तु जिस सुन्दरता का तुलसी धरते हैं ध्यान और करते हैं बखान वह है ज्ञान का सम्पादन। पुस्तकों का ज्ञान नहीं सन्तों महन्तों का ज्ञान नहीं है। जीवनचर्या का ज्ञान रामकाज का ज्ञान जीवन सुफल बनाने का ज्ञान। और सीता का पता पाने का भी ज्ञान। राक्षसों का व अपना बल तोलने का ज्ञान।

सन्तोष कर बैठता है आलस्य। नहीं नहीं सच्चा सन्तोष देता है शान्ति करता है धन्य। "जो कोई करइ राम कर काजू। तेहिं सम धन्य आन नहिं आजू" कर्ममार्ग में वह देता है बल रामकाज यों करता है प्रबल। "कवन सो काज कठिन जग माही। जो नहिं तात

होइ तुम पाहीं।" तिलतिल सारी रात मारुति ने ढूंढा और सीता को न पाया। राम को सुमिरते ही सबेरे अशोक तले ताड़ लिया। संसार को ईश्वर के अनुरूप बनाना ईश्वरीय कार्य को बढ़ाना मानव-जीवन की पराकाष्ठा हैं और ईश्वरीय विश्वास उसका आवश्यक अंश है। उसी से जल में पत्थर तैरते हैं शत्रु भी मित्र हो जाते हैं ब्रह्मफांस भी छूट जाती है। आग भी नहीं जलाता। "सुखभवन संसयसमन दमनविषाद रघुपति गुन गना। तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि सन्तत सठमना।" यह ज्ञान सम्पादन करो सब दूसरे आस भरोस छोड़ के राम पर ध्यान दो। रामकाज पर ध्यान दो। यह वह सुनहली किरण नहीं है जो जादूगर मर्लिन को दूर चमकती दिखाई दी थी। ईसा के लालप्याले सी सर गैलेहड को नभमंडल में झलकती थी। नहीं यह अनन्त ज्योतिकिरण सदा सर्वदा मानव हृदय और मस्तिष्क में रहती है। नहीं तो सोने की लंका भी जल जाती हैं। इस ज्ञान से सुन्दर दूसरा मन्त्र नहीं है, जो संसार को साधे ईश्वरीय इच्छा का पालन करे अदम्य उत्साह से भरे। रामसेवा ही ज्ञान है उसी से सब हाल मिला। मारुति को अपने सच्चे रुप का ध्यान आया।

अब आगई लंका। विषम संग्राम—घोर छल और बल – दारुण घमासान। अवतार भी परीक्षा देता है युद्ध मचता है, क्लासिक रोमान्टिक। अणिमा गरिमा सब का प्रयोग। रावण का अहमदी उद्योग। अन्त होती है सत्य और धर्म की विजय। देवता करते हैं स्तुति आरती परन्तु अभी अवतार के संसार कार्य की नहीं हुई है इति। और तुलसी कहते हैं यह सब है विमल विज्ञान। प्योर सायन्स ही नहीं विशिष्ट विशुद्ध प्रज्ञान। अर्थात् अत्याचार का नाश करो संसार का उद्धार करो। कर्म कर्म हेतु करो धर्म हेतु करो। फल हेतु नहीं। स्वार्थ छोड़ो। संसार को पावन करो। उससे मुख न मोड़ो। यही है पूरा ज्ञान। ईश्वर भी सदा यही करता है। कृष्ण

भी आप करते हैं। अर्जुन को प्रेर कर करवाते हैं जबतक विभीषण रावण का भेद नहीं बताएगा रावण अमर रहेगा। अपना कर्त्तव्य आप पालन करना होगा कितना ही कठोर लगे या सरल। लंका-कांड का यह उपदेश केवल एक वीरकाव्य ही का उपदेश नहीं है। सम्पूर्ण मानवजीवन की नीति है। तुलसी का धर्मोपदेश। यह चारों कांड मानवधर्म का सांसारिक जीवन का ईश्वरीय इच्छा का मानवकर्त्तव्य का तुलसी के अनुसार पूरा सार हैं।

(अब आता है उत्तरकांड। अविरलहरिभक्ति का सम्पादन। सो भी श्रीमुख से वशिष्ठ से भुशुंडि से शंकर से सनकादिक से तुलसी से। यहां न अश्वमेध हुवा न मथुरा की नींव पड़ी न तक्षशिला पुष्कलावती की। नींव पड़ी मानवजीवन की महिमा की व आवागमन से छूटने के उपाय की। यह तुलसी के रामराज की इतिश्री है जो अब भी भारत के अधरों पर नाच रही है।)

हमारे साहित्य की सब से उत्तम पुस्तक कर्म का पूरा विश्लेषण करती है। ज्ञान का पूरा सच्चा चित्र खींचती है। भक्ति का शुद्धस्वरूप दिखाती है। वह स्वान्तःसुखाय है। परन्तु घटाकाश पटाकाश से दूर। जीवन के कठोर सत्यों में भरती है मधुर तत्व शुद्ध सिद्धान्त। भक्ति पसारती है अनन्त। राम ब्रह्म हैं मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। सब कुछ हैं। परन्तु प्रत्येक मनुष्य क्या करे कैसे जीवन पार करे। यही राम सर्वदा अपना काम अपना प्रेम बताते हैं और पार लगाते हैं। जो हृदय सच्चा पाते हैं।

तुलसीदास ने गीता के निष्काम कर्म में भक्ति फूंक दी। अवतार के कर्ममार्ग को संसार का कर्ममार्ग बना दिया। उन्होंने ईश्वरीय नीति का पालन मानवधर्म जता दिया। साधुसन्त के जीवनतत्व वैराग्य सन्तोष ज्ञान विज्ञान को सार्वजनिक मानस का उच्च वातावरण ही नहीं सिद्ध कर दिया। उसी के द्वारा नित्य के कामों में प्रयोग करने का महामन्त्र राममन्त्र दिया। कर्म ज्ञान उपासनामयी त्रिमूर्त्ति

की ऐक्यता का सिक्का भी चला दिया। अपने समय के आर्थिक राजनीतिक धार्मिक प्रश्नों की समस्याओं की वह सिद्ध करने नहीं बैठे। रुचिर रामकथा से उन्हों ने सब संसार कथा समझा दी। केवल कुटुम्बियों के आदर्श बनवास और युद्धभूमि का नाटक ही नहीं दिखाया। ईश्वरचरित्र की सफ़ाई देने नहीं बैठे। उन्हों ने उस दिव्यचरित्र के प्रत्येक अंश को उस कांड के सब पात्रों को उनके सब कर्मों के पूर्ण प्रभाव से दर्शाकर उचित निष्कर्ष निकाला। और उपदेश दिया कि मनुष्य को ईश्वर में जड़ जमाना चाहिए और संसार की रक्षा व उद्धार में मन लगाना चाहिए। यही उसका कर्म है ज्ञान हैं भक्ति है—तीनों एक साथ। सनातन धर्म का विशुद्ध रूप हमारी हिन्दी की रामायण में है। जिसको सब दल और सब पन्थ सब भारत में घर घर गाते हैं और गावेंगे। होमर एकीलीज़ का गुण गाता है। बाईबिल ईसा का मार्ग बताती है और मनुष्य का। रामायण राम का दर्शन देती है और सबको राममय बनाती है। स्वान्तःसुखाय।

३

मीरा रामायण का निष्कर्ष है तन्मयता का आदर्श। मीरा भी स्वान्तःसुखाय है। "जाके प्रिय न राम वैदेही" मीरा का समाधान नहीं है संसार का सामाधान है। "तुलसी सो सब भांति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो, जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो।" वैष्णवधर्म के अटल सिद्धान्तों पर सिद्ध गोस्वामी भक्त तुलसी की व्यवस्था है। रामधुन की विश्वव्यापकता पर तुलसी का मत। "अन्जन कहा आंखि जेहि फूटे औरौं कहौं कहां लौ" कविता की इति है। परन्तु "साऊ थे दुसमन होई लागे सबने लगूं कडी। तुम बिन साऊ कोऊ नहीं है डिगी नाव मेरी समुद अडी। तुम पलक उघाड़ों दीनानाथ मैं हाज़िर नाज़िर कब की खडी।" मीरा का

सीधा सादा सच्चा स्वर संसार असार भुगता हुवा मानवकविता और मानवजीवन का है एकीकरण। विरहिणी व्रजांगना का हिन्दू-कुलसूर्य के धधकते भभकते मंडल से गंगाजली चरणामृत।

उन्नीसवीं सदी में दोहरे जीवन (डबल लाइफ़) का सिद्धान्त दिखाई दिया। यह यही नहीं कि खाने के दांत और दिखाने के और। दिन में साह रात में चोर। परन्तु यह कि आजकल के संसार में है द्वापर से अधिक दुविधा। कलह है रातदिन समस्याएं हैं महागभिन। कवि कवियित्री भी सब उसी के वशीभूत हैं। विद्रोही होते हैं तो भी अन्त में निकलते हैं अद्रोही। अहिन्सा मानते हैं और नही भी मानते। (हिन्सा है कलि का प्राण) कोई ईसाई ईसा को मानते हैं नहीं भी मानते। (देश का प्रेम है सब जगह रामबाण) जगत के अनुसार चलते हैं नहीं भी चल सकते (स्वेच्छा ही में है कल्याण) सारांश यह कि आजकल व्यक्तित्व पड़ गया है ढीला सिद्धान्त शिथिल। जो नेत्र पसारते हैं दूर के क्षितिज निहारते हैं वह पाते हैं स्वार्थमय संकोच। नई दिवारों के उठ गए हैं नए कोटे परकोटे। क्षेत्र बट गए हैं फिर करोड़ों करोड़। संसारी जीवन कुछ है मानसी जीवन कुछ। द्वन्द मचा है देश में व समाज में, व्यष्टि में व समष्टि में, दिल में व दिमाग़ में, काम में व करतूत में क़लम में व चिलम में।

मीरा में यह कुछ नहीं है। (परचे राम रमै जो कोई। या रस परसे दुविध न होई) इसी से उसकी अनेक बातें अद्भुत हैं। वह एकेली है। भारत ही में नहीं संसार में कुछ विशेषताएं देखिए।

१ भोग की सामर्थ्य और भावना का प्राबल्य।

अंगरेज़ी में पहली केवल कीट्स और शेक्सपियर ही में बढ़ी चढ़ी थी। दूसरी शेली और शेक्सपियर में। दोनों का मिलान मिलता है शेक्सपियर में बहिर्मुखी और ब्लेक में अन्तर्मुखी अधिकांश। परन्तु मीरा में यह है अत्यन्त प्रबल बहिर्मुखी अन्तर्मुखी सब सर्वांग सम्पूर्ण एकमुखी। इसी से उसका विरह है प्रखर प्रचंड। विराग व त्याग

अद्वितीय। आनन्द अलौकिक। सोना रुपा सूं काम नहीं है म्हारे हीरा रो व्योपार गंगा जमना सों काम नहीं है मैं तो जाय मिलूं दरियाव। भाग हमारो जागियो रे भयो समुंद सों सोर। "अमृत प्याला छांडि के कुण पीवै कडवा नीर।" "जोइ जोइ भेख से हरि मिले सोइ सोइ भल कीजै हो। मुख देखे जीजै हो।" "जो जो भेष म्हारे साहिब रीझै सोइ सोइ भेष धरूंगी। या तन की मैं करूं कींगरी रसना नाम रटूंगी।" "जहं जहं पांव धरूं धरनी पै तहं तहं निरत करूंरी।" संसार खेल है माया नहीं। झुरमुट। जहां साईं मिलैगा। पंचरंग चोला रंग। झुरमुट में जा।

प्रकृति भी इसी रंग में रंग गई। "उमंग्यो इन्द्र चहं दिसि बरसे दामिनि छोड़ी लाज। धरती रूप रूप नवा नवा धरिया राम मिलन के काज। सुनी मैं हरि आवन की आवाज।" मेघ दूत नहीं है तो न सही।" मतवारे बादल आयो रे। हरि को संदेसो कुछ नहिं लायो रे। मेघ का गुरु बना पड़ा घनश्याम "बादल देख भरी। स्याम मैं बादल देख झरी। मीरा के प्रभु गिरिधर नागर कीज्यो प्रीति खरी।" संसार कुलक रहा है "दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही सोरा रे। मीरा के प्रभु गिरिधर नागर जो वारूं सो थोरा रे।"

२ सीधा स्वाभाव। इनका सीधासादा सच्चा स्वभाव अंगरेज़ी में तो कुछ कुछ शेली ब्लेक को छोड़ कर मिलता ही नहीं। मिल्टन शेक्सपियर से कोसों दूर है। सन्तों में भी बिरलों में हैं। परन्तु मीरा का यह प्रधान गुण है। वह बालिका सी बिललाती हैं किलकाती भी है। "मैं हरि बिन क्यों जीऊं री माय?" "माईरी मैं तो लियो हैं रमैयो मोल।" उधर भी पीर होगी ही। विश्वास पक्का हैं। "हरि तुम हरी जनन की भीर।" मीरा का मार्ग सीधा हैं परन्तु सरल नहीं। पथ सब से निकट का है परन्तु सब से कठिन। "या तन को दिवला करौं मनसा करौं बाती हो। तेल भरावों प्रेम का बारों दिन राती हो। "मन की लौ को जलाना

पड़ता है; "पाटी पारौं ज्ञान की मति मांग संवारौं हो। तेरे कारन सांवरे धन जोवन वारौं ही" सिर पर सिन्दूरी अरुणधार दमदमा रही है। "बाई ऊदा पोथी म्हारी खांडा री धार।" "माला म्हारे देवड़ी सील बरत सिंगार। अबके किरपा कीजियो हूं तो फिर बांधूंगी तरवार।" रानीपना दिखावेगी शाका और विजय सिखावेगी फिर कुछ समय में। "तन की मैं आस कबौं नहिं कीनी ज्यौं रण माहीं सूरों" "आधे जोहड़ कीच है रे आधे जोहड हौज। आधे मीरा एकली रे आधे राणा की फौज।" काम क्रोध को डाल के रे सील लिए हथियार। जीती मीरा एकली रे हारी राणा की धार।" इस अहिन्सा संग्राम ने भारत के धर्म की भारत के प्राणों की सदा को रक्षा करदी।

३ व्यक्तित्व। यदि किसी के यह रोम रोम में है पंक्ति पंक्ति में तो मीरा के। यही उसकी छाप है मुद्रा है। मीरा की कोरी नकलबाज़ी से ख़ुदा राज़ी नहीं हो सकता। कहां कांच कहां हीरे। सूरश्याम भी यहां हिचकते हैं। यह पद भीतरिये हैं। (क) लीला के पद रागगोविन्द का हृदय हैं भागवत का शिखर। इन्हें ढूंढ निकालना होगा। यहां क्षेपक तो फटक ही नहीं सकते। ये पद अबभी इने गिने मिलते हैं परन्तु अद्वितीय। "कमलदललोचना तैंने कैसे नाथ्यो भुजंग।" सूर की सी आंखों देखी ही बात नहीं है यहां तो मीरा के प्राण अटके हैं। बालिका धक से चकृत होगई। "कूदि पर्यो न डर्यो जल मांहीं और और काहू नहीं संक" गर्व से विजयनाद करती है मीरा के प्रभु गिरिधर नागर श्रीवृन्दावनचन्द।" गिरधर की विजय से वह फूलों नहीं समाती "इन्द्र कोपि जल बरस्यो मूसल जलधार। बूड़त ब्रज को राखेऊ मोरे प्रान अधार" आगे बढ़िए। अवस्था बढ़ी। "नन्दनंदन बिलमाई बदरा ने घेरी री माई" जयदेव के मेघैर्मेदुरम्बरम् का पूरा नाट्यकाव्य है। "मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरणकमल चित लाई।" "छाड़ो लंगर मोरी बहियां गहौ ना।" वह गोपी

उद्गीत है जिसने उद्धव पर मोहिनी डाली और जिसकी गूंज शुकदेव ने भागवत में सुनी गोपीगीत का प्राण। "रंगपरी रंगभरी रंग सूं भरी री।" ब्रज की बोरी होरी है और उसका पूज्य वातावरण। यह अठारवीं सदी की हिन्दी होलियों में कहां?" "आछे मीठे चाख चाख बेरि लाई भीलनी।" पद ही नहीं है गोपियों की वह तन्मयी कृष्णलीला है जिसने उद्धव और भागवत को विभोर किया। मीरा आप शबरी हो जाती है पतितपावनप्रभु गोकुलअहीरनी का चित्तौड़ के महल में नित्यनेम। वल्लभ ने सूर को रिरियाना छोड़ गुण गाना कहा था यहां तो श्याम नहीं गाते। मीरा की लगी टकटकी से नित्य नित्य नचाए जाते हैं और विभोर नाचते हैं।

(ख) मीरागोविन्द सम्बन्धी पद इस व्यक्तित्व का नितनूतन विकास है गीतिकाव्य के अमृतमय हृदय का सार। 'ऐसी विनयपत्रिका' ऐसी प्रेमस्तुति ऐसी विरहवेदना और कहां है? सूरविनय जीवन के आदि की है, तुलसीविनय अन्त की। परन्तु यह तो आदिरन्तेण सहेता नित्य कीर्त्तन है भीतरिया। और विश्वव्यापक बाहरिया। जहां मानवजीवन हरिमन्दिर है महल गोपुर विश्व जगमोहन। यहां है मानव व दिव्य भाव का मिलान मनुष्य और ईश्वर का सन्निधान। मीरा का असली आन्तरिक जीवन सच्ची अवतारी लीला यहीं है। विरक्ति प्रचंडशक्ति हो उठी है "हरि बात नहीं बूझते तो पिन्ड से प्राण क्यों नहीं निकलते? सांझ से सबेरा होगया न पट खोले न कुछ बोले। अबोलना सहा नहीं जाता। मीरा कटारी से कंठ चिरैगी अपघात करैगी। सपने में दरस दिया सो भी जाते जाते हो नैनों ने जाना। व, उन्हें भी तभी जग ने जगा दिया। अब मीरा बालिका सी बिललाती है। प्राण तो उन्हीं में गए यहां क्या है कुछ हुई नहीं। वह घायल सी घूमती फिरती है। पीर का बैद संवलिया ही है। इसे दुख है तो उसे पीर होगी ही। तलफ़ते तलफ़ते जी जा रहा है। "ज्यों चातक घन को रटे मछरी जिमि

पानी हो" वह जनम मरन का साथी है। उसको दिनरात वह कैसे बिसर सकती है? मीरा ही की छाती जानती है "दरस बिन दूखन लागे नैन" चैन नहीं है रैन छमासी होगई। "राम बनवास गए सब रंग लेगए। तुलसी की माला दे गए।" वह सीप भर पानी टांक भर अन्न लेती है मिलने के लिए गुप्त लंघन करती है। अंगुली की मूंदरी बांह में आने लगी है। बैद नहीं समझता। पिन्ड रोग बताता है। बैद तो संवलिया ही होगा। विरहिन व्याकुल जागती है जग सोता है। सूली ऊपर उसकी सेज है। पिया की सेज गगनमंडल पर है। मिलना किस विध होगा? विरह से तन तपा है परन्तु छाती कठिन है। वह फट के बिखर क्यों न गई? उसकी तो नाव डिगी है समुद्र अड़ी वह खडी खडी सूखती है। अहिल्या से भी अधिक भारू सौं ऊपर एक घड़ी। पूरी साढ़े बारह मन की निरी पत्थर। उसने तो कलेजा काढ़ के रख दिया। यम का कौवा आ तू ले जा जहां वो हां। वो देखैं तू खा।"

कर्कश विश्व से जब कृष्णकन्हाई की मधुराई की ओर मीरा मुड़ी तब उसे यह बिरहनृत्य हुवा। प्रचन्ड भावना जगी। अब अकेन्द्रित मायातत्त्वोंअसे वह केन्द्रित शब्दनाद मुरलीध्वनि के क्षेत्र में आई और उसका प्रेमनृत्य खुल खेला।

"कोई कछु कहे मन लागा।" "जनम जनम का सोया ये मनुवाँ गुरू शब्द सुनि जागा। भाग हमारा जागा।" मेरा मन रामहिं राम रटै रे। कनक कटोरे अमृत भरियो पीवत कौन नटै रे "राम-नाम रस पीजे मनुवां राम नाम रस पीजे। ताही के रंग में भीजे।" "पायोजी मैंने नाम रतन धन पायो।" "हिरदै हरि बसे तब नींद कहां? वहां अमृत झरता है हृदय पर।" बसो मेरे नैनन में नंदलाल। भक्तवछल गोपाल।" तुम जीमो गिरधरलाल जी। छप्पन भोग छतीसों व्यन्जन पाओ जनप्रतिपालजी। कीजै बेगि निहाल जी। जगत झुरमुट है। "पंचरंग

मेरा चोला रंगा दे मैं झरमुट खेलन जाती" सखीरी मैं तो गिरिधर के रंग राती। खोल अडम्बर गाती।" नाता नाम का है। मीरा का अवतार गोपी प्रेम ही नहीं सिद्ध करता है कृष्णाचरित्र भी सिद्ध करता है। तोपखानों की तड़ाप गड़ाप हो जाती है। भारत की आत्मा भारत का तनमन सुरक्षित है। "रघुनन्दन आगे नाचूंगी। हरिमन्दिर में निरत करूंगी घूंघरियां घमकास्यां। चरणामृत का नेम हमारे नित उठ दरसन जास्यां। गोबिंद का गुण गास्यां यह दिव्य पदों के घूंघर अनन्तकाल तक गूंजते रहेंगे। भारत के प्राणों में उल्लास और प्रताप भरते रहेंगे। न देश का सिर नीचा होगा न देश को आत्मा किसी लोभ मोह में फंसैगी।" चाकरी में दरसन पाऊं सुमिरन पाऊं खरची। भावभगति जागीरी पाऊं तीनों बातां सरसी" अब और क्या चाहिए अनन्य विजयध्वनि उसी मुरली-धुनि में जा मिली। "मैरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई" जिन्हों ने यह भजन अपनी माताओं से सुना है वही इसका रस जानते हैं। संसार एक खेल है यहां नृत्य ही नृत्य है आनन्द ही आनन्द। वह किसो कुल में कुटुम्ब में सीमित नहीं। ईश्वर जोगी है निर्मोही। आत्मा भी जोगिन है परन्तु मोही।" जोगिया ने कहियो रे आदेश। मैं बेरागिनि आदि की थारे म्हारे कद को सनेस" "तेरे कारन जोग लिया है घर घर अलख जगाई" यह जोग भी वही प्रेमनृत्य है।" "चलो अगम के देश काल देखत डरे। जहं भरा प्रेम का हौज हंस केलां करैं।" मैं तो म्हारा रमैया ने देखबो करूं री। तेरो ही उमरन तेरो ही सुमिरन तेरो ही ध्यान धरूंरी। "जहं जहं पांव धरूं धरनी पर तंहतंहनृत्य करूं री" यह चराचररूप भगवन्त की उपासना है। राधा ने ब्रजवास किया मीरा ने भी बनवास।" जोगी मत जा। मत जा मत जा। जलबल भई भसम की ढेरी जोत से जोत मिला जा सात परतों के परे यह ज्योति चक्र है जो आदि अन्त सब में है। पर जहां पहुंचना चक्र व्यूह सा भेदना है।

(ग) मीरा ने भगवान के स्वरूप का कैसा वर्णन किया है? उसकी दृष्टि अमरीका की अखबारी दृष्टि नहीं है। न किपलिंग ही की रंगीन पेनसिल उसे भाती है। व्रज के कवियों की भांति वह आकाश पताल से उपमाएं नहीं ढूंढ़ती। न गुड़ में चींटी सी गड़ जाती है। "जेती निहारिए नेरे ह्वै नैननि तेती खरी निकरै सी निकाई" यह उसका भीतरिया दर्शन नहीं है। उसका तो कहना ही क्या? एक ही पद मिलता है जो कदाचित प्रथम मिलन का हो। "जबते मोहिं नन्दनंदन दृष्टि पड्यो माई। तब तें परलोक लोक कछु न सुहाई।" अनन्यप्रभाव तत्काल। यह विश्वमोहिनी स्वर्ग अपवर्ग सब बिना भगवान के नरक समझती है। आगे क्या है? बस चन्द्रकला मुकुट भालतिलक कुटिल भृकुटि अरुन नैन बिम्ब अधर-सरल मधुर राग से भरा "गिरधर के अंग अंग मीरा बलि जाई" केवल एक उपमा "कुंडल औ अलक झलक कपोलन पर छाई। सरवर मधि मनों मीन मकर मिलन आई" वर्ण की स्वच्छता मीन मकरमिलाप। फिर इस पद में है क्या? "चितवन में टोना। खंजन अरू मधुप मीन भूले मृगछौंना" "मधुर मन्द हांसी। दसन दमक दाड़िम दुति चमकै चपला सी" भोलीभाली स्वच्छ चंचल चितवन और बिजली सी भरी मधुरमन्द हंसी—भोलाभाला स्वच्छ वर्णन। सो भी मा से इष्टदेव का—हंसते खेलते मुखारविन्द का—और दौड।" छुद्रघंट किंकिनी अनूपधुनि सुहाई।" सच्ची बाललीला जो स्वप्न का दर्शन है तो अंश अंश स्पष्ट। न सपनींदा न धपला न धुंधला न अर्द्धबिस्मृत। आगे तो और भी प्रकट है।" "बसो मेरे नैनन में नंदलाल। सांवरी सूरत मोहनी मूरत नैना बने बिसाल। चाकरी के दर्शन—"मोरमुकुट पीताम्बर सोहै गल बैजन्ती माला। बृन्दाबन में धेनु चरावै मोहन मुरली वाला", मूर्त्ति की झांकी—"कुसुमल पाग केसरिया जामा ऊपर फूल हजारी। मुकुट ऊपरे छत्र बिराजे कुन्डल की छवि न्यारी।" अब बस एक पद है व्रज का "मेरो मन बसिगो गिरधरलाल सों"

यहाँ तीन शब्दचित्र हैं तीनों भिन्न भिन्न दशा के, कर्म के, थोड़े से थोड़े शब्दों में। राग में डूबे। "मोरमुकुट पीतम्बरो गल बैजन्ती माल। गउवन के संग डोलत हो जसोमति को लाल" "कालिन्दी के तीर हो कान्हा गउवां चराय। सीतल कदम की छाहियां हो कान्हा मुरली बजाय' "वृन्दावन क्रीडा करे गोपिन के साथ। सुरनरमुनिसब मोहे हो ठाकुर व्रजनाथ"। मीरा के गिरिधर गोपाल बैठे नहीं रहते। कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। गोपालन, मुरलीधुनि, रासक्रीडा। परन्तु मीरा के पास एक भी विशेषण नहीं न उपमा। लीला की स्मृति है रूप की नहीं। उसका तो कहना ही क्या? "मेरे तो गिरिधरगोपाल दूसरा न कोई। जाके सिर मोरमुकुट मेरो पति सोई" बस आगे एक भी शब्द नहीं। सूर अन्धे थे परन्तु जन्म के नहीं। उन्हों ने भी रंगीन वर्णन किए। तुलसी ने वर्णन न कर सकने के बीस कलामय बहाने किए। शत-पंचचौपाई उनके वर्णनों का मुकुट है "नीलसरोरुह नीलमणि नीलनीर-धर श्याम।" पर जब तुलसी को पकड़ कर पूछिए तो वह भी कुछ नहीं बताते। केवल एक बात बाल्यकाल की "हृदय अनुग्रह इन्दु प्रकासा। सूचित किरन मनोहर हासा" बस भक्त पर कृपामयी रामचन्द्र की चन्द्रिका। "तुलसीदास चन्दन घिसैं तिलक देत रघुबीर" साक्षात् में भी कुछ कह नहीं पाते। तिलक की लीला ही देखते हैं। मीरा भी पूरी अन्तर्मुखी हैं। अपने विषय में भी केवल 'चूवा चोला' 'कुसुम्भी सारी' कहीं है। नखशिख का यहां फेर नहीं है। गिरिधर गोपाल को विज्ञापन नहीं चाहिए। यह भक्तों के शुद्ध स्मरण हैं। आजकल की रीति नहीं।

(घ) मीरा के जो बाहरी जीवन के पद हैं उनके भी विशेष लक्षण हैं। सन्त का स्वभाव सीधी राह खरे मीठे उत्तर प्रेमभरा आचरण द्रौपदी की सी जयजयकार। इस अंश में फहरा रहा है मीरा का भगवा झंडा। अड़ी है उसकी अटल पैज। "माई म्हाने सुपने में परण गया दीनानाथ" "तू मत बरजै माइडी साधाँ दरसन जाती" "म्हारे

सिर पर सालिगराम राणाजी म्हारे कांइ करसी" "जहर का प्याला भेजियो रे दीजो मीरा हाथ। अमृत करके पीगई रे भली करेंगे दीनानाथ।" "तात मात भ्रात बन्धु आपना न कोई। छोड़ दई कुल की कान क्या करैगा कोई।" कृष्णाकुमारी ने गरल पीकर मेवाड़ को दुर्गति से बचाया। मीरा ने गरल पीकर संसार में कन्हैया की ड्योढ़ी पीटी और भारत-माता पर छत्रछाया की।

इतना पूर्णांग व्यक्तित्व संसार के किसी गीतिकाव्य मे नहीं है। एक उलटी खोपड़ी के अंगरेज़ ने इससे झल्लाकर फ्रायड के मनो विज्ञान के नशे में यह कह मारा था कि मीरा की कविता उसके वैधव्य की करामात है। मिस्टर को यह तो सपना ही नहीं हुआ था कि मीरा की भक्ति का श्रीगणेश मीरा के बाल्यकाल ही में नहीं जन्मजन्मान्तर से था। जो पूरब जनम का कौल उसे भास जाता था। परन्तु यह भासने के लिए आजकल बहुत से विज्ञान की आवश्यकता है जिसका अभी योरप ने आविष्कार नहीं कर पाया है। खैर छोड़िए उनको।

(ङ) कोरा उपदेश सन्तों का प्यारा क्षेत्र है। मीरा का नहीं। वह तो और ही ओर मस्त है यहां वह रूखी सूखी सरस्वती नहीं जो बालू में बिलाती फिरै। मीरा बच्चे बच्चे को सिखाती है कि ईश्वर इतना पास है ऐसा प्रेममय है। यह करता है। उसके पास जाओ पास रहो। जग में जीना थोड़ा है संसार चहर की बाजी है। सांझ पड़े उठ जायगी। दिया लिया संग चलैगा और चलेगी लार। भज उतरो भवपार। योग सन्यास तीर्थ व्रत आवागमन से न छुट्टी पांयगे। यम के पाश भगवान की आज्ञा ही से कटेंगे। वही चरण अगम तारण तरण हैं। प्रत्यक्ष। यमनियम के सोलह शृंगार करो सजो "पहिर सोने राखडी। सांवलिया सों प्रीत औरों सूं आखड़ी"। जो जो मीरा कभी सपने में भी न कहती एक उपदेशक महाशय ने यों उसके गले मढ़ा है। "मीरा को प्रभु सांची दासी बनाओ। झूठे

धन्धों से मेरा फन्दा छुड़ाओ। लूटे ही लेत विवेक का डेरा। बुधि बल यदपि करूं बहुतेरा। रामराम नहिं कछु बस मेरा। मरत हूँ बिवस प्रभु धाओ सबेरा। (हिन्दी भी बोल गई) धर्म उपदेश नित्यप्रति सुनती हूं। मन कुचाल से भी डरती हूँ। सदा साधु सेवा करती हूँ सुमिरण ध्यान में चित धरती हूं। भक्तिमार्ग दासी को दिखाओ। मीरा को प्रभु सांची दासी बनाओ।" यह बर्फ का पहाड़ उपदेशक जी की छाती पर कहां से आ गिरा पड़ा जो बदहज़मी के भूत सा सवार है। भक्तिमार्ग की बू से सहस्रों जोजन दूर। मीरा इस फन्दे धन्धे में कैसे फंसती?

भक्ति की पराकाष्ठा स्त्री ही के हृदय में मिलेगी पुरुष के नहीं। उतना समर्पण वही कर सकती है। इसी से मीरा के पद सूर के भी पदों से अधिक दिव्य और अन्तर्यामी हैं भारत के उन पुण्यप्रदेशों में जहां कृष्ण भगवान स्वयं बिखरे थे ब्रज द्वारका राजस्थान आदिमें मीरा का कितना प्रभाव पड़ा प्रत्यक्ष है। दूसरे पदों में न वह जीवन की चमोट है न वह विजय नाद न वह अधिकारी दीनहितकारी पुकार। वैष्णव सिद्धान्तों की ऐसी कठोर परीक्षा और ऐसी विश्वव्यापिनी विजय कहीं अन्यत्र नहीं देखी गई। मीरा जयपत्र है। मीरा विजयनाद है। कर्म ज्ञान उपासना का कर्मठ मेल ठोस सामने आया। सो भी ऊंचे से ऊंचे घराने में और सब का हृदय द्रवीभूत ही नहीं कर गया, जयजयकार से भर गया। हीरों का व्यापार हीरे की लेखनी लिख गई।

'नौकर' शब्द मुग़लों में बोला जाता है। मीरा ने अपने को 'चाकर' कहा है। इससे वह मुग़लकाल से बहुत पूर्व थी। यद्यपि कुछ मुग़ल अलाउद्दीन ख़िलजी के समय में भी थे और मुग़ल बोली के पीछे मुग़लपुरे का हत्याकांड भी हुआ था। परन्तु यह मुग़लों की स्थिति किसी प्रभावशाली रूप में नहीं थी। न उसकी राजस्थान पर तब छाह ही पड़ी थी।

मीरा संसार भर में अद्वितीय है। औलिया सूफ़ियों में यह दर्जा नहीं। इब्राहिम आदम ने बलख़ का तख़्त छोड़ फ़क़ीरी ली। हुसैन मन्सूर ने अनलहक़ (अहं ब्रह्म) रटा। उसके हाथपांव काटे गए, नाककान काटे गए, जीभ काटी गई, सूली दी गई। उसने सब हंसते हंसते सहा। उसकी सूली थी एक बार, मीरा की बार बार। दोनों वेदनाओं में वही अन्तर है जो भक्ति में निर्गुण और सगुण। निर्गुणवाला पार्थिव यन्त्रणा भोगता है सगुण वाला आध्यात्मिक यन्त्रणा। विशिष्ट यही तो लक्षण हैं। तभी पूरी सफलता होती है। निर्गुण में यह संसार गुण नहीं बदलता। सगुण में गुण बदल जाता है सर्प हार हो जाता है विष अमृत। पीर तीर सी लगती है दोनों ओर। सम्बन्ध घनिष्ट हो जाता है। और अनिष्ट का मिट जाता है जोर। बसरा की राबिया यकायक चीख़ बैठती थी दर्शन को। वह रटती थी कि पूरा जागा हुवा मन वही है जो ईश्वर को छोड़ किसी और चीज़ पर चले ही नहीं। परन्तु राबिया का संवेग नहीं बढ़ा न उसके जीवन में उसकी दासीत्व से मुक्ति को छोड़ कोई विशेष घटना ही घटी।

भारत में सौ से ऊपर स्त्रियां हुई जिन्हों ने भारत की भाषाओं में पल्ले सिरे की सरस्वती जगाई। मुक्ताबाई जनाबाई सहजोबाई दयाबाई सब पहुंची हुई थीं परन्तु हक्कारे उठि नाम सूं सक्कारे होय लीन" के अजपा जाप में और मीरा के सन्निकर्ष में आकाश पाताल का अन्तर है। यह सन्तबाणी उतनी गहरी नहीं चुभती जितनी मीरा की। न उसका लोकसमाज पर ही उतना प्रभाव पड़ा। इसी से गोपी प्रेम का भक्ति में विशिष्ट स्थान है। अव्वई (?) की दक्षिण में मंगल के दिन पूजा की जाती है परन्तु उनके चेतावनी ही के पद अधिक हैं। उनमें वह उन्मद मद नहीं। आंदाल विप्रकन्या थी। वह नवां आलवार है। उसने अपने को नारायण को अर्पण करदिया तामिल में भक्ति की मधुर नदी बहा दी। क्षीरशायी के लिए घी छोड़ा दूध छोड़ा फूल

छोड़े शृंगार छोड़ा। उत्तरमथुरा के माधव की पूजा से भूत और भविष्यत के भी पाप भस्म हो जाते हैं। तीस तीस दिन में तीन तीन बार बर्षा होती है। फूलों में मधु और गैयों में घड़ों दूध हो उठता है। यह दिन में तीनों काल पूजा करती है। बिरह के मारे उस बरदे सी है जो जुए से निकालने से दुबला पड़ गया है। जिन्हों ने तीन पैर से तीनों भुवन नापे वे कैसे बदल सकते हैं? हमारे भवन और हमारे हृदय कैसे भग्न कर सकते हैं? शंखधारी हृदय में पैठ गए फिर लोप हो गए। हे कोयल मधुर मधुर गा जिसमें वह आ मिलें। यह भक्ति अवश्य प्रखर है। परन्तु मीरा की सी प्रचंड नहीं। इसने मीरा की सी अग्नि परीक्षा नहीं दी।

अगरेज़ी में क्रिस्टिना रोज़ेटा ने धार्मिक कविता की। उसने भिन्न मत होने से पार्थिव प्रेम को तिलांजलि दे दी। सारा जीवन मा की सेवा में बिताया। आप भी रोगिणी ही सी रही। अन्त तक विवाह नहीं किया। उसकी संसारी कविताओं में तो फलफूल रागरंग की भरमार है। धार्मिक कविताएं सरल हैं और सरस। नई हिलोर से भरी। परन्तु सादी। स्वच्छन्द नहीं परन्तु अधिक नियमबद्ध। उनका संसार भी स्वप्निल ही है। सत्य ठोस नहीं। न वह उसका हृदय इतना टटोलता है। उसमें दीनता है बिनय है त्याग है। करुण है अकर्मण्य परन्तु वह उल्लास नहीं आल्हाद नहीं पलपल का भीतरी स्वाद नहीं जो सच्चे भक्त में उमड़ता है। जिसपर मिस्टिक कविता का स्वयंसिद्ध अधिकार है। वह तन्मयता नहीं जो भारतीय भक्ति की देन है। उसमें केवल मधुमय पीड़ा है और अस्फुट झंकार।

ग्रीक संसार में कोरिना आदि को छोड़ कर केवल सैफ़ो ही ऐसी हुई जिसकी भावनाएं खुलीं। उसकी कविताएं अमर चिनगारियां हैं। ज्वलन्त तेज से भरी। भोग की अनन्त आकांक्षा से अधमरी। उसने प्रेम में निराश होने पर समुद्र में कूद कर प्राण दे दिए। उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है। टापू के दृश्यों का जीता जागता फड़कता रंगभरा

वर्णन करती है। हृदय का उबाल उतना ही है जितना फ़ारसी कविता में। परन्तु यूनानी सौन्दर्य उसकी कला पर दूना जादू करता है। वह स्थिर नहीं है चंचल है बुलबुली है पते की कहती है। चित्र देती है विशेषणों की भरमार है। उसके शब्द इतने गहरे हृदय से नहीं निकले कि वह उनका ध्यान ही न धरे। कला की वह पुजारिन है और प्रेम की भी मीरा यों नहीं है। ग्रीक सुखमा की देवी अफ्रोदिती का भजन देखिए—"हे उच्च जुपिटरकन्ये, हे झलझल आसनी, हे अमृते, हे छल बुननी।" भाव सुन्दर है। स्वर्णरथ की उड़ान बाहनों के गोरे पंखों की फड़फड़ान महासुन्दर है। परन्तु उसकी प्रार्थना है कि देवी दारुण दुख से मेरी आत्मा का दमन न कर। यन्त्रणा न दे। मेरे दीवानेपन में तू सदा मेरी समवेदना करती रही है। अब मेरी महासहायक बन और घोर दुःख से मेरी रक्षा कर। यहां वह सान्निध्य नहीं वह बिरह नहीं वह प्रेम नहीं जो मीरा के रोम रोम में है। भाषा दिव्य है कला भी दिव्य। परन्तु हृदय दिव्य नहीं भावना दिव्य नहीं। अमर आदेश नहीं। वह विलास का पथ है निराशा का। सेफ़ो के चमत्कार वह मरजीये के मोती नहीं हैं जो अनमोल हों। उस बकावली के फूल नहीं हैं जो अन्धों को आंख दें। उस आत्मा का अमर वरदान नहीं हैं जिसको परलोक लोक कुछ नहीं सुहाता था। और जो सारी सृष्टि मे अपने इष्ट के साथ नृत्य करती थी। सब भेषों में सन्तुष्ट थी परन्तु जिसे क्षण भर भी कल नहीं पड़ती थी। आत्मा, महात्मा परमात्मा तीन दशाएं हैं और सैफ़ो नीची ही रही कुछ बहुत उठ नही पाई। यूनानी कला की वह अच्छी प्रतीक है। सैफ़ो और प्लेटो को मिला कर भी मीरा के लोक तक पहुंचना दुर्लभ है। केवल झोंक ही से काम नही चलता न केवल बलिदान ही से। ईसाइयों में थेरेसा की महिमा अधिक है। उसमें वैराग्य, बिरह, अनन्यता के लक्षण थे परन्तु उसका जीवन ऊंचा था साहित्य ऊंचा नहीं बन पड़ा और उसका दिव्य प्रेम भी सातवें आसमान का न कहा जायगा।

भारत के चारों कोनों में चारो धाम हैं और चार विजय। उत्तर में शंकर और व्यास की वेदान्त विजय। पूर्व में गंगा विजय। दक्षिण में लंका विजय और पश्चिम में मीरा विजय। मीरा सा व्यक्तित्व और मीरा की सी सरस्वती संसार में अन्यत्र नहीं है। यह भारत के भाग्य थे कि मीरा ने गोपियों से भी बढ़कर धर्म की साक्षी दी और दुहाई की विजय दिखाई। उसके हृदयदीप सदा जग मगाएंगे भारत को भक्ति झलझलाएंगे और गोलोक सानन्द पहुंचाएंगे।

जनम जोगिण मीरा

प्रोफ़ेसर शंभु प्रसाद बहुगुणा
एम. ए., डिप. साई., लखनऊ

"राती माती प्रेम की, विषम भगति की मोड़
राम अमल माती रहे, धन मीरा राठोड़।"

मीरा और रामतीर्थ आध्यात्मिक प्रेम की आकुलता और मस्ती के दो दिव्य स्वरूप हैं जिन्हें "शिव के तृतीय नेत्र की प्रसादी" भी कहा जा सकता है। प्रेम सौंदर्य परब्रह्म से बिलग हुई आत्मा की बिरह वेदना में खुमारी की तीव्रता अनुभूति की तन्मयता के साथ मीरा के कुरी क्रंदन में अपने चरम उत्कर्ष पर मिलती है। और अद्वैत प्रेम की दार्शनिक मस्ती रामतीर्थ के जीवन काव्य में। जायसी, कबीर के बिरह प्रेम में भवनाओं की जो मार्मिकता है, रसखान की सौन्दर्य तन्मयता में जो शान्ति है और घनानंद के बिरह काव्य में

जो छटपटहाट है वह मीरा में अपने ढंग से पाई जाती है। मीरा ने योगियों की विचार धारा, संतों की प्रणाली, वैष्णवों की सौन्दर्य प्रियता और लोक जीवन की अकृत्रिम सरलता को अपने जीवन काव्य में एक साथ समेट लिया है। उनका जीवन और काव्य इन सब का संगीती वेदान्त है और रामतीर्थ अद्वैत वेदान्त के प्रेम स्वर हैं।

सौन्दर्य और प्रेम की अनुभूति जिन प्राणों को हो जाती है वे प्रतिकूल वातावरण में विरह वेदना के स्वर पा जाते हैं। असीम सौन्दर्य अनंत प्रेम का विरही रेख भर का भी अंतर नहीं चाहता। कठिन से कठिन साधना से यदि अन्तर मिट सकता है तो वह उसे भी करने के लिये तैयार है यदि नृत्य संगीत रूप वर्णन से वह दूर होता है तो वह उसकी भी वंदना करता है। चाहे जिस युक्ति से वह मिटता हो विरही उसको प्रसन्नता से अपनाता है। वह उन युक्तियों के पारस्परिक भेद भावों की चिन्ता नहीं करता न उनको पूजता ही है। वह उन्हें काम में लाता है इसलिये कि उनके द्वारा लक्ष्य सिद्धि होती है। उसके लिये लक्ष्य सब कुछ है पूर्ण ब्रह्म भी, रस सौन्दर्य रूप गिरधर गोपाल भी राम भी, जोगी भी, सांवरिया भी, जोत भी, वह इन शब्दों के लिये नहीं लड़ता।

मीरा और रामतीर्थ इस प्रकार के विरही हैं। इसलिये उनको योगियों संतों, अथवा सगुण भक्तों की किसी एक ही सीमा में नहीं बांधा जा सकता है। वे इन सब के अंतर्गत आ जाते हैं इसलिये नहीं कि वे किसी एक ही के हैं बल्कि इसलिये कि वे सबके हैं। मीरा यदि उस गिरधर गोपाल के अलावा किसी दूसरे को अपना पति नहीं मानती जिसके सिर पर मोर मुकुट सोहता है तो उसका यह पति इतना अधिक व्यापक है कि जोगी, ब्रह्म, राम, प्रेम सब उसी के विविध नाम हैं। वह निर्गुण परब्रह्म और सगुण कृष्ण एक साथ हैं। सौन्दर्य और प्रेम सीमाओं में आकर भी असीम ही है। रामतीर्थ आकाश के झरते मेघों की

"झमा झम" गिरती बूंदों में असीम सौन्दर्य देख सकते हैं, बार बनिता की असीम सुन्दरता में "मुसब्बर की कलम" देख सकते हैं तो मीरा मेघों की गर्जना में "हरि आवन की आवाज" सुन सकती है। और मेघ गर्जना से नाचने वाले मयूरों तथा झरनों की भांति स्वयं नाच सकती है इन्द्र धनुषी रंगीन कल्पनाएं कर सकती है।"

"सावन के मेघ घिरे उर पर
इन्द्र धनुष केशों में कस कर
धुंधले नयनों वाले भूधर
बोले झरनों को आज नचा

'मीरा नाचे रे'।"

होली के रंगों की भांति वह घुल जाना चाहती है बंशी के स्वरों की भांति गूंजना चाहती है। रंगों और स्वरों से एक हो जाने की उसकी चाह योग की क्रियाओं, संतों के समागम, वैष्णवों के नृत्य संगीत अर्चना बंदना और निरंजनियों की दशधा तथा नाथों की नाद ज्योति साधना सब के बीच होती हुई असीम सौन्दर्य तक पहुंचती है। रामतीर्थ की उस दिन से आंख ही नही लगी जिस दिन से असीम सौन्दर्य से आंख लगी 'लगी न आंख जब से,' और, मीरा की आरंभिक चाह—चन्द्र कुँवर के शब्दों में यही थी:—

नैणा मोर बाण पड़ी
यदि मैं भी हंस हंस पछता पाती
सावन के मेघों से डरती
होरी में घुल घुल खिल पाती
कितनी होती इस जीवन की विरह भरी रातें
नंद नंदन पर दूर न रहती वे बंशी की बातें
'नैणा मोर बाण पड़ी।'

वह कभी नदी के शून्य तटों पर घूमती है कभी नाम वियोगिनी बन जाती है कभी स्वयं अपने विरह में असीम सौन्दर्य की विकलता शरद् के शून्य घन में देखती है कबीर की भांति उसे भी अनुभव होता है "नाम वियोगी ना जिए, जिए तो बाउर होय" असीम करुणा इस वियोग की अनन्य संगिनी बन जाती है, किसी भी करुणा पूरित शाश्वत विरही की भावना मीरा, कबीर और रामतीर्थ की अनुभूति से भिन्न नहीं हो सकती।

कल नदी के शून्य तट पर था तुम्हारा प्रिय वियोगी
शरद् के उस शून्य घन की क्या न जाने दशा होगी ?
नाम वियोगी ना जिए जिए तो बाउर होय।
कल नदी के शून्य तट पर था तुम्हारा प्रिय वियोगी।

(चन्द्र कुंवर)

गौतम ईसा और गांधी की व्यापक करुणा उन व्यक्तियों में मानव जीवन की क्रियाशीलता में व्यक्त होती है। मीरा और रामतीर्थ की करुणा भावनामय गीतों की क्रियाशीलता बनजाती है। भक्ति और करुण पूरित उनके भजन भारत के हृदय में सदैव के लिये अंकित हो गये हैं। सांसारिक वितृष्णा की कठोरता से रहित उन की करुणा है जिसमें सार्वभौम ममत्व और पारमार्थिक अनुभूति की विराट चेतना है उसके गोपी के हृदय का अबलापन, कर्मठ दार्शनिक का पुरुषार्थ, भावुक का त्कउट प्रेम, और चिन्तन शील की विरक्ति, साधक की लगन और भक्ति की प्रेम जन्य विवशता स्वाभाविक भोलेपन और मार्मिक माधुर्य की कोमलता के साथ विद्यमान है। इसी से संतों और भक्त योगियों और दार्शनिकों की चेतना तथा शब्दावली उन के प्राण स्वरों की कंपन में विद्यमान है। मीरा ने जिस (१) परम पद को अपने जीवका लक्ष्य बनाया है वह गौरव के अगम अगोचर गगन शिखर ब्रह्मरंध्र में रहने वाले बालक से भिन्न नहीं है (२) उसकी प्राप्ति के लिये सब कुछ करती है। (३) लोक लाज कुल की कानि छोड़ती है

वैभव ऐश्वर्य को छोड़ कर सरल जीवन यापन करती है। शरीर और मन से योगिनी बनती है। सतगुरु से ज्ञान की गुटकी प्राप्त करती है अपने मन जोगी को विषय वासनाओं से हटा कर उसी के ध्यान में लगाती है (४) उसी को अपनाने के लिये गंगा इड़ा यमुना पिंगला के तीर (५) सुषुम्ना में पहुंच कर मध्य रात्रि में प्रेम नदी के तीर ज्योति के दर्शन की अभिलाषा करती है।

१ तुम तनि और भतार को मन में नाहिं आनो हो।
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म हो पूरन पद दीजै हो।

२ बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महिं बालक बोलै ताको नांवध रहुगे कैसा।
(गोरख नाथ)

शून शिखरतारे घाटनी ऊपर अगम अगोचेर नाम पड़ियुरे।
बाई मीरा के प्रभु गिरधर नागर मारुं मन शामलियां शुं जड़ियुं रे।

३ (अ) धिकुटी महल में बना है झरोखा। तहाँसे झांकी लगाऊं री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊं, सुख की सेज बिछाऊं री।

(आ) श्री गिरधर आगे नाचूंगी।
नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊं, प्रेमी जन कूं जाचूंगी।
प्रेम प्रीति की बांधि घूंघरु, सुरत की कछनी काछूंगी।
लोक लाज कुल की मरजादा, यामें एक न राखूंगी।
पिव के पलंगा जा पौढूँगी, मीरा हरि रंग राचूंगी।

४ (अ) चूड़ों म्हारे तिलक अरु माला, सील बरत सिणगारों।
और सिंगार म्हारे दाय न आवै, यो गुरु ज्ञान हमारो।
चोरी न करस्यां जिव न सतास्यां, काँई करसी म्हांरो कोई
गज से उतर के खर नहिं चढ़याँ, ये तो बात न होई।

(आ) झूठा मणिक मोतिया री, झूठी जग मग जोति
झूठा सब आभूषण री, सांची पिया जी री पोति।

झूठा पाट पटंबारा रे, झूठा दिखणी चीर,
सांची पियाकि गूदड़ी, जामे निरमल रहे सरीर ।

(इ) गुदड़ी युग च्यारि तैं आई, गूदड़ी सिध साधिका चलाई
गूदड़ी में अतीत का वासा भणा गोरखनाथ मछिन्द्र का दासा

(ई) नहिं मै पीहर सासरे, नहीं पिया जी री नाथ
मीरा ने गोविन्द मिल्या जी, गुरु मिलिया रैदास ।

५ चालो मन गंगा जमना तीर
गंगा जमना निरमल पारी, सीतल होत सरीर ।

६ मीरां के प्रभु गहिर गंभीरा, सदा रहो जी धीरा ।
आधी रात प्रभु दरसण देहैं, प्रेम नदी के तीरा ।

मार्ग में बधाएं आती हैं। परिवार वालों का अभिजात्य गर्व उसे संत मार्ग पर जाने से रोकना चाहते है। सास कहती है।

बाल सनेही गोबिंदो, साध, सन्तां को काम
थे बेटी राठोड़ की, थनि राज दियो भगवान ॥
लाजै पीहर सासरो, माइतणो सोसाल
सब ही लाजै मेड़तिया जी, थासूं बुरा कहै संसार ॥

किन्तु जिस का जन्म जन्म का सोया मन सतगुरु के शब्द सुन कर जग गया जिसको पूर्व जन्म के गिरधर मिल गये थे, जिस का सुहाग स्वप्न में उसे परण कर वे अचल कर गये थे, जो समझ गई थी 'भजन बिना नर फीको', जिसे राम की खुमारी में ही आनन्द मिलता था जिसने 'खलक के गिर खाक' डाल कर अपना सच्चा घर जान लिया था, जिसे वे संत रैदास मिल चुके थे जिसको सतगुरु ने सुरत की सहदानी दी थी वह मृत लोक में रहना कब पसंद कर सकती है उसे 'अमर लोक में रहना' ही भावेगा। जो गज पर चढ़ चुका है वह उतर कर गधे पर क्यों चढ़ने लगा, वह जेठ बहू की कान क्यों मानने लगी। क्यों ऐसे को परणे जो

जनम लेकर मर भी जा सकता है। वह जानती है सब वस्तुएं नष्ट हो जायंगी केवल अविनासी ही अटल रहेगा :

चंदा जायगा सूरिज जायगा, जायगी धरणि अकासी
पवन[1] पाणी[2] दोनुं ही जायँगे, अटल रहे अविनासी।

इसलिये वह सुरत निरत का दिवला संजोती है, मनसा को बाती बनाती है और प्रेम हटी का तेल उस में उड़ेल कर रात दिन उस दीपक को चैतन्य रखती है। साधुओं को माता पिता समझती है।[3] कुटुम्ब का सम्बन्ध तागे की तरह तोड़ देती है। घर के घेरे के अन्दर बोल सहती है, बिष पीती है, पर आंसुओं के जल से सींच सींच कर प्रेम की बेल को बढ़ाती है क्योंकि वह जानती है उसका फल आनन्द होगा। माता पिता ने उसे बचपन में ही श्याम को दे दिया था। वह बालापन के ही नहीं जन्म जन्म के सुख दुख के साथी को कैसे छोड़ सकती। मायका[4] छोड़ सकती है पीहर छोड़ सकती है पर अपने प्राणों के प्राण को नहीं छोड़ सकती।

इस लिये वह जगत से विमुख होकर हरि की ओर बढ़ती है। सारा श्रृंगार ही अगम के देश जाने वाला कर लेती है।

चलो अगम के देस, काल देखत डरै
वहां भरा प्रेम का हौज, हंस केल्यां करै
ओढण लज्जा चीर, धीरज कर घांघरो
छिमता कांकण हाथ, सुमित को मूंदरो।
दिल दुलड़ी दरियाव, सांच को दोवड़ो,

---

१. प्राण पुरुष

२. माया

३. साधु मात पिता कुल मेरे, सजन सनेही ज्ञानी।
संत चरण की सरण रैन दिन, सत कहत हूं बानी।

४. नहिं मै पीहर सासरे, नहीं पिया जी की साथ।
मीरां ने गोबिन्द मिल्या जी, गुरु मिलिया रैदास।

उबटण गुरु को ज्ञान, ध्यान को धोवणो
कान अखाटो ज्ञांन, युगत को झूटणो
बेसर हरि को नाम, चूड़ो चित ऊजलो
जीहर सील संतोष, निरत को घूंघरो[1]
बिंदुली गज और हार, तिलक गुरु ज्ञान को
सज सोलह सिणगार, पहरि सोने राखड़ी
सांवलिया सूं प्रीति, औरों सूं आखड़ी।

जिस ने इस प्रकार योगिनी का मन बना लिया है उसका शरीर भी योगियों के रूप का बन जाता है।

योगियों के इस रूप को अपनाने में, 'हिंदवाणों के सूरज' के घर का सांसारिक गौरव उनकी नजरों में घट रहा था मीरा की ननद ऊदा तरह तरह से संतों की संगत में रह कर नाचना छुड़ाना चाहती है किन्तु उसके सब प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं। ऊदा थक कर कहती है।

थाने बरज बरज मैं हारी, भाभी, मानो बात हमारी।
राणे रोस कियो थां ऊपर, साधों में मत जारी।
कुल को दाग लगे छै भाभी, निंदा हो रही भारी।
साधों रे संग वन वन भटको, लाज गमाई सारी।
बड़ा घरते जन्म लियो छै, नाचो दे दे तारी।
बर पायो हिंदवाणों सूरज, थे कांई मन धारी।
साधों की संगत दुख भारी, मानो बात हमारी।
छापा तिलक गल हार उतारो, पहिरो हार हजारी।
रतन जड़ित पहिरो आभूषण, भोगो भोग अपारी
मीराजी थे चलो महल में, थांने सोगन म्हारी।

---

1. निरति निः शेष रति के ये घूंघरू हैं जिन्हें पांवों में बांध कर मीरा नाचती है "पग घूंघरू बांध मीरा नाची रे।"

पर संतों का रंग जिस पर गहरा चढ़ गया था वह मीरा, अपनी ननद ऊदा को अडिग उतर देती है:

राणा ने समझावो जावो, मैं तो बात न मानी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, संतां हाथ बिकानी।

... ...

भाव भगत भूषण सजे, शील संतों सिंगार,
ओढ़ी चूनर प्रेम की, गिरधर जी भरतार।
ऊदाबाई मन समझ, जावो अपने धाम,
राज पाट भोगो तुम्हीं, हमैं न तासूं काम।

मीरा के पदों में ऐसे भी पद हैं जिन में दयाराम पंड्या के राणा के विष भेजने, किसी दासी के हाथ घर से निकल जाने का पत्र राणा से आने, और राणा का मीरा के मारने के लिये सांप, सूली तथा तलवार आदि से सिर काटने के उद्योगों का वर्णन है। साथ ही दो एक भजन ऐसे भी आते हैं जिनमें मीरा कहती है।

राणा जी रे दूदा जी नी बाई मीरा बोलियो रे
संतों नो अपरापुर बास, बीजा नरक नी खाणरे।
झांझ पखावज वेणु बाजुआं, झालर नो झलकार
काशी नगर या चोक मा मने गुरु मल्या रोहीदास [१]

मीरा पदावली में तथा अन्यत्र बिखरे मीरा के भजनों को यदि राग रागिनियों की दृष्टि से देखा जाय और इस बात के लिये भी गुंजायश रहने दी जाय कि संगीतज्ञ भजनों को पीछे भी राग रागिनियों में रख सकते हैं, तो पता चलता है कि मीरा के भजनों में बहुलता के घटते क्रम से सत्तर के करीब राग मिलते हैं और पीलू मीरा का सबसे प्रिय राग है। श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित मीरा पदावली में ही, नौबार पीलू आया है। बाकी राग सारंग, प्रभाती, देस, सोरठ, मलार,

---

१. यह पद जीवन भक्त के नाम से भी मिलता है।

पहाड़ी, हमीर, हौला, बिहाग, धानी, परज, बिलावल, कान्हरा, दरबारी, पद्मंजरी, भैरवी, मांड, मालकोस, रामकली, नीलाम्बरी, बिहागरा, सावन, सिंध भैरवी, कजरी, कनाडी, कालिंगड़ा, खंभाती, तिलंग, गुनकली, गूजरी, पूर्वी, गौड़ी, छायानट, छाटना, टोड़ी, जै जै वन्ती, तिलंग, दुर्गा, धन श्री, पूरिया धन श्री, धमार, नट बिलावल, प्रभावती, पीलू बरवां, बागेश्वरी, भीमपलासी, मारू, हंसनारायण, त्रिवेणी, मारवा, लावनी, श्री, होली सिंदूरा और ललित आदि हैं।

क्या मीरा ने संगीत की शिक्षा पाई थी ? पढ़ी लिखी वह अवश्य थी पिय की पाती लिखने का उल्लेख उसके भजनों में है। यदि पाई थी तो कहां किससे ? भक्ति की सीख तो माता पिता के यहां मेड़ता में ही अपने राठौर घर में उसने पाई थी। दूदा जी की बाई यदि वह थी तो दूदा जी बड़े वैष्णव भक्त थे। संतों का भी आदर करते थे। कोई साधू पिता के घर में ही मीरा को गिरधर गोपाल की मूर्ति दे गया था। क्या यह साधू रैदास ही तो नहीं था ? नृत्य की शिक्षा मीरा ने कहां पाई ? और मीरा के भजनों में पीलू राग सब से अधिक क्यों पाया जाता है ?

संगीतज्ञों का कहना है कि "प्रत्येक राग में कोई न कोई रस अंतर्निहित रहता है। यहां तक कि प्रत्येक स्वर किसी न किसी राग का व्यंजक है। कोमल रिशभ[1] में वैराग्य है, कोमल धैवत में कारुण्य। राग स्वरों से ही बनता है। इसलिये राग में रस होना स्वाभाविक है। बागेश्वरी के स्वरों में करुण का प्रवाह उमड़ पड़ता

---

१. लोगों की दृष्टि में "ऋषभ" वर्ण विन्यास 'इस' शब्द का होना चाहिए मुझे आपत्ति इसलिए है कि हिन्दी का यह दावा है कि हम जो कुछ कहते हैं वर्णमाला में वही लिखते हैं। यदि दावा सही है तो वर्ण विन्यास 'रिशभ' ही होगा 'ऋषभ' नहीं (शंभुप्रसाद)।

है, यद्यपि पीलू में भी करुण रस ही है; फिर भी दोनों के कारुण्य में अन्तर है। बागेश्वरी के कारुण्य में विनय और आत्म समर्पण की ठंडी आह है। पीलू के कारुण्य में वेदना के गंभीर आंसू हैं। बागेश्वरी में सिसक है पीलू में क्रन्दन है। बागेश्वरी के कारुण्य में धैर्य्य और आश्वासन का आभास है पीलू के कारुण्य में अधीरता और व्याकुलता की झलक (श्री कुसुम गुप्ता)।"

मीरा के जीवन की करुणा में अधीरता, व्याकुलता, क्रन्दन और वेदना के गंभीर आंसू हैं इसलिये पीलू उन का प्रिय राग स्वत: हो जावेगा।

ऊपर जिन भजनों का उल्लेख किया गया है यदि वे मीरा के ही हैं तो उनसे मीरा के सम्बन्ध में इतनी बातें ज्ञात होती हैं:

मीरा मेड़ता के उच्च राठौर वंश के राव दूदा की बाई (पुत्री) थीं। बचपन से माता पिता ने उसे कृष्ण भक्ति की सीख दी थी उसे बताया था कि कृष्ण तुम्हारा वर है। उस का विवाह सीसौदिया वंश में हुआ था। हिन्दूओं का सूरज उस का पति था उस के जेठ भी थे बहू भी थी। सास थी। ननद ऊदाबाई थी। पिय के रहते रहते ही मीरा संतों को माता पिता मानने लगी थी। रैदास की शिष्या हो गई थी। संतों की मंडली में बन बन भटकती थी बाल गोविन्द की पूजा करती थी। राजसी वैभव को तिलाजंलि देकर तिलक छापा गूदड़ी धारण करती थी। सात्विक योगी जीवन उसे भाता था। संतों की मंडली में वह करताल लेकर नाचती थी। कुल बदनाम हो रहा है इसलिये राणा उस से अप्रसन्न थे, उस को मारने का उद्योग करते हैं विष भेजते हैं विष का प्याला दया राम पंड्या लाता हैं। सांप भेजते हैं तलवार उठाते मैं सूली पर चढ़ाने का आदेश देते हैं पर मीरा अडिग रहती है। योग मार्ग का चिन्तन करती है सात्विक जीवन अपनाती है और शायद अंत में वह किसी नदी में आधी रात को धकेल दी जाती है जहीं कोई साधू उसकी

रक्षा करता है। अर्ध रात्रि में उसे ज्योति के दर्शन होते हैं। मीरा ने कदाचित काशी, प्रयाग, वृन्दावन और रणछोर की भी यात्रा की थी। संगीत, नृत्य, और काव्य की शिक्षा उसने पाई थी। लिखना पढ़ना भी वह जानती थी। वह संगीतज्ञ, नृत्य निरत, प्रेम योगिनी, संत और उच्च कोटि की भक्तिन थी।

अब इस सामग्री को ध्यान में रखते हुए यदि मीरा के ऐतिहासिक काल की ओर ध्यान जाता है तो दिखालाई देता है वह ईसा की पन्द्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में थीं। दूदा जी का समय १४४० ई० से १५१५ ई० तक माना जाता है। १४६१-६२ ई० के आसपास इन्होंने नया मेड़ता बसाया था।

१, नाभा दास के भक्त माल और उसकी प्रियादास की टीका को ध्यान में रखकर बीठलदास का मीरा के गुरु होने की संभावना भी लोग देखते हैं। बीठलदास का जो विवरण अन्य ग्रन्थों से मिलता है वह इतना ही बतलाता है कि बीठलदास माथुर चौबे थे। इनके पिता राणा के पुरोहित थे। बिठलदास राग रंग नृत्य तथा भजनीकों के प्रेमी थे। राणा के यहां भी भजन तथा नृत्य कर एक रात बेहोशे हो गये, तीन दिन तक बेहोश रहे। मथुरा की यात्रा इन्होंने की वहां अपने सगोतियों में भक्ति की दुर्दशा देखकर वापिस लौट गये। हरि सम्मुख नृत्य करती एक नटिनी पर रीझ कर इन्होंने उसे अपना सर्वस्व दिया, पुत्र रंगीराम भी। परम गुरु राणा की कन्या ने इन्हें अपने यहां बुलाने का प्रयत्न किया। बिठलदास ने उसे भी अपता नृत्य दिखाया। नर्तकी भी आश्चर्य चकित रह गई।

(इस विवरण से यह स्पष्ट नहीं होता कि यह राणा कौन थे तथा यह कन्या कौन थी।) लेखक

जेठ बहू की काण न मानूं
हैं घूंघट पड़ गई पटकी। [१]

श्री विशेश्वरनाथ जी रेऊ का अनुमान है कि नये मेड़ता के बसने के बाद ही उन का वंश मेड़तिया कहलाया होगा इसलिये मीरा का जन्म इस सन के बाद ही हो सकता है। किन्तु दूदा जी ने नया मेड़ता बसाया! मेड़ता नहीं। मेड़ता का प्राचीन नाम मानधातृ पुर बताया जाता है और लोग उसे मलधाता का बसाया हुआ बतलाते हैं। शिलालेखों में मेदंतक नाम मिलता है। फिर नये मेड़ता के बसने से पहिले मीरा का जन्म मानने में कठिनाई नहीं आती। मेड़ता में बस जाने के बाद मीरा का विवाह सीसौदिया राणा से हो सकता है जहां सास उसे मेड़तणी जी कह कर संबोधित कर सकती हैं। इसलिये १४६१ से पहिले मीरा का जन्म हो सकता है और उसके उपरान्त या उस से पहिले भी विवाह हो सकता है।

ऊदाबाई कौन है ठीक ठीक रूप से इतिहास हमें नहीं बतलाता। मीरा के भजनों में वह मीरा की ननद हैं और सीसौदिया वंश की है। हो सकता है वह राजा ऊदा उदयकर्ण (राज्यकाल १४६८ से १४७३) की बहिन और राणा कुंभा (जन्म १४१६ राज्यकाल १४३३ से १४६८ ई०) की पुत्री हो। रायमल ने ग्यारह व्याह किये थे जिन से चौदह लड़के और दो लड़कियां दामोदर कुंवर, हर कुंवर हुई थीं। लड़कों में सब से प्रसिद्ध राणा सांगा (जन्म १२ अप्रेल १४८२ ई० मृत्यु ३१ जनवरी १५२८ ई०) काल्पी में हुये। सांगा के चार लड़कियां कुंवर बाई, गंगाबाई, पद्मावाई, राजबाई हुईं। और लड़के सात १ राजाभोज (आधुनिक इतिहास लेखक इन्हीं भोज को मीरा का पति मानते हैं) २ रतनसिंह द्वितीय ३ बिक्रमादित्य ४ उदयसिंह द्वितीय १५२६ से १५४३, ५ कर्णसिंह, ६ पर्वतसिंह और कृष्णसिंह हुए। उदयसिंह द्वितीय के पुत्र महाराणा प्रताप हुए जो हल्दी घाटी के युद्ध के नेता हैं।

यदि ऊदाबाई ऊदा की बहिन हों और उदयसिंह मीरा

के जेठ माने जांय तो मीरा का रायमल की पत्नी होना अधिक संभव है।[1]

मीरा रैदास को अपना गुरु बतलाती है। रैदास, कबीर के गुरु थे। कबीर का अन्त रैदास के सामने ही हो चुका था और इतिहास तथा अनुश्रुति

निरगुण का गुन देखी आई
देही सहित कबीर सिधाई।

*   *   *

चारिउ वेद किया खंडौति
जन रैदास करै डंडौति।

की छान बीन से कबीर की निधनतिथि १४४८ ई० ठहरती है लोग १५१८ ई० तक भी कबीर को जीवित मानते हैं, इसलिये १४४८ या १५१८ ई० के बाद तक रैदास जीवित थे। रैदास के कुछ पदों पर तुलसी के मानस और दोहावली की छाया पड़ी है। इस से रैदास का १५७६ ई० के बाद तक जीवित रहना माना जा सकता है।

रैदास का उल्लेख नाभादास ने (१५४३ ई० से १६२३ ई०) अपने भक्तमाल (रचनाकाल १५८५ से १६२३ ई०) में किया है। भक्त माल में मीरा का भी उल्लेख है। नाभा के शिष्य अग्रदास १५७५ ई० में थे जो आगरे में बल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ गये।

---

१. श्री महावीर सिंह गहलौत ने इस विषय में अपनी पुस्तक मीरा जीवन और काव्य पृ० २४ में लिखा है "इतिहास से जान पड़ता है कि ईडर के राव सूर्यमल के पुत्र रायमल जब अपने चाचा भीम के डर से सिंहासन छोड़ कर राणा सांगा की शरण में आये तब रायमल की सगाई राणा ने अपनी पुत्री से कर दी। भीम के पश्चात भारमल गद्दी पर बैठा जिसे वि० संवत १५७१ (ई० १५१४ सन्) में रायमल ने राणा सांगा की सहायता से उतार दियो और स्वयं राजा बना। इन्हीं ईडर के राव रायमल की पत्नी ऊदा, मीरा की ननद थी।

अग्रदास के शिष्य अनंत दास ने १५८८ में नामदेव, कबीर, रैदास, पीपा आदि संतों की परची लिखी। भक्त माल और इस परची को ध्यान में रखते हुये कहा जा सकता है कि १५७७ ई० के आसपास रैदास ने अपना शरीर छोड़ा होगा। अनुश्रुति चलती है की रैदास ने १३० वर्ष की आयु भोगी थी। यदि वह ठीक हो तो रैदास का समय लगभग १४४७ से १५७७ ई० तक अनुमानतः माना जा सकता है।

मीरा का उल्लेख नाभा के भक्त माल (१५८५—१६२३ ई०) से भी पहिले हरिराम व्यास जन्म १४८४, वृन्दावन बास १५१५, रचनाकाल १५६३ ई० की वाणी में हुआ है। 'सूर के बिना अब कौन पद रचना कर सकता है' सूचना देता है कि वाणी की रचना सूरदास की मृत्यु १५७३—८३ के हाने पर ही हुई। इसी वाणी में हितहरिवंश १४७३—१५०२ ई० जन्म, १५२५—२८ राधावल्लभी संप्रदाय, १५७० मृत्यु, स्वामी हरिदास जन्म १४८४, सन्यास १५१०, मृत्यु १५७०, परमानंददास जन्म १४६३, दीक्षा १५२०, मृत्यु १५८३, कृष्णदास जन्म १४६७, शिष्य १५१०, मृत्यु १५७८—८० और जैमल जन्म १५०७, मृत्यु १५६८ का भी उल्लेख है।

भक्त हरिदास का एक पद प्रोफेसर नरोत्तम स्वामी ने 'राजस्थानी' के १९३९ ई० के जनवरी के अंक पृष्ठ ३८ में प्रकाशित किया है जो मेड़तणी मीरा को चितौड़ के राजा भोजराज की पत्नी बतलाता है, पद इस प्रकार है ......

एक राणी चित्तौड़ की,
मेड़तणी निज भगति कुमावैं भोजराई जी का जोड़ा की।
हिमरू मिसरू साल दुसाला बैंठण गादी मोढा की।
असा सुख छाडि भयी बैरागिणी सादी नरपति जोड़ा की
साइण बाह्मण रथ पालकी कमी न हसती घोड़ा की।

---

१ महावीर सिंह गहलौत मीरा जीवनी और काव्य पृ० २१ पाद टिप्पणी।

सब सुख छाड़ि छनक में चलती लाली लगायी रण छोड़ा की।
ताल बजावै गोविन्द गुण गाव लाज तजी बड़ रहोड़ा की।
निरति करे नीका छोड़ नाचै भगति कुमावे बाई चौड़ा की,
नवां नवां भोजन भांति भांति का करि हैं सार रेणाडा की।
करि करि भोजन साध जिमावै भाजी करत गिदोड़ा की।
मन धन सिर सांधा के अरपण प्रीति नहीं मा थोड़ा की।
हरिदास मीरां बड़ भागाणे सब राण्यां सिरमोड़ा की।

इस पद से मीरा के विषय में यही मालूम होता है कि वे राजसी वैभव छोड़ कर हरि भजन और सत संगति में लीन रहने वाली थी। संतों का सत्कार स्वयं, उन्हें भोजन बना, परोस जिमा कर, कर सकती थी। रण छोड़ के अनुराग में रंग जाने से वह वंश गौरव को छोड़ कर करताल वजा कर नीका (१) नृत्य करती थी। मन धन उसने साधुओं की सेवा में अर्पित कर दिया था। वह चितौड़ के भोज राज की पत्नी थी इस बात पर हरीदास के कथन का बल उतना नहीं है जितना इस बात पर कि उच्च वंश का गौरव छोड़ कर साधु सेवा करने पर।

ऐसे भी ताम्र पत्र बतलाये जाते हैं जिन का सम्बन्ध मीरा से कहा जाता है। कहा जाता है कि मीरा ने बाल्यकाल में अपने पुरोहित गजाधर से पुराण इत्यादि सुने थे। और विवाह हो जाने पर वे उसे चितौड़ ले गईं जहां उन्हें मुरलीधर के मंदिर की पूजा सौंपी और व्यास की उपाधि के साथ साथ एक हजार बीघा भूमि भी दान दी जो आज भी गजाधर के वंशज भोग रहे हैं।

इस बात की पुष्टि अभी अन्य सामग्री से नहीं हुई है। और न ताम्र पत्र ही मेरे देखने में आया है।

वल्लभ संप्रदाय के ग्रन्थों जिनके अन्तर्गत नाभा के भक्तमाल की-चैतन्य संप्रदायी प्रियादस कृत टीका (रचनाकाल १६५५) को देखें तो मीरा बाई की देवरानी अजब कुमारी मिलती हैं और जयमल १५०७—१५६८ ई०, उन के भाई के रूप में और हरिदास १४८४,—१५७० गुरु

के रूप में मिलते हैं। बल्लभाचार्य १४७२—१५३२ और बिठलनाथ १५१५—१५८५ ई० की वह समकालीन दिखलाई देती हैं। कृष्णदास १४६७ १५८० ई०, १५२५ ई० में उन के गांव में दुवारका के पास उनसे मिले ऐसा पता लगता है। प्रियादास ने अकबर १५४२—१६०५, और गोस्वामीजी का मीरा के संपर्क में आना लिखा है। और अनुश्रुति तुलसीदास जी से पत्र व्यवहार करवाती है जिसके उत्तर में विनयावली और कवितावली से कवितायें भेजी गई बताई जाती हैं। कवितावली और विनयावली दोनों ही १५७६ ई० के बाद की रचनाएं हैं। विनयावली तो अन्तिम दिनों की है।

इन अकबर कालीन घटनाओं का मेल बिठलाने के लिये ही कदाचित सीताराम शरणभगवान प्रसाद मीरा का अवसानकाल १५८८ ई० तक ले गये हैं और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र १५६३—७३ के बीच। लाला कन्नोमल ने १४६६ से १५६३ ई० तक मीरा की जीवन अवधि मानी।

उधर पन्द्रहवीं शताब्दी में मीरा को मानने वाले लोग मीरा का जन्म १४०३ ई० में और अवसान १४७० ई० में मानते हैं आधुनिक इतिहास मीरा को कुड़की गांव के रत्नसिंह की इकलौती बेटी और भोजराज की पत्नी बतलाता है १४६६ से १५०३ के बीच मीरा का जन्म, १५१५—१५१६ में विवाह १५२३ से २८ के बीच वैधव्य १५३३ ई० के आस पास मेवाड़ त्यागना, १५३३ से १५३८ तक मेड़ता में रहना १५३८ से १५४३ तक वृन्दावन में रहना, १५४३ से १५४५—४६ तक द्वारका में रहना और १५४६—४७ में मृत्यु बतलाता है।

टाड ने मीरा को कुंभ की स्त्री, और दूदा की पुत्री मानते हुए उनका समय १४१८ से १४६८ ई० के बीच बताया था।

इस प्रकार मीरा के जीवन की एक सीमा १४०३ ई० और

दूसरी १५८८ ई० को छूरही है। इन दो सीमाओं के बीच ही अनेक लोगों ने अपने अपने अनुमान से मीरा का समय निश्चित किया है।

आधुनिक इतिहास मीरा को ही नहीं नरसिंह मेहता को भी सोलहवीं शताब्दी में बतला रहा है। पहले नरसिंह मेहता का समय १४१५ ई० से १४८१ ई० तक माना जाता था अब १५०० ई० से १५८० ई० तक माना जाता है। मीरा के नाम से नरसिंह का माहेरू मिलता है और नरसिंह मेहता की कविता में मीरा का उल्लेख मिलता है।

गुजराती भाषा के कुछ विद्वान आज भी मीरा और नरसिंह को १५ वीं शताब्दी में मानते हैं। दक्षिण के इतिहास और पुरातत्व के विद्वान मीरा को कुंभ की ही पत्नी मानते हैं।

टाड के इस कथन का खंडन कि मीरा कुंभा की पत्नी थीं सब से पहले डाक्टर स्ट्रेटन ने अपने ग्रन्थ "चित्तौड़ एंड दी मेवाड़ फेमिली" में किया। उनके बाद हरविलास शारदा, कवि श्यामलदास मुंशी देवीप्रसाद, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, विश्वेशर नाथ रेऊ तथा जगदीश सिंह गहलौत तथा नरोत्तम स्वामी आदि ने किया। ग्रियर्सन को छोड़कर जो कि मीरा को विद्यापति का समकालीन मानते थे अंगरेज तथा बंगाल के विद्वान मीरा को १६ वीं शताब्दी में मानते हैं।

आधुनिक इतिहास मीरा का जो जीवन बतलाता है वह मीरा के नाम से मिलने वाले काव्य को नहीं सुलझा सकता है, न अनुश्रुतियों का ही समाधान कर पाता है। उसका भवन खंडन तर्क पर टिका है अपने पक्ष के समर्थन में प्रमाण नहीं देता बल्कि अनुश्रुति का भी सहारा ले लेता है। यह इतिहास मीरा को थोड़े ही काल में विधवा बना देता है। मीरा के माता पिता को बचपन में ही मार देता है। मीरा के काव्य में वैधव्य की छाया भी कहीं नहीं पड़ी है न माता पिता की मृत्यु की ही वेदना है। परन्तु तो

प्रीतम प्यारो, अखंड सौभाग्य मारो, रांडवानो भेटाल्योरे, तथा बाई अमे बल कुंवारा रे, आदि उल्लेख उलटवासियों जैसे प्रयोग हैं और कृष्णदास का मीरा को रांड कहना भी मीरा के वैधव्य का सूचक नहीं माना जा सकता वह गाली की तौर पर कहा गया शब्द है। मीरा अपनी भौतिक यातनाओं का वर्णन करती हैं वैधव्य का नहीं। मीरा अपने जेठ का उल्लेख करती हैं। इतिहास में भोज से बड़ी बहिने मिलती हैं। भाई नहीं। मीरा के काव्य में ननद का नाम ऊदाबाई मिलता है। इतिहास उस के बारे में मौन हो जाता है। मीरा अपने गुरु का नाम रैदास बतलाती हैं अपने को दूदा की बाई कहती हैं इतिहास इसका उत्तर नहीं देता। मीरा ने संगीत नृत्य की शिक्षा कहीं पाई थी, इस प्रश्न का भी उत्तर आधुनिक इतिहास नहीं दे पाता।

इन प्रश्नों का उत्तर मीरा को पंद्रहवीं शताब्दी में मानने और टॉड के कथन की मीरा के काव्य के बीच जांच करने से बहुत कुछ मिल जाता है और बल्लभ संप्रदायी अनुश्रुतियों को छोड़कर शेष अनुश्रुतियां भी साथ देती हैं। यद्यपि मीरा के काव्य के प्रामाणिक संस्करण तैयार होने के पहले काव्य के आधार पर बना हुआ मीरा का जीवन भी त्रुटिपूर्ण ही होगा किन्तु तब तक के लिये जो कुछ है उसी त्रुटिपूर्ण को आधार मान कर हमें इतिहास में उसका समाधान ढंढने का यत्न करना हैं।

मीरा को दूदा जी की लड़की टॉड ने भी माना है। उन्हें रायमल की पत्नी के रूप में यदि माने तो रैदास उनके गुरु हो सकते हैं जेठ उदयकर्ण और ननद ऊदाबाई मिल जाती हैं। मीरा जल्दी ही विधवा भी नहीं होतीं और यदि मैकोलिफ १५७७ ई० में भक्तमाल की भाली (?) रानी का रैदास की शिष्या बनना मीरा के साथ न देखकर—क्योंकि मैकोलिफ ने मीरा का जन्म १४९९ से

१५०४ के बीच माना है संग्रामसिंह की माता रत्नकुंवरी के साथ भी देखें तो वह भी ठीक बैठ जाता है। साथ ही कुंभा की पुत्र-वधू मीरा है, मालूम होने से इस बात का भी कुछ भेद मिल जाता है कि संगीत नृत्य की निपुणता उसे कुंभ के घर में मिल सकती है। और यदि टाड की ही बात को स्वीकार करते हैं कि मीरा राणा कुंभा १४१६—१४३३, (१३६८ ई०) की पत्नी थीं, तो संगीत नृत्य काव्य रस शिक्षा का तथा कुंभस्वामी और आदिवाराह के मंदिरों का मीरा के मंदिर कहलाने तथा भवानी पूजा के लिये बधू मीरा को सास के बाध्य करने का कारण भी विदित हो जाता है।

ओझा जी बतलाते हैं कि आदिवराह और कुंभस्वामी के मंदिर पर प्रशस्तियां क्रमशः इस प्रकार हैं।

१. अकारयच्चादिवराह गेह मौकधा श्री रमणस्य मूर्ति :।
२. कुंभ स्वामिन आलयं व्यचयच्छी कुंभ कर्णो नृप:
'वर्षे पंचदशे शते व्यपगते सप्ताधिके कार्तिक'।
स्याद्यानंगतिथौ नवीन विशिषां खां श्री चित्रकुट व्यधात।

रणकुंभा, भवानी, एकलिंग कुंभस्वामी, आदिवराह के उपासक तो थे ही किन्तु सब से बड़े उपासक थे वे सरस्वती की वीणा के, संगीत के मीमांसा दर्शन के अनुयायी होने पर भी छंद अलंकार, रस, नृत्य, संगीत का गहरा अध्ययन और अभ्यास उन्होनें किया था। अनूपदेवी जैसी पत्नी से रायमल जैसा पुत्र उन्हें मिला था। एकलिंग और भवनी के वे उपासक भर नहीं थे। उन पर एकलिंगाश्रण काव्य ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा इसी 'तरह कुंभ स्वामी मंद्वार' उनका ग्रंथ कुंभ स्वामी के विषय में है। संगीत रत्नाकर और जयदेव के गीत गोविन्द की श्रद्धा के साथ टीका ही नहीं की वलिक उनकी कमियों को दूर भी किया। संगीत पर, संगीत प्रदीपका, और 'संगीत सुधा' ग्रन्थ उन्होंने लिखे, गीत गोविन्द की अष्ट पदियों के संगीत की कमियां उन्हें मिली थीं और उन्हें उन्होंने नये ढंग से व्यवस्थित किया था। [१] काव्यशास्त्र

पर रसिक प्रिया ग्रन्थ उन्होंने लिखा। किन्तु उनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है 'संगीत राज' जिस का दूसरा नाम 'संगीत मीमांसा' भी है।

'संगीत राज' की रचना १४४० ई० के लगभग हुई। 'संगीत राज' गाने बजाने की विद्या का साधारण ग्रन्थ नहीं है वह सोलह हजार श्लोकों का ऐसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें नाट्य शास्त्र, नाट्य कला, स्वर गायन, वाद्य विज्ञान, प्रसाधन वेश भूषा, नृत्य अभिनय, नायक नायिका और भाव, रस आदि का गंभीर विवेचन है। गीत गोविन्द की टीका में आये उद्धरण से पता चलता है कि उसमें शायद छंदशास्त्र पर भी कोई रत्न कोष रहा होगा......

"शिखरिणी छन्दः तल्लक्षणं संगीत राजे
रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी"

आंशिक रूप में यह ग्रन्थ आज भी मिलता है।

गीत गोविन्द की टीका से केवल इतना ही पता नहीं चलता कि कुंभ वासुदेव कृष्ण को भी हृदय से अपनाते थे बल्कि यह भी पता चलता है कि कुँभ को अपने काव्य कौशल का जागरूक ज्ञान भी था। जयदेव की भांति वे भी कहते हैं।

पदवाक्य प्रमाणाख्य त्रिसरित्संग मश्रिया।
कुंभ कर्ण गिरां यागः न स्यादिष्टार्थदः कथम्।

और इसे कुँभ की गर्वोक्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि संगीत राज के कारण विद्वमंडली ने उन्हें अभिनव भरताचार्य तथा 'मूर्तिमन्नाद' की उपाधियों से विभूषित किया था।

अभिनव भरताचार्य और "मूर्तिमन्नाद" का निवास जिस घर में हो जहां जयदेव की अष्टपदी संगीत की नई स्वर लहरियों के साथ वायु मंडल को गुँजा रही हो, उस घर में आई बचपन से कृष्ण भक्ति से प्रेम रखने वाली मीरा संगीत नृत्य और जयदेव के प्रभाव से अछूती रह जाय?[१] राजमल तथा दूसरे लोगों को मीरा

---

१. "श्री गोविन्द पदारविन्द मकरंद चंचद्विरेकेण हृदीश परं वासुदेवं निधते १

का स्त्री होने के कारण नाचना गाना पसंद न आता हो, सास अनूपदेवी उन्हें गौरजा की पूजा करते देखना चाहती हों किन्तु कुँभ को उनके इस कला के प्रेमसे कभी अप्रन्नता हुई होगी नहीं माना जा सकता। और घर वाले भी तब तक तो अप्रसन्न न हुए होंगे जब तक मीरा का संगीत नृत्य घर में ही चलता रहा होगा किन्तु जब संगीत के साथ संतों का योग भी आ मिला, रैदास का ज्ञान उपदेश उसे मिल गया और वह घर के बाहर भी संत मंडलियों में तथा मंदिरों में अपनी सुध बुध खो कर नृत्य करने लगी होगी तभी राज परिवार अपनी बदनामी से त्रस्त होकर मीरा को ऐसा करने से रोकने लगा होगा। मनाने पर भी न मानने पर राणा का रोष उस पर बढ़ा होगा और उसे मारने का उद्योग चला होगा और उसे घर से निकाल दिया गया होगा। तभी वह वृन्दाबन द्वारका आदि गई होगी। आश्चर्य नहीं प्रयाग और काशी भी गई हो।

घर वालों की जो बात चीत मीरा से उन के काव्य में हुई है वे संगीत और नृत्य के निषेध विषयक नहीं हैं बरन जोगिया पंथ और संत कहे जाने वाले समाज में निम्न समझे जाने वाले समुदायों में जाने गाने और नाचने के ही निषेध बिषयक हैं। राजघराने की कुल बधू चमारों, धुनियों, जुलाहों और वेद मर्यादा भंग करनेवाले क्रान्तिकारियों के साथ जावे यह कब राज बंश को सह्य हो सकता था। जिसे भोग करना है राज राजना है वह मुड़ियों के धर्म को क्यों अपनाने लगा ?

वेदबिहित उच्च बंशीय बैष्णव, शैव धर्म का अनुयायी स्वयं मीरा का राज बंश था यदि ऐसे धर्म के अनुसरण करने की ही बात होती तो मीरा का विरोध न हुआ होता; मीरा के विरोध के रूप में राज परिवार संतमत का विरोध करके सूचना दे रहा था कि अभी वह समय नहीं आया है जब संतमत व्यापक रूप में अपनाया जा सके। सोलहवीं शताब्दी में परिस्थिति भिन्न हो गई थी मीरा

सोलहवीं शताब्दी की वैष्णव परम्परा की जीव नहीं हो सकती वह और उसका विरोध बतला रहे हैं कि मीरा को पन्द्रहवीं शताब्दी की चेतना मिली है इसी में मीरा, संत मीरा ने दुख प्रकट करते हुए कहा था—

"राठौड़ां की धीयडी जी सीसोद्यां के साथ।
ले जाती बैकुन्ठ को म्हारी नेक न मानी बात।"

मीरा बाई के भजनों में शान्त माधुर्य भाव के साथ रहस्योन्मुखी सौन्दर्य प्रेम और लोकगीतों का सरलपन है। यत्र तत्र सूफी और वैष्णवों की भावनाएं भी युग चेतना के और उनकी वाणियों के जीभ के कान होकर आगे बढ़ते रहने के कारण आगई हैं। काव्य शास्त्र की दृष्टि से भी उन की वाणियों का अध्ययन उसी तरह होना चाहिये जिस तरह कवि की वाणियों का। हमारे विश्वविद्यालय यह कहकर मीरा की वाणियों की खोज करने वाले विद्यार्थियों को निरुत्साहित करते हैं कि मीरा पर बहुत कार्य हो चुका है। और जब मीरा पर हुए कार्य को देखा जाता है तो रोना आता है। हिन्दी में श्री परशुराम चतुर्वेदी की 'मीरा पदावली' और नरोत्तम स्वामी की 'मीरा मंदाकिनी' के अलावा और कोई परिश्रम पूर्ण रचना कमसे कम मेरे देखने में नहीं आई। स्वर्गीय पुरोहित रुद्रनारायण जी के संग्रह को प्रकाशित कराने का उद्योग हिन्दी में और श्री अंबालाल बुलाकी राम जी के संग्रह को प्रकाशित कराने का गुजराती में होना चाहिये।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीरा पदावली' में पंद्रह प्रकार के छन्द सार, सरसी, विष्णुपद, दोहा, उपमान, शोभन, ताटंक, कुण्डल, चान्द्रयण, अति वरवै, सखी, मनहर आदि और कई अलंकार रूपक, उपमा उत्प्रेक्षा अत्युक्ति, उदाहरण, विभावना, स्वाभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, वीप्सा आदि देखे हैं।

काव्य शैलियों, सामाजिक जीवन, चित्रकला, वेशभूषा, समाज

शास्त्र आदि की दृष्टि से गुजराती और हिन्दी के पाये जाने वाले सभी भजनों का विवेकपूर्ण वैज्ञानिक ऐतिहासिक तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिये। भाषा विज्ञान की दृष्टि से मीरा का अध्ययन अभी शुरू भी नहीं हुआ है। मीरा कोश, मीरा की भाषा का व्याकरण भी बनना आवश्यक है।

खड़ी बोली के इतिहास में मीरा के भजन कम महत्त्व की सामग्री नहीं देते। पूर्वी हिन्दी, व्रजभाषा, राजस्थानी पंजाबी, गुजराती, फारसी, उर्दू के अलावा खड़ी बोली के प्रयोग भी मीरा के पदों में कम नहीं मिलते। अकेले मीरा पदावली को सरसरी नजर से देखने पर मुझे उसमें खड़ी बोली के इतने उदाहरण एक बार ही मिल गये सुरत की कछुनी काछूंगी, यही भगत की रीति, सोना में सुहागा, भाग हमारा जागा, पूर्व जनम के भाग, हो गया अचल सुहाग, सबका मैं बोल सहूँ, दुरजन जलो जा अंगीठी, भजन भाव में मस्त डोलती, गैल बता जा, अपणे हाथ जला जा, अंग लगा जा, जोत में जोत मिला जा सब हमारे हाथ हैं, राम के, देस विदेश संदेश न पहुंचे, जनम जनम की चेली, हंसकर निकट बुलावे, क्या देखूं मुख तेरा, विरहिन है बेहाल, अमरलोक में रहना, प्रेमकी कटारी है, मतवारी है, प्रीति प्यारी है, दासी तुम्हारी है, ऐसे वर को क्या करूं जो जनमे और मर जाय आदि। इसी प्रकार फ़ारसी शब्द मिश्रित भाषा के प्रयोग भी सहज ही मिल जाते हैं जैसे लिखूं सिलाम, बंदी हूँ खान जाद महरि करि मान ज्यों, ऐसी सूरत, अब तो मेहर करो मुझ ऊपर, सब कसर मिट जाई, सत गुरु दस्त धरयो सिर ऊपर, बांह गहे की लाज, सब तकसीर बिसारी, तन मन कीन्हों पेस, तन मन करूं सब पेश, प्रभुजी अरजी सुण लो, सब मतलब के असरी, गूथी जुल्फां कारियां, हम भई गुलफ़ाम लता, सदकै जाऊं। इसी प्रकार योगमार्गी नाथों और निर्गुण निरंजनी साधुओं की शब्दावली का भी बाहुल्य है।

कुछ लोग-भाषा का इस प्रकार का भी मीरा में बाहुल्य है भजनों को सहसा बाद के या प्रक्षिप्त देखकर उनके कह देते हैं पर यह ठीक नहीं है । मुसलमानों के राज्य और सूफियों, योगियों तथा संतों के प्रसार के साथ खड़ी बोली, फारसी तथा योगियों की भाषा का घना सम्बन्ध है । मीरा के पहले से खड़ी बोली रैदास, कबीर, खुसरो तथा अन्य मुसलमान व्यक्तियों के उद्धरणों में मिलती है। आठवीं शताब्दी से ही खड़ी बोली मिलने लगती है । पंजाब राजस्थान, गुजरात, सूफियों, योगियों और सन्तों के प्रधान केन्द्र बहुत पहले से रहे हैं । वैष्णव धर्म के नये रूप का प्रसार यहाँ बाद को हुआ ।

मीराबाई ने अपनी मीराबाई नाम को सब तरह चरितार्थ किया है जिसकी एक एक स्वास ईश्वरमय हो गई है । स्वास: अथवा सूर्यपुत्री मीरा सूर्यवंश से संबंधित थी ही, प्रकाश आत्म ज्योति की पुत्री वह अपनी साधना से बन गई, ईश्वर को अपने पति रूप में और अपने को पत्नी रूप में माना इस अर्थ में भी वह प्रेमाभक्ति की लक्षणा से सार्थक रूप में मीराबाई है।

मीरा के कबीरी प्रभु वाची अर्थ को देखते हुये और यह देखते हुये कि कबीर मुसलमान थे तथा रैदास अथवा उनकी वाणियों से मीरा ने प्रेरणा पाई है डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल की धारणा थी कि मीरा पहली मीरा थी और उनकी भक्ति द्योतक की उपाधि थी जो संतों ने उन्हें दी होगी । अपने एक लेख "मीराबाई नाम" में जो सरस्वती भाग ४०, खंड २, संख्या तीन तथा 'बुद्धि प्रकाश' में छपा था मीरा शब्द की संभाव्य व्युत्पत्तियों के मूल शब्दों, संस्कृत मीर प्रक्षेपण, और फारसी "मीर" शब्द से बतलाई थी । कबीर ग्रन्थावली से उन्होंने मीरा शब्द के ईश्वर वाची अर्थवाली ये तीन साखियाँ भी उद्धृत की थी।

१ कबीर चाला जाई था आगे मिल्या खुदाई।
मीरा मुझ सूं यूं कहा, किन फुरमाई गाइ॥
हज काबे ह्वै ह्वै गया केती बार कबीर।
मीरा मुझसे क्या खता मुखां न बोले पीर॥
चौहट्टे चिन्तामणि चढ़ी, हाड़ी मारत हाथि।
मीरा मुझ सूं मिहर करि इब ना काहू साथि॥

डाक्टर बड़थ्वाल ने यह भी लिखा था यह शब्द नाम के रूप में विरल है और पहले पहल कबीर में मिलता है।

इस लेख की प्रतिक्रिया उस समय हुई जब उसके फलस्वरूप श्री केशव राम शास्त्री का "मीराबाई नाम" शीर्षक लेख छपा जिसमें शास्त्री जी ने बताया था कि 'मीर' शब्द फारसी का नहीं अरबी का है और अमीर का लघु रूप है। मीरा शब्द का स्त्री वाची 'आं' नामों के साथ गुजरात में खूब मिलता है इसके उदाहरण स्वरूप उन्होंने रूपां, घनां, तेजां, शोभाँ, लीलां, जीपां आदि दिये थे। और बतलाया था कि मीरां उपाधि वाची नाम नहीं वरन मूल नाम था। मीरा की व्युत्पत्ति शास्त्री जी ने दो प्रकार से बतलाई थी।

१. संस्कृत मिहिर सूर्य मिहिरा मिइरा मीरा मीरां
२. देशी मिरिया झोंपड़ी नाम के लिए न प्रयुक्त हुआ होगा
३. देशी महइर गांव का अगुवा मईहर महइर मीअर
मीरा मीरां। गांव के अगुवा राजाकी पुत्री मीरा।

महइर से मीरा की व्युत्पत्ति शास्त्री जी को अधिक मान्य हुई थी। डाक्टर बड़थ्वाल और शास्त्री जी के इस विवेचन का अध्यन करने पर दिखलाई दिया कि अधिकांश कोशों में अमीर और मीर शब्द फारसी ही बताया गया केवल एक कोशमें

गुरु ग्रंथ में इस साखी का पाठ इस प्रकार है—
कबीर हज काबे हउ जाइ था आगे मिलिआ खुदाइ।
सांई मुझ सिउ लरि परिआ तुझे किन्हि फुरमाई गाई।

मुझे वह अरबी मिला। अरबी, फारसी अथवा भाषा विज्ञान के विद्वान ही इस बात को बतला सकते हैं कि मूल शब्द फारसी का है या अरबी का।

मीरां शब्द या उसके रूपोंका नाम रूप में प्रयोग विरल नहीं है। मेहर दास मिहिर माज, पद्म मिहिर मीरां साहिब जम्बू के दक्षिण और सम्बा के पश्चिम मीरो शाह की हिन्दी कविताएं मिलती है। रामलदेवकी पांचवीं पुत्रीका नाम भी मीरा बाई बताया जाता है और वह मीरा की समसामयिक भी कही जाती है।

ईश्वरवाची अर्थ में दादू ने भी कबीर के पश्चात मीरा शब्द का प्रयोग किया है:—

१. दादू कारण कंत के, खरा दुखी बेहाल।
मीरा मेरा मिहर करि, दे दरसन परहाल।
२. बंदा बरदा चेरा तेरा हुक्मी मै बेचारा।
मीरा मिहरबान गोसाईं, तू सिरताज हमारा।
३. मीरां मेरा मिहिर दया करि, दादू तुम ही ताई।
नेक नज़र मिहर मीरां बंदा मैं तेरा।

शास्त्री जी ने मइहर से जो व्युत्पत्ति दी है वह मुझे ठीक नहीं जंचती और यदि वह ठीक भी हो तो उसका सम्बन्ध मीरा नाम से नहीं हो सकता। मइहर शब्द का अर्थ मिहिर मेहर दया वाला दयालु भी यद्यपि है किन्तु वह जन्म-भूमि पीहर पितृ-गृह का द्योतक है उदाहरणार्थ "बाबुल मोरा मइहर छूटी जाय" और इस दशा में स्वयं मइहर शब्द 'मातृगृहम' व्युत्पन्न है। मातृ गृह माइ हरं महियर। मड्अर फ्रांसीसो भाषा में मिलने वाला समुद्र वाचीमेर ला मेर मेडिट्टेराने भूमध्य सागर शब्द इसी अर्थ में संस्कृत शब्द महार्णव विद्यमान है। जिसका रूप गुजराती भाषा के कवि मालण १४६० —१५७० की कादम्बरी में मिलता है। मिहिरामण मथिउ अति कोडी

श्री एन० बी० देवतिया इस मिहिरामण की व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं।

महार्णवः महारणवु महारावणु मिहिरामण मेहेरामण ।

मुझे दिखाई देता है कि मीरा शब्द की नामार्थ में मिहिर सूर्य से अधिक ठीक है। सूर्योदय के पर्वतको बाइबिल में मेरौस कहा गया है यही हमारा सुमेरु है। मिहिर कुल नाम भी है और सूर्य-वंश का द्योतक भी, सूर्यकुल से मीरा का सम्बन्ध था ही।

'राजस्थानी साहित्य' पत्रिका के पहिले वर्षके दूसरे अंक में प्रोफेसर नरोत्तम स्वामी ने 'वीरां' शब्दसे मीरा की उत्पत्ति बतलाई है जो असम्भव तो नहीं है किन्तु लोगों को वह व्युत्पत्ति मान्य नहीं हुई है और कुछ ने उसका खंडन भी किया है।

पुरोहित हरिनारायण ने मीरा के पदों का सबसे वृहद् संकलन किया था जो प्रकाशित नहीं हो पाया है संकलन ही नहीं मीरा के सम्बन्ध में भी विशेष अध्यन किया था। सुंदर दास ग्रन्थावली उनकी संपादित की हुई सुन्दर रचना कलकत्ते से दो भागों में प्रकाशित हो चुकी है। श्री महावीर सिंह गहलौतने मीरा नाम के सम्बन्ध में पुरोहित जी से परामर्श किया था। गहलौत जी बतलाते हैं कि पुरोहित जी को जनता के बीच चली आती हुई यह बात मान्य थी कि संतान कामी माता-पिता को अजमेर के मीरां शाह की कृपा कोर से पुत्री प्राप्त हुई थी। कृतज्ञता वश इस पुत्री का नाम मीरां रख दिया गया।

गहलौत जी मीरां साहब मीर्रा हुसेन खंगसवार को १५४४ ई० तक अप्रसिद्ध ही मानते हैं और उनकी प्रसिद्धि का काल, हर विलास सारदा कृत 'अजमेर' पृष्ट ५६ के आधार पर १५६१ ई० के बाद मान कर मीरां का मिरहं शाह से सम्बन्ध हो सकना अस्वीकार करते हैं। किन्तु मीरा हुसेन खंगसवार मीरां साहब से भिन्न व्यक्ति मीरां शाह हो सकते हैं जिनकी आशीष से मीरां का जन्म हो सकता

है कृपा कृतज्ञता प्रकट करने के लिए प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम के पीछे नाम रखना कोई नई बात भी नहीं है।

गहलौत जी मीरां के मीर शब्द को उच्च अर्थ में लेते हैं उसे विधवाओं के लिये उपाधि रूप में भी स्वीकार करते हैं और मीरा नामकरण के विषय में एक सम्भावना बतलाते हैं बहुत सम्भव तो यही जान पड़ता है कि मीरा के माता पिता ने अपनी प्रथम संतान को जीवन चिन्तामणि जान कर अपने सुखों में उसे अति उच्च पद दिया और उसके शील गुण, नम्रता आदि को लख कर यथागुणानुसार उसे मीर श्रेष्ठ ही माना और वही हमारी मीराबाई अपने नाम को भक्ति क्षेत्र और काव्य क्षेत्र में, स्वर्णाङ्कित करने में सफल हुई। यही सीधा सादा सरल रहस्य मीरां, नाम में निहित जान पड़ता है। ("मीरा जीवनी और काव्य पृ० १७")

मीरा की जो कुछ भी व्युत्पत्ति हो, मीरा शब्द के ईश्वर वाची अर्थ में वे ही लोग आपत्ति कर सकते हैं, जिन्हें अपने किये का खटाई में पड़ने का सदैव मलाल रहता हो, जो अधिक गहराई में जा सकने के आदि नहीं, जो खाई पत्तल में छेद करने लगते हैं, अथवा जो सिर पर जिन्द: भूत लग जाने से अनर्गल प्रलाप करने लग जाते हैं, जो दूसरों के परिश्रम को फूटी आंख भी नहीं देख सकते, तथा जो गाल बजाकर पंडित और लठैत होकर पहलवान होने का दावा करते हैं। कबीर और मीरा के योगी स्वरूप को इस प्रकार के अनर्गल प्रलाप करनेवाले दबा सकेंगे यह उनका भ्रम है। ज्ञान सूर्यका प्रकाश अंधकार को रुचिर कर विकीर्ण होता है और उस प्रकाश में पृथ्वी की वस्तुओं को देख सकनेवाली दृष्टियां भूमि पर सदैव से रही हैं।

कबीर मुख्यतः योग प्रणाली के संत थे और मीरा संत प्रणाली की योगिनी थीं। योग संत प्रणाली से कबीर को हटाकर जिन्दों में ला घसीटना और मीरा को संत प्रणाली से हटाकर

ज़बरदस्ती मध्यकालीन वैभवप्रिय कृष्णधारा में फेंक देना कबीर और मीरा के विषय में अपने अज्ञान की सूचना देना है। कबीर जन्म जात योगी थे और मीरा अपने को "जनम जोगण" मानती थीं

"हुं तो जनम जोगण हूँ।"

कबीर और मीरा को जिस दिन हिन्दी संसार उनके सच्चे स्वरूप में देख सकनेवाली आंखें पा लेगा उस दिन कबीर, मीरा और रामतीर्थ की दिव्य शक्तियां हिन्दी में भी रवीन्द्रनाथ, आनंदी बाई और रामकृष्ण परमहंस सहित विवेकानन्द जैसी विभूतियां उत्पन्न हो जावेंगी।

श्री मीरा जी की पराभक्ति

आचार्य प्रवर महामहोपाध्याय पंडित सकल नारायण शर्मा।

निष्काम भक्ति पराभक्ति है। किसी किसी का मत है कि शरण प्रति पत्ति पराभक्ति है। श्री मीरा जी को शरण प्रति पति होगई थी। लड़कपन में श्री गोपाल जी से उनकी कान्तासक्ति हुई। ग्यारह प्रकार की आसक्तियों में उनकी कान्ता-सक्ति स्वाभाविक सी होगयी थी। छोटी छोटी बच्चिया गुड़वा गुड़ियां का खेल खेलती है। उनमें उनकी दाम्पत्य की कल्पना होती है। मीरा जी की यह भावना विचित्र थी। वे गोपाल जी को पति और अपने को पत्नी समझती थी। विवाह के समय उन्होने अपने माता पिता से अपनी कठिनाई बताई पर उन लोगों ने उस पर ध्यान नहीं दिया और कहा तुम्हारा शरीर मेरा है। उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं उस समय

मीरा चुप रह गईं कि आत्मा भगवान की हो चुकी है। वही उसकी रक्षा करेंगे। वे ससुराल में अपने इष्ट देव को लिये गयीं। सुहाग रात में ठाकुर जी को शयन गृह में सिंहासन पर विराजमान कर दिया और कहा कि प्रभो आप अपनी दासी को बचाइये। साधारण मनुष्य अपनी भार्या की रक्षा करते हैं आप त्रिलोकी नाथ हैं अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान कीजिये। राणा शराब पीकर आये और ठाकुर जी को देखकर लौट गये। उनका सम्भाषण मीरा जी के साथ कभी नहीं हुआ। वे स्वतन्त्र सी हो गयीं और रात दिन भजन कीर्तन करने लगीं। साधु सन्त आते थे उनके सामने मीरा जी ने परदा करना छोड़ दिया। राणा ने इस काम में अपना अपमान समझा और ज़हर भिजवाया वह अमृत हो गया। हिरण्यकस्यप और प्रहलाद की कथा भारत में प्रसिद्ध है। वह पुरानी होगयी थी एक महिला ने उसे नई कर दिया। यहां पर महिला के स्थान में अबला लिखने की इच्छा हुई पर लेखनी रुक गयी, कि जिसके बल सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ और महामय हैं वे अबला नहीं हो सकतीं। क्यों कि श्रुति ने उन्हें "सर्व सर्वशक्ति-महामायश्च ब्रह्म" (उपनिषद्) प्रतिपादित किया है। उक्त श्रुति में माया शब्द का अर्थ करुणा तथा अघटित घटना है। शान्डिल्य ऋषि ने भगवान के अनन्त गुणों में करुणा मुख्य गुण कहा है "मुख्यं हितस्य कारुरायं" (शान्डिल्य सूत्र)। जिन्होंने बचपन से उन्हें प्राणवल्लभ समझा है उनपर दया नहीं करते तो उनका दयासागर नाम कैसे रहता? भक्ति की प्रधान वस्तु चाह है कि, प्रेम पात्र मुझे मिले मैं उसे सुखी बनाऊं। सर्वज्ञ अपने प्रेमियों की इच्छा जानते हैं। वे एक क्षण अपने प्रेमी को नहीं छोड़ते। वे उसके अनुयायी बने रहते हैं। मीरा उनके हृदय में थीं या वे मीरा के हृदय में थे योग सुत्र में लिखा है कि भक्त परमयोगी है उसके सतत चिन्तन प्रणिधान से परमेश्वर उसके वस में हो जाते हैं। योगियों की सिद्धियां उसको प्राप्त होती हैं। मीरा जी को गोपाल

जी का ध्यान बराबर रहता था। उनके गोपालजी अब युवा हो गये थे वे उनके विरह में व्याकुल रहती थीं। उनके सब काम भगवान को अर्पित थे। यह भी एक प्रकार का प्रणिधान ही है "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" (योग सूत्र) नारद जी का एक भक्ति सूत्र है उसका कथन है कि अपने सब कर्म ईश्वर को समर्पण करने तथा कभी भूल जाने पर परम व्याकुल होजाना भक्ति है "तदर्पणा खिलाचार नातद् विस्मरणे परम व्याकुलता" (भक्ति सूत्र) एक आचार्य का मत है कि परम अनुराग का नाम भक्ति है "सा परानुभक्तिरिश्वरे" (भक्ति सूत्र) चाहे भक्ति के कोई लक्षण हों मीरा जी परम भक्त थीं। एकदिन वे राजमन्दिर में नृत्य कररही थीं, साधु सन्त बैठे थे, राणा तलवार लिए उनकी हत्या करने को पहुंचे, भगवान ने मीरा जी को अपने में तिरोहित कर लिया। उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि भक्त शीरोमणि का शरीर कोई पाखन्डी नास्तिक स्पर्श करे। उन्हें गायब होते देखकर सब लोग आश्चर्य में डूब गये राणा को परम खेद हुआ कि मैंने भक्त शीरोमणि को नहीं पहचाना।

मीराँ

श्री लक्ष्मीनारायण साहु

एम० ए० एम० एल० ए०, एम० सी० ए०ः एम० आर० ए० एस०।

उत्कल में उड़िया गानों का प्रभाव बहुत पड़ा है। कोई मीराँ के भजनों को उसीरूप में गाते हैं तो कोई उनके उड़िया-रूपान्तरित भजनों को गाते हैं। उनके भाव लेकर नई नई कविताओं की सृष्टि की जाती है तथा साथ ही, स्वतन्त्ररूप से नये गानों की रचना भी होती है। वास्तव में वह सब बहुत सुन्दर होता है।

मीरा भक्तिभाव को प्रकट करनेवाली भक्तिन थीं। उत्कल में १५ वीं शताब्दी में अनेक वैष्णव भक्तों ने जन्म ग्रहण किया और

कई भक्ति पूर्ण ग्रन्थों की रचना की। उनमें से 'पंचसखा' यहाँ अधिक प्रसिद्ध है। उनके नाम यथाक्रम ये हैं:—

१. जगन्नाथदास २. बलराम ३. अच्युतानन्द ४. यशोवल और ५. अनन्त। इनमें जगन्नाथदास अत्याधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी रचित उड़िया भागवत का पारायण तुलसी रामायण, बाइबिल तथा कुरान की तरह घर घर होता है।

इन भक्तों में भक्तिभाव होते हुए भी साधना प्रधान थी। मीराँ की जीवनी से प्रमाणित होता है कि मीरां भागवान को साक्षात् अपना स्वामी ही समझती थीं। जगन्नाथदास भी अपने को स्त्री भावापन्न समझकर 'ईश्वर' की सेवा किया करते थे। यहाँ दोनों में समानता प्रतीत होती है। यहाँ तक कहा जाता है कि जगन्नाथदास के शरीर में स्त्रीचिह्न भी हो गये थे। यहाँ मीरां और जगन्नाथ-दास के भावमें पूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है।

उत्कल में वैष्णवों के ऊपर बौद्ध प्रभाव बहुत पड़ा है। जब हिन्दुस्तान से बौद्धधर्म खदेड़ा जा रहा था, तब उसने उत्कल में ही आश्रय प्राप्त किया था। इसका उत्कल में इतना प्रभाव पड़ा है कि जगन्नाथजी को प्रच्छन्न-बौद्ध कहते हैं। यहाँ तक कि जगन्नाथजी के मंदिर को कई बौद्ध मंदिर भी कहते हैं। जो कुछ भी हो उत्कल में वैष्णव लोग साधनाप्रधान थे—भक्तिप्रधान नहीं थे, तो भी जगन्नाथदास—की जीवनी से मालूम होता है कि उन्होंने भक्ति और साधना दोनों कोही उच्चकोटि में पहुंचकर प्राप्त किया था। और यहां मीरा और जगन्नाथ की चिन्ता और साधना में कुछ एकता थी—ऐसा प्रतीत होता है। पहले तो उड़िया साहित्य और समाज में भक्ति का प्रचार था; इसके बाद चैतन्यदेव के अभ्युदयसे माधुर्यके रूप का भी उदय हुआ और धीरे धीरे इसका प्रभाव बढ़ गया। लेकिन मीरां के गीतमें माधुर्य के साथ जो श्रद्धा रहती है—

वही उत्कल में ज्ञान के साथ प्रधान थी। इसलिए उत्कल के वैष्णव -धर्म ने एक भिन्न मार्ग पकड़ा और वह मार्ग साधना मार्ग है।

उत्कल में जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना १२०० ई० में की थी (?)। वह कोमलकान्त पदावली से भरा हुआ है और माधुर्य पूर्ण है। यह धारा उत्कल में बहुत बढ़ गयी थी। पुरी के पास कोनारक के मंदिर में रचना-शिल्प के दर्शन से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य ईश्वर को भूलकर अपने दैहिक प्रेम में मस्त होगए थे।

१५ वीं शताब्दी में चैतन्यदेव के प्रभाव के कारण इस धारा में कुछ परिवर्तन हुआ और यहीं से माधुर्य धर्म में भी कुछ परिवर्तन हुआ। इसी समय मीरां के भजन उत्कल में पसंद किए जाने लगे। माधुर्य रसका जो कुछ परिवर्तन हुआ है यह तो नाटकों और संगीत सम्मेलनों में ही हुआ है। तो भी यह कहना अनुचित नहीं है कि बारहवीं ई० में कविसूर्य बलदेव ने, चम्पू और युगल रसामृत की रचनाकर उड़िया साहित्य को माधुर्य रस में आप्लावित कर दिया। आज उत्कल साहित्य और समाज में माधुर्य रस की कमी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है यहाँ मीरा का प्रभाव पड़ा है।

उत्कल साहित्य में रामकी पूजा भी इतनी नहीं की जाती, जितनी कि जगन्नाथ जी की। इसमें सब अवतारों की पूजा होती है। इसलिए उत्कल में प्रेमवस्तु और ध्येय वस्तु सभी जगन्नाथजी ही हैं और इन्हीं को केन्द्र मानकर शान्त, हास्य, माधुर्य, सख्य, वात्सल्य सब भावों या रसों का प्रचार होता है। जगन्नाथ, बलराम और सुभद्रा ये वास्तवमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही के प्रतिरूप हैं। सच बात तो यह है कि इस त्रिमूर्ति में माधुर्य की सृष्टि के लिए ही सुभद्रा मूर्ति आर्थात् स्त्री मूर्ति की स्थापना की गयी है।

उत्कल में मीराँ की तरह ही कई अन्य नारियों ने भी भक्ति और मधुर भक्ति की भावधारा बहाई है। नारी कवि माधवीदासी

की कवितायें प्रेम पूर्ण और माधुर्यरस से शराबोर हैं। ये चैतन्यदेव के अनन्य भक्तों में से एक थीं।

वैष्णवों का नाम संकीर्तन एक बड़ी चीज है। साधना भजन में नामसंकीर्तन प्रधान है। मीराँ की जीवनी में यह अन्यन्य व्रत जैसा प्रतिपन्न होता है ठीक वैसाही जगन्नाथदास जी की जीवनी में प्रतिपन्न होता है। जगन्नाथदास ने पुरी मन्दिर के वटवृक्ष के नीचे बैठ कर ही श्री मद्भागवत का अनुवाद किया था। यही अनन्य साधना मीरां की जीवनी में दिखाई देती है।

उत्कल में दो प्रकार के वैष्णव थे। १-गृहत्यागी और २—गृहस्थ। गृह त्यागी को निहंगी तथा गृहस्थ को गृही वैष्णव कहते हैं। उत्कल में धर्मप्रचारक के नामानुसार रामानन्दी, निमाउती,. अति -बड़ी और माधवाचार्य कहते हैं; और गृहत्याग के अनुसार नागा, नंगुली, कुम्भीपठुआ, लेंगुढ़िआ, जनाउत और भक्तिबन्धा; और उपास्य देवता के अनुसार वैष्णवधर्म में महावीरिआ, परमार्या इत्यादि। विरह में मिलन की आंकाक्षा बहुत अधिक होती है। आकांक्षा पूर्ति में चिर अतृप्ति रहती है। वैष्णव दर्शन इसका प्रथम सोपान है।

वैष्णवधर्म में प्रेमधर्म, काम और प्रेम के बीच में पार्थक्य रहता है। उत्कल के अभिमन्यु सामन्तसिंहार की पुस्तक विदग्ध चिन्तामणि में अप्राकृतिक प्रेम का वर्णन है।

जगन्नाथदास के भागवत में—

अनेक जन्म तप करि
एवं होईल गोपनारी
मु तांक पुराइबि आश
से मोर भकत विश्वास।

उड़िया साहित्य में भक्ति का प्रचार बहुत है। वैष्णवधर्म प्रेम धर्म है। पुरी में नानक, कबीर, शंकर आदि सब आए थे।

वैष्णवधर्म भिन्न प्रकार का है इसमें जोश की मात्रा अधिक है। उत्कल में वैष्णवधर्म और मुसलमान धर्म में पाला की सृष्टि हुई है।

उत्कल में ई० १० के अन्ततक तन्ययुग (?) था। ई० १०वीं से लेकर ई० १५ तक वैष्णवयुग और १५ वीं से १६ वीं तक वैष्णवधर्म परम रसात्मक हो गया। इसी के साथ साथ पारमार्थिक भाव और साहित्य की सृष्टि हुई।

(१) माधवी देवी की कविता का एक उदाहरण—

जाम्बुनद हेमजिति गोरांग वरण मानि
प्रेम भरे गरगर आँखि युग झरझर
हरि हरि बोल बोलि धाय

उत्कल के वैष्णव दर्शन में—

नाहं रमणी न सो लणः ऐच्छेन रीति।

यही परकीया प्रीति उत्कल के वैष्णवधर्म की विशेषता है। मीरा के "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई" में इसी भावका दर्शन होता है। उत्कल के वैष्णवधर्म में तारकमन्त्र प्रसिद्ध है—

'हरे राम कृष्ण'।

वृष्टावती दासी के 'पूर्णचन्द्रोदय' नामक नाटक में व्यक्तिस्वरूपमें भगवान की पूजा की गई है। यहाँ मीरां और वैष्णव दर्शन का पूरा मेल ठहरता है। वृष्टावती दासी के पश्चात् नौ वैष्णव भक्त और बने थे। उन्होंने खण्डित, आभास, उत्फुल्ल आदि जिस भाव से भगवान की प्राप्ति की है उसका वर्णन भी ठीक ऐसा ही किया है।

उड़िया में वैष्णव दर्शन के साथ योग साधन भी प्रधान था। उड़िया साहित्यमें मथुरामंगल, रसकल्लोल, वैदेहीशविलास, विदग्ध-चिन्तामणि आदि प्रधान वैष्णव ग्रन्थ हैं।

संतमत और मीरा

श्रीपरशुराम चतुर्वेदी, एम. ए., एल. एल. बी.।

मीरा बाई के इष्टदेव 'गिरिधर नागर' नामधारी श्री कृष्ण चंद्र प्रसिद्ध हैं और ये उन 'गिरधर गोपाल' के अतिरिक्त अन्य किसी को भी अपना मानती हुई नहीं जान पड़तीं। ये उन्हीं की सुंदर छवि के वर्णन तथा उन्हीं के गुणगान में सदा लीन रहना पसंद करती हैं। उन 'नदंनदंन' का सौन्दर्य इनकी दृष्टि में प्रवेशकर इस प्रकार जम चुका है कि वह क्षणमात्र के लिए भी वहां से दूर होता नहीं दीखता मीरा बाई उक्त इष्टदेव को 'बलवीर,' 'जदुनाथ,' 'जसुमति को लाल, जैसे नामोंद्वारा अतिहित करती हैं, जिसकारण, उसके सगुण अवतार श्री कृष्ण होने में कोई संदेह नहीं रहजाता; अपितु इन की रचनाओं में पाये जाने वाले, उसकी लीलाओं के अनेक उल्लेख द्वारा, इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है। श्री कृष्ण चन्द्र को ये न केवल, उक्त सगुणरूप भगवान कहकर ही स्मरण करती हैं, प्रत्युत वे उन्हें 'पूरब जनम का साथी' तथा 'म्हारो भरतार' के रूप में भी स्वीकार करती हैं, और उनसे 'बांह गहे की लाज' की दुहाई देकर उनकी स्वकीया पत्नी तक होने का प्रसंग छेड़ देती हैं। ये उन्हें इसी कारण 'पिव', 'धणी', 'सैयां', 'वालमा' 'भवनपति', साजन अथवा 'वर' तक कह डालने से नहीं चूकतीं। इन के एकाध पदों से तो इनके सौतियाडाह जैसे भावों का भी पता चलता है जिससे स्पष्ट है कि ये किसी मूर्तिमान व्यक्ति के ही प्रेम में 'दिवानी' बनी हुई हैं। अतएव मीरा बाई के इष्टदेव सगुण व साकार श्रीकृष्ण सिद्ध होते हैं और इनकी साधना भी गोपीभाव की प्रेमसाधना लक्षित होती है।

परन्तु मीराबाई की उपलब्ध रचनाओं के अन्तर्गत हमें कुछ ऐसे भी पद मिलते हैं जिन से जान पड़ता है कि इन्हें कोरा सगुण

भक्त अथवा श्री कृष्णावतार की निरी प्रेमिका मात्रही ठहराना पूर्ण सत्य नहीं है। इन रचनाओं द्वारा ये अपने इष्टदेव को पूर्ण ब्रह्म परमात्मा समझती हुई दीख पड़ती हैं, और इनकी साधना का स्वरूप भी इन में बहुत कुछ भिन्न लक्षित होता है। इन पदों में उसे ये न केवल निर्गुण, निरंजन अविनाशी आदि कह कर ही व्यक्त करती हैं, किन्तु उसके मिलन के लिए एक नितांत भिन्न साधना की ओर भी संकेत करती हैं, जिस से प्रकट होता है कि इनपर संतमत वा निर्गुण पंथ का भी प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़चुका था। इन की ऐसी रचनाएं अभी तक अधिक संख्या में नही मिली हैं और बहुत से लेखक इन में से कुछ को कभी कभी प्रक्षिप्त मानते हुए भी जान पड़ते हैं। तो भी इस बात को स्वीकार करलेना अनुचित नही कहा जा सकता कि मीराबाई का वातावरण सगुणोपासक भक्तों तथा निर्गुणपंथी संतोंदोनों के ही प्रभावों से न्यूनाधिक प्रभावित था और उन दोनों प्रकार के साधकों के सत्संग का इन्हें सुअवसर मिलचुका था। फलतः इन के सरल व शुद्ध हृदय को उन दोनों प्रकार के साधनों ने ही अपने अपने ढंग से गढ़ने के प्रयत्न किये थे और समय समय पर इन्होंने उन दोनों ही प्रकार के भावों को अपनी रचनाओं द्वारा व्यक्त कर उनकी सचाई का परिचय दिया था।

मीरा बाई की उक्त दूसरे प्रकार की रचनाओं से प्रकट होता है कि इन्हें कभी साहब रैदास जैसे संतों की भांति, पिंड के रहस्य का पूरा परिचय उपलब्ध था और ये प्रायः उन्हीं के शब्दों में, इनकी ओर सदा संकेत भी किया करती थीं। ये त्रिकुटी महल अर्थात दोनों भौंहों के मध्यभाग में वर्तमान समझे जाने वाले संधिस्थान के झरोखे वा छिद्र से झांकी लगाने की चर्चा करती हैं और बतलाती हैं कि ये सुन्न महल अर्थात् मूर्द्धा भाग में वर्तमान समझे जाने वाले ब्रह्मरंध्र में अपनी सुरत जमाकर अथवा ध्यान लगा कर सुखकी सेज बिछाती, वा परमानद का अनुभव किया करती हैं, जो इनके अपने

'साहिब' वा इष्टदेव के सदा प्रत्यक्ष बने रहने का ही परिणाम हो सकता है। उनके शब्दों में—

नैनन बनज बसाऊंरी, जो मैं साहिब पाऊं ॥ टेक ॥
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न नाऊं, री ॥
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहां से झांकी लगाऊं, री ॥
सुन्न महल में सुरत जगाऊं, सुख की सेज बिछाऊं, री।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊं, री ॥ १२ ॥

इसी प्रकार उक्त 'सुख की सेज का ही वर्णन इन्होंने अन्यत्र 'सेज सुषमणा' तथा 'गगन मंडल की सेज' द्वारा भी किया है। सुषम्ना या ब्रह्मनाड़ी की सहायता से साधना कर सहज समाधि में परमात्मलीन होने की अवस्था का वर्णन मीरा ने यहां पर किसी वासक सज्जा नायिका के प्रियतम-संयोग के रूपक द्वारा किया है और उसी प्रकार, 'गगन मंडल की अगम्य स्थिति तक पहुंचने की साधना को अत्यन्त कठिन भी बतलाया है। उनका कहना है कि

'सेज सुषमणा मीरां सोवै, सुभ है आज घड़ी' ॥ २२ ॥[२]
'गगन मडल पै सेझ पिया की, किस बिध मिलणा होइ' ॥ ७२ ॥[३]

उक्त गगन मंडल की 'सेझ' को ही मीरां ने कभी कभी 'अगम अटारी' 'अगम के देस' तथा 'अमरलोक' नाम भी दिये हैं जैसा कि इनकी निम्नलिखित पंक्तियों से सूचित होता है—

'दीपक जोऊं ग्यान का, चढ़ूं अगम अटारी हो' ॥ १५८ ॥[४]

---

१. 'मीरां बाई की पदावली' (तृतीय संस्करण, सं० २००४) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग पृ० ५।
२. वही, पृ० १४ ।
३. वही, पृ० २७ ।
४. वही, पृ० ५५ !

'चालो अगम के देस, काल देखत डरे,' इत्यादि ॥ १६२ ॥
'मीरां के प्रभु गिरधर नागर, अमरलोक में रहणां ॥ १५६ ॥

मीरां बाई ने उक्त बातों के प्रभाव में ही आकर, होली-सम्बन्धी अपने एक वर्णन में कहा है—

'बिनि करताल पखावज बाजै, अणहद् की झणकार रे' ॥ १५१ ॥ [१]

और इसके द्वारा प्रसिद्ध अनाहत शब्द की ओर भी इनका संकेत जान पड़ता है, इसके अतिरिक्त इन्होंने पंचतत्वों द्वारा निर्मित शरीर को 'पचरंग चोला' का नाम दिया है और बतलाया है कि ये उसे पहन कर झिरमिट का खेल खेला करती हैं तथा इसी अवसर पर सहसा मिल जाने वाले अपने प्रियतम को पहचान उससे लिपट जाती हैं। ये कहती हैं कि—

'मैं गिरधर संग राती, सैयां मैं गिरधर संग राती ॥ टेक ॥
पचरंग चोला पहर सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती।
ओहि झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, खोल मिली तनगाती' इत्यादि ॥२०॥ [४]

'झिरमिट' से यहां पर, झुरमुट मारने के खेल से तात्पर्य है जिसमें खेलने वाले अपने शरीर ढक लिया करते हैं ताकि एक दूसरे को शीघ्र पहचान न सकें और पंचरंग चोला फ़कीरों का [illegible] वह पहनावा है जिसमें अनेक प्रकार के रंगबिरंगे क[illegible] रहते हैं। इस पचरंग चोले को ही, उसके सारे शरीर [illegible] आवृत कर लेने के कारण, मीरां बाई ने 'गाती' या ऊपर से बंधा हुआ आवरण भी कहा है। इनके उक्त वर्णन का सारांश यह है कि इनकी जीवात्मा, निज कर्मानुसार प्राप्त मनुष्य योनिका शरीरावरण धारण कर, एक दूसरे के वास्तविक स्वरूप को न पहचान पाने वाले सांसरिक प्राणियों के बीच, अपना लौकिक व्यवहार करने

१. वही, पृ० ६४-६५। २. वही, पृ० ५४। ३. वही, पृ. ५२।
४. मीरां बाई की पदावली (तृतीय संस्करण, सं० २००४) हिं० सा० सम्मेलन प्रयाग पृ० ८९।

में लगी हुई थी कि अचानक, कदाचित इनके सद्गुरु के संकेतानुसार, इन्हें अपने प्रियतम से भेंट हो गई और उसे पहचानते ही, ये झट निरावरण होकर, उसके गले लग गईं या उसके साथ तन्मय हो गईं।

मीरां बाई ने इसी प्रकार, अपने कुछ पदों द्वारा ऐसे भाव भी प्रकट किये हैं जिनसे जान पड़ता है कि इन्हें संतों की सुरत 'शब्द योग' नामक साधना का भी पूर्ण परिचय था तथा ये, संभवतः, उसका कुछ न कुछ अभ्यास भी कर चुकी थीं। इन्होंने संतों द्वारा प्रयुक्त 'सुरत' 'निरत', 'सबद', 'निज नाम', 'सुमिरन' तथा 'अमर रस' जैसे प्रसिद्ध शब्दों के भी प्रयोग किये हैं तथा, उन्हीं की भांति, उक्त साधना के महत्व को भी यत्रतत्र दर्शाया है। 'सुरत' शब्द का अर्थ, संतों की परिभाषा के अनुसार, वह स्मृति है जो, परमात्मा या परमतत्व के विषय में उमड़ जाया करती है और जिसका प्रयोग, उन्होंने, इसी कारण, कभी कभी उसके निज स्वरूप जीवात्मा के लिये भी किया है। मीरां बाई, उसके अनुसार, कहीं कहीं सुरत की कछनी काछनी[1] हुई भी दीख पड़ती हैं। परन्तु 'सुरत' शब्द का व्यवहार इन्होंने अधिकतर ध्यान के लिए ही किया है तथा उसे 'सुन्न महल' में जगाने, उसके लिए 'सहिदानी'[2] या पहचान का चिह्न निर्दिष्ट किये जाने और उसके 'झकोला खाने'[3] की भी चर्चा की है। इसी प्रकार इन्होंने अपने एक पदमें 'सुरति निरति का दिवला' भी संजोने[4] अर्थात जलाने का उपक्रम

---

१. 'प्रेम पीकी वाधि घूंघरू, सुरत की कछनी काछूंगी।' वही, पृ० ६ (पद १४)

२. 'दीन्हा सुरत सहिदानी'। वही, पृ० ५५ (पद १५९)।

३. पिया दूर पन्थ म्हारो झीणो, सुरत झकोला खाइ। वही, पृ० ५ (पद १९२)।

४. 'सुरत निरत का दिवला संजोले, मनसा की करले बाती', वही, पृ० (पद २०)।

किया है जिससे सिद्ध है, कि इनका अभिप्राय, ऐसे स्थलों पर उक्त ध्यान को ही 'निरति' की पूर्णावस्था तक पहुंचाकर, तज्जनित स्वानुभूति द्वारा, आत्म ज्ञान उपलब्ध करना है। 'निरति' सुरत की वह चरमावस्था है जहां, काल के चंगुल से मुक्त होकर सहज समाधिस्थ जीव स्वयं परमात्य रूप हो जाता है।

इसके सिवाय मीरां बाई ने 'शुमिरन थाल हाथ में लीन्हा' [१] कह कर तथा 'पिया पियाला अमररस का, चढ़ गई घूम घुमाय' [२] का वर्णन कर संतमतानुमोदित क्रमशः 'नामस्मरण' तथा 'अमृतपान' की ओर भी संकेत किया है और 'ध्यानगुरु गाँसी' [३] 'ध्यानगली' [४] 'गुरध्यान' [५] 'दीपक जोऊं ध्यान का' [६] एवं 'ध्यान की गुटकी' [७] के प्रयोगों द्वारा उनके अभीष्ट आत्मज्ञान की ओर भी लक्ष्य किया है। इसी प्रकार मीरां बाई का उद्देश्य कभी २ उस नैतिक आचरण का उपदेश देना भी जान पड़ता है जिसका कार्यक्रम, संतों ने, मानव समाज के हित के लिए, सर्वसाधरण के समक्ष रक्खा था। इस सदाचरण का नाम इन्होंने 'सीलवरत' या शील का व्रत दिया है और इसका परिचय भी स्त्रियोचित शृंगार के रूपमें कराया है।[८] इन्होंने इसी प्रकार [illegible]य का महत्व दर्शाते हुए, 'सतकी नाव' की चर्चा की है जिसका 'खेवटिया' अथवा कर्णधार इन्होंने 'सतगुर' को बतलाया है, [९] और कहा है कि उसी के आधार पर, भवसागर का तरना भी सम्भव हो सकता है। इनके अनुसार मानव जीवन का आदर्श, हृदय को कामादि षड् विकारों से मुक्त कर तथा संसार की आशाओं

---

१ मीराबाई की पदावली [तृतीय संस्करण सं० २००४] हि० सा० सम्मेलन प्रयाग [पृ० १४]।

२ वही, पृ० १८ [पद ४४]।

३ वही पृ० ९ [पद २२]।

४ वही पृ० १४ [पद ३२]।

५ वही पृ० १० [पद २३]।

६ वही पृ० ५५ [पद १५८]।

७ वही पृ० १० [पद २४]।

वही पृ० १० [पद २३]।

९ वही पृ० ५४-५५ [पद १५७]।

का परित्याग कर के, सहजभाव के साथ वैराग्य का अभ्यास करना है। ऐसी ही अवस्था तक पहुंच कर जीवन यापन करने को इन्होंने सच्ची भक्ति का रूप भी दिया है और अपने एक पद में, इसका पूरा विवरण प्रस्तुत किया है।[१०] प्रसंगवश इन्होंने, अपनी उसी रचना द्वारा, सांसारिक जीवों के आचार-व्यवहार की कड़ी आलोचना भी की है।

मीरां बाई ने, संतों की ही भांति, 'री मेरे पार निकस गया, सतगुर मारया तीर'[११] तथा 'भर मारी रे बाना मेरे सतगुर विरह लगाय के'[१२] द्वारा अपने सद्गुरु के उपदेश-दान का भी वर्णन किया है और 'सतगुर भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो'[१३] कह कर उसकी अपूर्व सहायताके लिए अपने को ऋणी भी बतलाया है। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि—

'सतगुर मिलि या सुंज पिछानी, ऐसा ब्रह्म मैं पाती'
सगुरा सूरा अमृत पीवै, निगुरा प्यासा जाती॥ १६७॥

जिससे पता चलता है कि अपने सद्गुरु द्वारा ये केवल उस भेद को जान लेने की बात ही नहीं करतीं, किन्तु यह भी बतलाती हैं कि, वास्तव में उससे दीक्षित होकर ही कोई परमात्मतत्व उपलब्ध कर सकता है तथा निगुरा सदा असफल रहता है। इसके सिवाय मीरां बाई ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन्हें रैदास नाम के

---

१० वही पृ० ५६ [पद १६२]।

११ वही पृ० ५४ [पद १५५]।

१२ वही पृ० ५४ [पद १५६]।

१३ वही पृ० ५५ [पद १५८]।

१४ वही पृ० ६७।

गुरु मिले थे[१५] तथा उन्हींने इन्हें, सतगुर बन कर इनकी सुरत के लिए 'सहिदानी' का लक्ष्य भी स्थिर कर दिया था जिसके द्वारा ये अपने प्रियतम से जा मिली और इनके हृदय की 'पीर' 'बुझायी' इन्हीं के शब्दों में—

'रैदास संत मिले मोहि सतगुर, दीन्हा सुरत सहदानी।'
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी ॥ १५६ ॥[१६]

परन्तु इतना निश्चित सा है कि उक्त 'रैदास संत,' कबीर साहब (मृ० सं० १५०५) के समकालीन प्रसिद्ध संत रविदास, नहीं हो सकते। मीरांबाई का जीवनकाल, अधिक सम्मतियों के अनुसार सं० १५५५-१६०३ माना जाता है और जिस भक्त भगत का इन्होंने, एक पौराणिक भक्त के रूप में वर्णन किया है[१७] उसने उक्त सन्त रविदास का अपने से कुछ समय पहले मर कर प्रसिद्ध हो जाना बतलाया है।[१८] अतएव बहुत सम्भव है कि मीरांबाई ने उक्त वर्णन किसी रैदासी सन्त के लिये ही किया हो।

---

१५ वही पृ० १० [पद २४] वही पृ० १३ [पद २६]।

१६ वही पृ० ५५।

१७ वही पृ० ४८ [पद १३७]।

१८ श्री गुरु ग्रन्थ साहिब [तरणतारण संस्करण] पृ० ४८७-८ [रागु आसा पद २]।

-विद्वान लेखक ने 'झिरमिट' का अर्थ एक प्रकार का खेल माना है। किन्तु जैसा नीचे की ही पंक्ति से—'ओहि झिरमिट माँ'—स्पष्ट है कि 'झिरमिट' शब्द 'कुंज' के अर्थ में ही शायद सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है। सं०

मेवाड़ कोकिल, मीराबाई*

श्रीधीरेन्द्र नाथ सेन, एम. ए., पी. एच. डी.,

अपने सुन्दर भजनों में ही मीराबाई वर्तमान हैं। उनकी ख्याति केवल उस छोटी सी रियासत तक ही जिसमें उनके जीवन का सर्वोत्तम अंश व्यतीत हुआ था, न कभी सीमित थी और न आज है। वे उस वीर कुल की महिला थीं जिसकी परम्परागत शूरता वहां की स्त्रियों का भी धर्म था। युद्ध क्षेत्रों में राजकुमारियों के शौर्य की घटनाएं इनी-गिनी, नहीं हैं, किन्तु वे आदर्श मीराबाई ने ग्रहण नहीं किए। मीराबाई अपने समय की विशद राजनीति से निरन्तर अलग ही रहीं। उन्हें आत्मत्याग और अपने इष्ट की भक्ति में ही शान्ति मिलती रही। इसीलिए उस समय के इतिहास में उनका कोई जिक्र नहीं, किन्तु भारत के भक्त कवियों में उनका स्थान बहुत ऊंचा है और आज भी उनके सुन्दर पद देश के कोने कोने में सरल और सरस हृदय व्यक्तियों की आंखों को द्रवीभूत कर देते हैं।

उनके दैनिक जीवन के विषय में प्रायः हम कुछ नहीं जानते। उनकी राजकुलोत्पत्ति सांसारिक जीवन में उनके लिए कोई सुविधा उत्पन्न न कर सकी। यदि किंवदन्तियों में कुछ भी सत्य है तो शायद यही कहना पड़ेगा कि उनकी पवित्रता और भक्ति शासन के कोप का कारण बन गई थी और विविध यातनाएं ही उनके पल्ले पड़ी थी। दुखी होकर वे द्वारिकाधीश के पवित्र मन्दिर की शरण में चली गईं और उनके अन्तिम दिन वहीं कटे थे। उनके विषय में यही तो हमारी जानकारी है।

उनका वास्तविक व्यक्तित्व तो किस्से कहानियों के बादलों से घिरा हुआ है। पुश्तों से कवि और चारण इन किस्सों को

---

* अंग्रेजी से अनुवादित—स०

नए चमत्कारों के पुट के साथ प्रचारित और प्रसारित करते आ रहे हैं, इनमें से न जाने कितने बिलकुल निराधार हैं, यह निश्चित है। प्रचलित कथाओं के आधार पर वे महाराणा कुम्भ की स्त्री कही जाती हैं और फिर भी नाभा जी उन्हें अकबर का सम-कालीन मानते हैं। राणा कुम्भ की मृत्यु सन् १४६८ में हुई थी। उनकी कोई रानी कितनी ही कमवयस्का क्यों न रही हों, अकबर के विख्यात होने तक अर्थात प्रायः सौ वर्षों तक जीवित रह सकें, संभव नहीं जान पड़ता। एक दूसरी कथा के आधार पर प्रसिद्ध है कि वे वृन्दावन में बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव पंडित जीवगोस्वामी से मिली थीं। लोग कुम्भ और मीराबाई को एकत्रित क्यों कर देते हैं यह समझना अब कठिन नहीं रह जाता, क्योंकि राणा कुम्भ प्रसिद्ध वैष्णव थे, और कहा जाता है कि एकलिंग जी के मन्दिर के हाते में ही उन्होंने विष्णु भगवान का भी एक मन्दिर बनवाया था। वे बहुत बड़े पंडित और कवि भी थे, अतः मीरा जैसी विशिष्ट काव्य कला मर्मज्ञा महिला का महाराणा कुम्भ जैसे प्रसिद्ध शासक का संयोग उपयुक्त ही होता। महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास ने ही सबसे पहले इस ओर शंका उत्पन्न की। उनका कहना है कि इस जन-विश्वास का आधार शायद चित्तौड़ का वह छोटा सा मन्दिर है जो मीराबाईका बनवाया माना जाता है और जिनके पास ही महाराणा कुम्भ द्वारा निर्मित वह विशाल मन्दिर स्थित है। इस मन्दिर की कथा का मूल भी कुछ अनिश्चित है और आज तो यह स्थिर करना और भी असम्भव है कि मीरा और महाराणा कुम्भ के सम्बन्ध की दन्त कथा के आधार पर वह मन्दिर मीराबाई का मान लिया गया है या मन्दिर मीराबाई ने बन-वाया था—इस अनुश्रुति के आधार पर मीराबाई और महाराणा कुम्भ का सम्बन्ध स्थापित कर लिया गया है। राजपूत इतिहास के [illegible] आधार पर कविराज श्यामलदास मीराबाई को राणा सांगा के

द्वितीय कुमार भोजराज की विधवा पत्नी मानते हैं। मेड़ता के राठौर शासक रतन सिंह की वे पुत्री थीं। उन्हें त्रास देने वाले विक्रमाजीत और उदय सिंह उनके दोनों निकम्मे देवर थे।

राणा की खिन्नता की ओर भी थोड़ी सी सहानुभूति हो ही जाती है। एक बहादुर भी तो साधारणतया मनुष्य ही होता है। मीरा के असाधारण जीवन क्रम ने राज्यकुल के लोगों के मन में यदि क्रोध और उपेक्षा की भावना तरंगित कर दी हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि राणा सांगा की बधू में राजकुल परम्परागत आचार व्यवहार की उनकी आशा नैसर्गिक ही थी। स्मरण रहे कि उदयपुर में उनके भजनों के सम्पूर्ण संग्रह की कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है।

यदि मीरा का जीवन-वृत्त लेखक सामयिक प्रमाणों की अनुपलब्धि से विचलित हो उठता है तो साहित्यिक आलोचक का कार्य तो और भी टेढ़ा हो जाता है। जनसाधारण की कल्पना शक्ति ने जिस प्रकार मीरा को अलौकिक शक्तियों से युक्त कर दिया है, उसी प्रकार समीक्षा दृष्टि शून्य मीरा के भक्तों ने उनके भजनों में अन्य न जाने किनके-किनके पदों को मिश्रित कर दिया है। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि वैज्ञानिक छानबीन के आधार पर मीरा का जीवन वृत्त लिखने वाला जहां ठूंठा ही रह जायगा वहां आलोचक की सिद्धि अपेक्षाकृत काफी अधिक होगी। विचारपूर्ण समीक्षा के आधार पर मीरा के असली पद नकली पदों से अवश्य ही पृथक किये जा सकते हैं। प्राचीनतम मीराबाई के मूल पदों का संग्रह हिन्दी साहित्य के प्रत्येक प्रेमी के लिये एक परम आह्लाद की वस्तु होगी।

इसके बाद भी एक समस्या अपने हल की अपेक्षा करती है कि उस समय के चारणों की परम प्रिय डिङ्गल को छोड़कर मीरा ने हिन्दी में ही अपने भजन क्यों गाये?

मीराबाई

(प्रो० शशिभूषण दास गुप्त एम. ए., पी. एच. डी)

मन्दिर में प्रतिमा को धूप दीप इत्यादिक से आवेष्टित करने में हमारी भावना उसे प्रच्छन्न करने की नहीं होती वरन्, इस उपकरण के द्वारा उसकी महिमा को हम अधिक समृद्ध करना चाहते हैं। इसी प्रकार जो महान विभूतियां हमारे हृदयों में एक बार प्रतिष्ठित हो चुकती हैं उनके सम्बन्ध में महान जन-समूह विविध किंवदन्तियों का आरोप उन्हें आच्छन्न करने के लिए नहीं वरन्, उनकी महिमा को अधिक दिप्त बनाने के लिए कर लिया करता है। इससे महान चरित्रों की ऐतिहासिक वास्तविकता कुछ ढंक जरूर जाती है किन्तु प्रतिमावेष्ठित वातावरण अधिक सुगन्धित एवं रहस्यमय हो उठता है।

इसी से देखा जाता है कि प्राचीन तथा मध्य युग में धार्मिक एवं साहित्यिक विभूतियों का विशुद्ध ऐतिहासिक वृत्त प्राप्त करने का कोई उपाय आज उपलब्ध नहीं होता। देश के जन-समुदाय ने भक्तिपूर्ण किंवदन्तियों का चन्दन लेप इतना अधिक कर दिया है तथा अर्चा, आरती का इतना घनिष्ठ धूम्रजाल प्रस्तुत कर दिया है कि रहस्य का आवरण हटाना आज असम्भव हो गया है।

मीराबाई के सम्बन्ध में भी ठीक यही हुआ। देश-विदेश में प्रचलित उनके सम्बन्ध की जनश्रुतियों के आवरण में उनकी ऐतिहासिक सत्ता लोकोत्तर महिमा में लुप्त सी हो गई है। केवल उनकी जन्म या निधन के ही सम्बन्ध में संदिग्धता नहीं है वरन् उनके माता, पिता, पति, इत्यादि सभी के सम्बन्ध में भ्रम फैला हुआ है। बंगाल के अनेक प्रसिद्ध वैष्णव कवियों के सम्बन्ध में भी किंवदन्तियों के कारण ऐसे सशंयों की कमी नहीं। बंगाल में

मीराबाई के सम्बन्ध में नई किंवदन्तियां तो नहीं गढ़ी गईं किन्तु पश्चिम से जो कथाएं या अनुश्रुतियाँ उड़ कर यहां पहुंचीं उन्हीं के आधार पर थोड़ी सी कल्पना अवश्य कर ली गई है।

मीरा सम्बन्धी किंवदन्तियों के ढांचे पर कल्पना प्रसूत रक्त और मांस चढ़ा कर, मीराबाई के जीवन-वृत्त ने बंगाल में जो रूप धारण कर लिया है वह कुछ इस प्रकार है। मीराबाई मारवाड़ के राणा जोधा जी के पौत्र रत्न सिंह की कन्या थीं, मेड़ते के कुड़की नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ था। सिसौदिया वंश के राणा मुकुल जी के पुत्र राणा कुम्भ के साथ उनका विवाह हुआ था। जब राणाकुम्भ मीरा के साथ विवाह कर के घर लौटे उस समय राजा मान ने उनका स्वागत किया तथा चिरकुल परम्परा के अनुसार उन्होंने वर और वधू को कुल देवी * को प्रणाम करने का आदेश दिया किन्तु मीरा गिरधारी लाल रणछोड़ के अतिरिक्त किसी के सामने झुकने को प्रस्तुत न थीं। अनेक अनुनय विनय के बाद भी जब राणा मीरा के निश्चय को बदल न सके तो अन्तःपुर के पास एक कुटीर में रहने की उन्हें आज्ञा दी गई। इसी दिन कुटिया में मीरा अपने प्रिय गिरधारी लाल के प्रेम में मग्न रहने लगीं। धीरे धीरे, राणा के मन में मीरा के प्रति सन्देह उत्पन्न होने लगा और वे विविध प्रकार से उनकी परीक्षा लेने लगे किन्तु मीरा का चित्त लेश मात्र भी न डिगा। वैष्णव भक्त के रूप में मीरा की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। स्वयं बादशाह अकबर विख्यात संगीतज्ञ तान सेन के साथ उनका संगीत सुनने के लिए एक बार छद्मवेश में मेवाड़ के रणछोड़ जी के मन्दिर में उपस्थित हुए।

---

* एक मत यह भी है कि शिव प्रणाम का आदेश दिया।

राणा कुम्भ को यह समाचार ज्ञात हो गया और उन्होंने रणछोड़ जी के मन्दिर के ध्वंस करने का आदेश दिया; मीरा अपने गिरधारी लाल को सीने से लगाए हुए बाहर सड़क पर निकल आईं। अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए वे वृन्दावन आईं; वहीं रूप गोस्वामी * के साथ उनकी भेंट हुई और कृष्ण प्रेम के सम्बन्ध में चर्चा हुई। शेष जीवन उन्होंने अनेक स्थलों पर वैष्णव सन्तों के साथ उनकी कृष्ण-चरित्र चर्चा एवं भजन में व्यतीत किया। बंगला के ग्रामोफ़ोन रेकार्डों में मीरा बाई का यही चरित्र कुछ अधिक रंगीनी के साथ प्रचारित एवं प्रस्तुत किया गया है।

बंगाल में अन्य प्रचलित उपाख्यानों के आधार पर कहा गया है कि मीराबाई का विवाह उदयपुर के महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। शैशव काल से ही मीरा गिरधारी के प्रेम में रत थीं, गिरधारी को साथ लिए हुए ही विवाह के उपरान्त वे ससुराल आई थीं और यहां उनके गार्हस्थ जीवन के दश वर्ष गिरधारी की अनुरागिनी रहते हुए कटे। इसके पश्चात उनका अपने स्वामी से वियोग हो गया। राजप्रासाद में ही मीरा भजन पूजन तथा सत्संग में अपना जीवन व्यतीत करने लगीं। उनके इस जीवन क्रम में उनका देवर विक्रमजीत (विक्रम देव ?) बाधा स्वरूप उपस्थित हुआ। अपनी बहन ऊदा बाई के द्वारा राजकुल मर्यादा विरुद्ध आचरण से मीरा बाई को पृथक करने की उसने चेष्टा की। अपने प्रयत्न में असफल होकर उसने मीरा बाई के प्राण लेने के लिए ज़हर और साँप भेज था। अत्याचार पीड़िता मीरा गिरधारी का त्याग तो न कर सकीं किन्तु राजप्रासाद का त्याग उन्होंने कर दिया।*[१] कहा जाता है कि

---

* कुछ का मत है जीव-गोस्वामी के साथ

१ देखो 'मीरा बाई' श्री यामिनीकान्त सोम लिखित, प्रवासी १३२३ आश्विन।

मीरा बहुभाषा पटु थीं; तथा संस्कृत शास्त्रों पर भी उनका अधिकार था; वे ब्रज भाषा और बंगला[१] भी जानती थीं। 'नरसी जी का मायरा' और 'राग गोविन्द' इनकी रचनाएं कहीं जाती हैं। शायद जयदेव के गीत गोविन्द की एक टीका भी इन्होने की थी[२]। मीरा बाई के सम्बन्ध में ये उपाख्यान और किंवदन्तियां हिन्दी में बहुत प्रचलित हैं।

बंगाली साहित्यिक, पंडित तथा इतर जनों ने मीरा के सम्बन्ध में जो कुछ आलोचना की है उस सब का आधार बहुत अंशों में राजस्थानी किंवदन्तियों एवं हिन्दी से प्राप्त उपाख्यानों पर ही अवलम्बित हैं* । डाक्टर कालिकारंजन काननूगो ने मुन्शी देवी प्रसाद लिखित (अब अप्राप्य) 'मीरा बाई का जीवन चरित्र' तथा महामहोपाध्याय गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा कृत 'राजपूताना का इतिहास' (भाग—२) के आधार पर मीरा के पितृकुल, श्वशुर-कुल आदि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवेचन किया है** । साधारणतया अनेक प्रसिद्ध किंवदन्तियाँ केवल असंगत ही नहीं हैं वरन एक दूसरे की विरोधी भी हैं। इन सारे विरोध और तर्कों में जो आलोचना देख पड़ती है, वही सब हिन्दी साहित्य के विद्वान् और पण्डितों के

---

१ नोट :—यह मान्यता किसी प्रमाण पर आधारित नहीं—स०

२ ,, :—यह मान्यता भी खोजों के आधार पर अप्रमाणिक सिद्ध हो चुकी है—स०

* द्रष्टव्य :—प्रवासी १३२३ ब, अग्रहायण; प्रवासी, १३२३ ब, आश्विन; प्रवसी १३३६ ब, ज्येष्ठ :

** प्रवासी :—१३३८ बं०, ज्येष्ठ।

मतों में भी ज्यों की त्यों उपस्थित हैं। इसलिए इस समस्त तर्क और विचार का उल्लेख यहां निरर्थक ही होगा।

मीरा के 'भजन' बंगाल में बहुत प्रसिद्ध हैं। यहाँ तक कि 'कीर्तन गान' इत्यादि प्रसंगों में 'भजन' शब्द का व्यवहार जब हम करते हैं तो हमारा अभिप्राय मीरा के ही भजनों से होता है। यदि किसी प्रसिद्ध गायक से भजन गाने के लिए कहा जाय तो वह उसका अर्थ मीरा के भजन ही समझता है, और गायक लोग जब भजन गान सीखना प्रारम्भ करते हैं तो पहले मीरा के ही भजन सीखते हैं। किन्तु यह दुख का ही विषय है कि यहाँ मीराबाई के भजन इतने जन प्रिय होते हुए भी बंगला भाषा में मीरा के सम्बन्ध में या उनके भजनों के सम्बन्ध में प्रामाणिक आलोचना का नितान्त अभाव ही है। मीराबाई के भजनों का कोई प्रामाणिक बंगला संग्रह भी उपलब्ध नहीं*।

बङ्गाल में मीरा के भजनों का प्रचार गायकों के मुख से सुनकर ही है। कुछ वर्ष हुए मध्ययुग के हिन्दी कवियों के विषय में पडित क्षितिमोहन सेन शास्त्री महाशय के व्याख्यानों के फलस्वरूप बङ्गाल के शिक्षित लोग भी मीरा के भजनों के प्रति श्रद्धा रखने लगे हैं। श्री क्षितिमोहन जी सेन से मीरा के कई ऐसे चमत्कारपूर्णपदों का पता चलता है जो प्रायः हिन्दी के भी किसी संकलन में प्राप्त नहीं हैं। श्री सेन शास्त्री महाशय ने ऐसे

---

* लगभग तीन वर्ष पूर्व उद्बोधन कार्यालय से स्वामी वामदेवानन्द ने मीरा के छब्बीस पदों का बालकोपयोगी एक संकलन बंगला में पद्यानुवाद के साथ प्रकाशित कराया था। इसी संकलन में मीराबाई का एक संक्षिप्त जीवन चरित भी दिया गया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अनाथ नाथ बसु एम० ए० ने भी मीरा के कुछ पदों का संकलन प्रकाशित किया था।

अपूर्व पदों का संग्रह देश के कोने कोने में फैले हुए विविध वैष्णव तीर्थों में साधकों का सत्संग करके एकत्रित किये हैं†।

श्रीयुक्त सेन शास्त्री महाशय के नये संग्रह के अतिरिक्त भी बङ्गाल में मीराबाई के नाम से कुछ ऐसे पद प्रसिद्ध है जो मीरा बाई के भजनों के किसी संग्रह में नहीं मिलते। जैसे, 'नित नहान में हरि मिले तो भी' इत्यादि, कई गायकों से यह भजन बङ्गाल में बहुत दिनों से सुना जाता है, किन्तु, यह हिन्दी के किसी संग्रह में नहीं पाया जाता।

हिन्दी के विविध सम्मानित पंडितों ने मीरा के सम्बन्ध में आलोचना की है उनमें एक विशिष्ट प्रवृत्ति देख पड़ती है कि वे मीरा को वैष्णव या भक्ति सम्प्रदाय की किसी न किसी विशेष परम्परा में बांधना चाहते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण कोई मीरा पर निम्बार्क का प्रभाव देखते हैं तो कोई विष्णु स्वामी का; कोई कोई उन्हें वल्लभ सम्प्रदाय की मानते हैं। किन्तु धर्म अथवा काव्य परम्परा की किसी भी दृष्टि से मीरा को किसी सम्प्रदाय विशेष की अनुगामिनी मानने में हमें कोई सार्थकता नहीं देख पड़ती है। अपने दो एक पदों में मीरा ने स्वयं सन्त साधक रैदास को अपना

---

† सेन शास्त्री महाशय से इस प्रकार के एक भजन को जो मैंने सुना था उसका साधारण अर्थ कुछ इस प्रकार है—"हे गिरधारी मैं तो एक वंश (बांस और कुल) की खंड मात्र थी, तुम मुझे उससे पृथक कर लाए, तुमने मेरे खण्ड खण्ड किए, दुख की अग्नि से दग्ध करके मेरी विविध ग्रन्थियों को (मन की ग्रन्थि और बांस की गांठ) तुमने छिन्न-भिन्न कर डाला, वेदना के पीड़ा से तुमने मुझमें सप्त छिद्र कर दिये, हे गिरधारी, मेरा जीवन आज सफल हो गया क्योंकि इसी अवस्था में तो मैं तुम्हारे अधरों को स्पर्श कर सकी, जिनसे फूंक कर तुमने मेरे शरीर में उस वायु का संचार कर दिया जो मेरी वेदना के रूप में सप्तस्वरों से फूट पड़ी।"(पृ. ८)

सम्पूर्ण पद आगे उल्लिखित होगा।

गुरू कहा है, किन्तु इसी के आधार पर मीरा को किसी सम्प्रदाय विशेष की समझ लेना उचित न होगा। हमें तो जान पड़ता है कि रैदास के सम्पर्क से मीरा ने कोई साधन प्रणाली प्राप्त की होगी, जो मध्ययुग के साधकों में साधारण रूप से प्रचलित थी या रही होगी।

वास्तविकता तो यह है कि मीरा के गीत उन्मुक्त आकाश में विहार करने वाले स्वच्छन्द पक्षी के गान हैं। उनमें साम्प्र-दायिक परम्परा की चेष्टा असंगत है। किन्तु, हमारी पांडित्यपूर्ण बुद्धि का यह साधारण धर्म है कि वह स्वच्छन्द पक्षी को आकाश में स्वच्छन्द विहार करते देखकर तृप्त नहीं होती, जैसे तैसे उसे किसी मतवाद के पिंजड़े में बन्द करके ही हमें सन्तोष होता है। इसीलिए मीरा का संस्कारवर्जित स्वाधीन प्रेम या उसकी स्वच्छन्द कवि प्रेरणा हमें किसी प्रकार भी ग्राह्य नहीं होती और हम उसे सम्प्रदाय के आवरण में आवेष्टित करना चाहते हैं।

लेकिन इस उपर्युक्त क्षेत्र के विषय में भी एक बात है कि साहित्यिक स्वाधीनता का यह अर्थ नहीं कि कवि की व्यक्तिगत सत्ता वृहत् सामाजिक सत्ता से नितान्त विलग हो। कवि की काव्य सृष्टि में उसके व्यक्तित्व की सत्ता की अपेक्षा सामाजिक सत्ता ही अधिक प्रादुर्भूत होती हैं, यह तर्क का विषय हो, किन्तु समाज सत्ता का अपनी महानता के बावजूद भी व्यक्तिगत भी सत्ता उससे विच्छिन्न नहीं हो सकती, इनमें कोई मतभेद नहीं। मीरा के भजनों में भी हम ठीक यही देखते हैं। इनमें मीरा के स्वच्छन्द विहारी विहगस्वर के साथ ही राष्ट्र जीवन का धर्म, साहित्य तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि लगी हुई है। मीरा का मन जाने या अन-जाने अपने चारों ओर फैले हुए अनेकों भाव विचार, एवं प्रचलित भाषा रूपों की लिए हुए है। मीरा ने मध्ययुग के संत साधकों

एवं वैष्णव भक्तों के सत्संग से बहुत कुछ ग्रहण किया था। यह भी सम्भव है कि अनेक प्राचीन विचारधाराएं भी उनके विचारों में सम्मिलित हो गई हों। इसीलिए अनेक साधक एवं कवियों के साथ मीरा की समानता है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि मीरा का अपना स्थान स्वतंत्र एवं अलग है, किन्तु ज़रा ध्यान देने से ही ज्ञात हो जायगा कि उनकी उक्तियों में कितनी ही ऐसी अभिव्यक्तियां हैं जो मध्यकालीन साधकों की उक्तियों में साधारण रूप से पाई जाती हैं, इसी कारण इन स्थलों का बंगाल के वैष्णव कवियों की रचनाओं के साथ बड़ा साम्य है। जैसे मीरा का एक पद है—

आऊं आंउ कर गया सांवरा, कर गया कौल अनेक।
गिनते गिनते घिस गई उंगली, घिस गई उंगली की रेख॥

एक और स्थल पर वे कहती हैं—

आवन कह गए अजहूँ न आए, दिवस रहे अब थोरी।
मीरा कहे प्रभु कब रे मिलोगे, अरज करूं कर जोरी॥

एक और पद में कहती हैं—

देश विदेश संदेश न पहुंचै, होय अंदेशा भारी।
गिनतां गिनतां घिस गई रेखा आंगुरिया की सारी॥
अजहूं न आये मुरारी।

इनके साथ चण्डीदास की निम्नलिखित पंक्तियों की तुलना कर सकते हैं:—

सखि रे मथुरा मंडले पिया।
असि असि बलि पुनि न आसिल
कुलिश - पाषाण हिया॥

आसिवार आशे लिखिनु दिवसे
खोयाइनु नखेर छन्द।
उठिते बसिते पथ निरीखते
दु आँखि हइल अन्ध ॥

* * * *

काल बले काला गेल मधुपुरे
से कालेर कत बाकी ।

इस प्रकार के वर्णन ज्ञानदास, गोविन्ददास आदि प्रायः सभी वैष्णव कवियों में पाए जाते हैं । जैसे ज्ञानदास कहते हैं—

माधव कैछन वचन तोहार
आजि कालि करि दिवस गोंयाइते
जीवन भेल अतिभार ॥
पन्थ नेहारिते नयन अंधाउल
दिवस लखिते नख गेल।
दिवस दिवस करि मास बरिख गेल
बरिखे बरिख कत भेल ।
आउब करि करि कत परबोधब
अब जीब धरई ना पार ।
जीवन मरण अचेतन चेतन
नितिनिति भेल तनु भार ॥

गोविन्ददास को भी देखिए,—

पराण पिया सखि हामारि पिया ।
अबहुँ न आउल कुलिश हिया ।
नखर खोआलु दिवस लिखि लिखि।
नयन अंधायलु पियापथ देखि ॥

मीरा के भजन में—

जब से मोहि नन्दनन्दन दृष्टि पड़्यो माई ।
तब से परलोक लोक कछु ना सोहाई ।

गोविन्ददास की राधा कहती है—

आधक आध आध दिठि अंचले
जब धरि पेखलूं कान
कत शत कोटि कुसुम शरे जर जर
रहत कि जात पराण ॥

मीरा ने कहा है कि वे श्रीकृष्ण के लिए जोगिन बनकर घर घर अलख जगाती फिरेंगी—

जोगिया तू कबरे मिलोगे आई ।
तेरे ही कारण जोग लियो है, घर घर अलख जगाई ॥

उस समय प्रायः भारतवर्ष भरमें नाथ पंथी जोगियों का प्रभाव फैला हुआ था, उसकी झलक बंगाल के कवि गोविन्ददास में भी गोरख और अलख जगाने की ध्वनि में देख पड़ती है । *

अन्यत्र भी मीरा गिरधारी के लिए जोगिन का वेश धारण करने की इच्छा करती हैं ।

जोगिन हुई जंगल सब टेरूं तेरा न पाया भेस ।
तेरी सूरत के कारणे धर लिया भगवा भेस ।

फिर—

जा तन ऊपर भसम रमाऊं, खोर करूं सिर केस ।
भगवां भेख धरूं तुम कारण ढूंढत च्यारू देस ।

---

* गोरख जागाई शिंगाध्वनि सुनइते
जटिला भिख आनि देल । इत्यादि

ज्ञान दास की कविता में भी विरहिणी राधा कहती हैं ।

मुड़ाब माथार केश धरिब जोगिनी वेश
यदि सोई पिया न आइल ।
पहेन जौबन परश रतन
काचेर समान भेल ।
गेरुआ बसन अंगुते परिब
शंखेर कुंडल परि ।
योगिनीर वेशे जाब सेई देशे
जेखाने निठुर हरि ॥

मीरा का बिरह विविध रूपों में 'बारहमासी' सा है। बंगला साहित्य में भी वैष्णव काव्य, मंगल काव्य, गाथा काव्य आदि में नायिकाओं का विरह सर्वत्रही 'बारहमासी' है।—

जैसा ऊपर कहा जा चुका है मीराबाई के काव्य में और बंगला वैष्णव काव्य में जो पूर्ण साम्य है उसका कारण है कि इनका उद्‌भव भारतीय धर्म एवं साहित्य के एक ही भंडार से हुआ और कवियों ने जाने या अनजाने उसमें प्रस्तुत भाव भंगियों को ग्रहण कर लिया ।

मीराबाई के पदो में कहीं कहीं मध्ययुग के प्रसिद्ध संत कवियों की उक्तियों की झलक भी देख पड़ती है। मीराबाई की 'सखी री मैं तो गिरिधर के रंग राती' का जितना साम्य कबीर के पद में देख पड़ता है (?) उतना अन्य संत कवियों के पदों से नहीं। कहीं कहीं कुछ भावनाओं और साधना का भी साम्य देख पड़ता है। संत कवियों की एक विशेषता थी कि वे धर्म के क्षेत्र में सहज पंथी थे; अर्थात पाण्डित्य, शास्त्र, ज्ञानादि तथा विविध प्रकार के आचार अनुष्ठानों द्वारा वे मनुष्य की धार्मिक भावनाओं के बंधन बांध कर नहीं रखना चाहते थे । सहज प्रेम की साधना द्वारा

जीव को बंधन मुक्त करना चाहते थे। इसी ध्वनि को हम मीरा के पदों में बिखरी हुई पाते हैं।—इस रूप में मीरा भी रागानुगामिनी साधिका थीं। इसी ध्वनि से पूर्ण मीरा का एक पद बंगाल में अत्यन्त प्रसिद्ध है, किन्तु आश्चर्य है कि हिन्दी में मीरा के पदों के किसी भी संकलन में हम इसे नहीं पाते। बंगाल में इस पद के कई पाठ प्रचलित हैं, किन्तु सर्वाधिक जो प्रचलित हैं, वह है—

> नित नहान से हरि मिले तो जलजन्तु होइ।
> फलमूल खाके हरि मिले तो बादुर बंदराई।
> तिरन भखन से हरि मिले तो बहुत मृग अजा।
> स्त्री छोड़ के हरि मिले बहुत रहे खोजा।
> दूध पीके हरि मिले तो बहुत वत्स-बाला।
> मीरा कहै बिना प्रेम से न मिले नन्दलाला॥

यह पद मीरा का है अथवा नहीं इसमें भले ही सन्देह हो किन्तु इस पद की ध्वनि तो शुद्ध रूप से मीरा की ही है इसमें कोई सन्देह नहीं है (? स०)। इसी भावना को हम भारत के 'सहजिया' सम्प्रदाय की भावना कहते हैं। विविध युग में, विविध प्रान्तों के 'सहज सम्प्रदाय' के साधकों के गीतों में यह स्वर हम सुन चुके हैं। बौद्ध सहजियापंथ के पदों से प्रारम्भ होकर विविध भाव एवं प्रणालियों के माध्यम से सन्त और सूफी कवियों के पदों में और बङ्गाल के वैष्णव-सहजिया और बाउलपंथियों के गीतों में यही भाव हम पाते आए हैं।

इसी का आभास मध्ययुग के साधकों की "शब्द साधना" (अनाहत योग) तथा अन्य प्रकार की योग साधना करनेवालों के दो चार पदों में भी मिलता है। यह साधना प्रणाली इसी काल के यहां के योगियों की साधारण साधन पद्धति थी। बंगाल बाउल, सूफी और नाथपंथी साधकों के ग्रंथों में भी इस सा का विविध उल्लेख मिलता है।

संत कवियों की भांति मीराबाई ने भी अनेक स्थलों पर अपने परम प्रेमास्पद को 'राम' नाम से सम्बोधित किया है (?)। ये राम कोई विष्णु के अवतार राम नहीं थे, वरन् थे वह राम जो हमारे अन्तर्यामी के रूप में निश-दिन साथ रहते हैं और हमारे साथ लीला अथवा रमण करते हैं। कबीर, दादू यहां तक कि सिक्खों के गुरु नानक साहब तक ने इसी व्यापक अर्थ में 'राम' शब्द का व्यवहार अपने अनेकों दोहों और पदों में किया है।

कबीर ने जहाँ कहा है—

"नैनों रमैया रमि रह्या, दूजा कहां समाय।" वहाँ उनका तात्पर्य 'राम' से क्या है वह 'रमैया' शब्द से स्पष्ट है। मीरा ने भी इसी अर्थ में राम अथवा रमैया का प्रयोग किया है। निम्नलिखित पद से ही यह अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

रमैया मैं तो थारे रंग राती।
औरों के पिय परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हिरदे बसत है, हौं गूंज करूं दिन राती।
चोवा चोला पहिर सखीरी, मैं झुरमुट रमवा * जाती
झुरमुट में मोंही मोहन मिलिया, खोल मिलूं गल बाटी॥

यही रमैया ही मीरा के राम हैं, वे ही फिर मीरा के 'गिरधर' भी हैं। इन्हीं 'राम' या 'रमैया' के सम्बंध में मीरा एक स्थल पर कहती हैं—

रमैया बिन नींद न आवे।
नींद न आवे विरह सतावे, प्रेम की आँच ढुलावे।
बिन पिय जोत मन्दिर अंधियारो, दीपक दाय न आवे॥
पिया बिन मेरी सेज अलूणी, जागत रैन बिहावै।
पिया कब रे घर आवै।

यहाँ 'रमैया' के रूप में राम का अर्थ स्पष्ट है।

---

* खेलन

मीरा की विशेषता है प्रेम साधना में । इसी प्रेमसाधना के कारण उन्हें निम्बार्क, विष्णुस्वामी, बल्लभ इत्यादि सम्प्रदायों में सम्मिलित करने की चेष्टा की गई है, किन्तु साम्प्रदायिकता के रंग से अछूते, मीरा के पदों की आलोचना से स्पष्ट हो जाता है कि वे सर्वथा सम्प्रदाय मुक्त थीं। निम्बार्क, विष्णुस्वामी, और बल्लभ सम्प्रदाय का आधार राधाकृष्ण की भक्ति था, अतः मीरा को उक्त सम्प्रदायों से युक्त करने की चेष्टा उचित नहीं जान पड़ती। वास्तव में मीरा के पद राधाकृष्ण की प्रेम लीला के आधार पर नहीं हैं। वरन, उनके भजनों में प्रतिष्ठित उनका रमैया या गिरधारी से व्यक्तिगत अपार बिरह ही उनेकी प्रेरणा का आधार है। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं को लेकर वैष्णव काव्य की सर्वप्रथम सृष्टि जयदेव के गीत गोविन्द में बंगाल (?) में ही हुई थी। उसी समय से बंगाल में वैष्णव धर्म का जो उत्थान हुआ था, उसका मुख्य अवलम्ब था राधाकृष्ण का प्रेम। इसी राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर बंगाल में एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण तथा साधना मार्ग उठ खड़ा हुआ था। इस नवीन दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि थी नित्य-लीला, उसी लीला का रसास्वादन करना ही था सब साधकों का लक्ष्य। बंगाल के समस्त वैष्णव काव्य का आधार है यही नित्य लीला। इसीलिए इसे (नित्यलीला को) भलीभांति समझ लेना चाहिए।

गौड़ीय वैष्णव मत के अनुसार पूर्णभगवान श्रीकृष्ण की तीन शक्तियां हैं, अंतरंगिनी-स्वरूपा-शक्ति, तटस्था जीवशक्ति, एवं बहिरंगिनी मायाशक्ति। स्वरूपा शक्ति के आधार पर वे स्वरूप में निवास करते हैं, स्वरूप को जानते हैं, एवं स्वरूप का ही आस्वादन करते हैं। जीव-शक्ति के आधार पर वे जीवस्रष्टा हैं, और उनकी आश्रयभूता मायाशक्ति इस बहिर्विश्व की रचनाकर्त्री है। श्री कृष्ण

के स्वरूप की तीन बिभूतियां हैं,—सत्, चित्, और आनन्द। इन तीनों विभूतियों की आश्रिता उनकी स्वरूपाशक्ति तीन तरह की हैं। 'सत' अंश को लेकर 'संधिनी' है, 'चित' अंश को लेकर 'समवेत' कारिणी है, और 'आनन्द' अंश को लेकर आह्लादिनी है। इसी आह्लादिनी शक्ति के विग्रह रूप का नाम राधा है। वास्तव में राधा की कोई पृथक सत्ता नहीं, वह केवल 'कृष्ण-प्रणय-विकृति-ह्लादिनी शक्तिः' आनन्दमय प्रेममय पुरुष श्री कृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति को ही मानो अपने से पृथक कर के राधा के द्वारा अपने ही माधुर्य रस का आस्वादन करते हैं; उन्होंने अपने को ही आस्वाद्य और आस्वादक में विभक्त कर दिया है। स्वयं को इस प्रकार दो भागों में विभक्त करके, गोलोक धाम बृन्दावन में उनकी आत्मरति की नित्य लीला निरंतर परिचालित हो रही है। राधाकृष्ण की लीला का यही मूल तत्व है। बंगाल के वैष्णव जन उनसे मिलकर एकाकार हो जाने की आकांक्षा कभी नहीं करते, वे केवल राधाकृष्ण की नित्य 'अप्राकृत' (?) लीला का रस सखि या सहचर के भाव से आस्वादन करना चाहते हैं। इसी लीला रस का आस्वादन ही उनके जीवन की एक मात्र कामना है। बंगदेश के वैष्णवकवि भी इसी आदर्श से प्रेरित हैं। बंगाल के आदि वैष्णव कवि जयदेव ने अपने पहले ही श्लोक में कहा है—

"राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।" यमुनातट पर होने वाले राधामाधव की केलिसमुच्चय की जय हो। इसी लीला का जब कीर्तन, तथा दूर से उस लीला का आस्वादन, यही इस कथा का मूल है। बंगाल के चंडीदास ने भी कहा है—राधा कृष्ण का जब बृन्दावन के कुंज में मिलन होता है तब "पाशे रहु चंडी-दास"; एक किनारे रहकर वे भी उसी लीला का आस्वादन करते हैं। चैतन्य के परवर्तीकाल के वैष्णव कवियों की यही मुख्य विचार-

धारा है। इसलिए इन कवियों की कविताओं में जिस प्रेम लीला एवं विरह तथा मिलन का परिदर्शन होता है वह कवि के व्यक्तिगत जीवन के विरह एवं मिलन की ध्वनि नहीं है, वरन वह है राधा और कृष्ण के विरह तथा मिलन की। अन्ततः कविहृदय की अपनी आर्ति (शायद वेदना—सं०) राधा और कृष्ण की यवनिका के पीछे ढक गई है। मिथिला के कवि विद्यापति, सूर दास तथा अष्ट छाप के अन्य कविगण इसी लीला रस के आस्वादक और प्रचारक थे। किन्तु इसी स्थल पर वैष्णव कवि के नाते मीरा बाई का अन्य वैष्णव कवियों के साथ मूल अन्तर है। मीरा की अपनी निजी आर्ति (वेदना) राधाकृष्ण की प्रेमलीला के आवरण में किंचित मात्र भी नहीं ढक सकी। उन्होंने जिस प्रेम का उल्लेख किया है, वह उनका अपना अपने 'प्रियतम' के लिए प्रेम है जो 'प्रीतम' है उनके 'जनम मरन का साथी'। यही मीरा के गान में उनकी निजी अनुभूति का जो अपरोक्ष रूप है, वह अन्य किसी वैष्णव कवि में नहीं मिलता। यही कारण है कि प्रेम के प्यासे साधू सन्त जब भजन गान करना चाहते हैं; तब स्वभावतः मीरा के ही भजन गाते हैं। बङ्गाल में भी नाना प्रकार के भजन कीर्तनों का प्रचलन है और वैष्णव समाज में वैष्णव कवियों के लीला कीर्तन का भी विशेष समादर है किन्तु धर्म सभाओं में भजन गान का अर्थ हम मीरा के भजनों से ही समझते हैं।

मीरा के भजनों की समीक्षा करने के बाद हम देखेंगे कि उन्होंने राधा का उल्लेख बहुत कम किया है। दो एक पदों में ही राधा का उल्लेख मिलता है, कहीं कहीं दो एक स्थलों पर राधा का आभास है। जहां कहीं राधा का उल्लेख भी है, वहां भी राधा-कृष्ण की प्रेम लीला के रस के आस्वादन का कोई ज़िक्र नहीं गोपालकृष्ण की लीलाओं के वर्णन में ही उनका उल्लेख है।

जैसे—

आली म्हाँने लागे बृन्दावन नीको।

... ...

कुंजन कुंजन फिरत राधिका सबद सुनत मुरली को।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

अथवा—

हमरो प्रनाम बांके बिहारी को।
मोर मुकुट माथे तिलक विराजे कुँडल अलका कारो को॥
अधर मधुर पर बंशी बजावै रीझ रिझावै राधा प्यारी को।
यह छवि देख मगन भई मीरां मोहन गिरवरधारी को॥

अथवा—

माई री मैं तो गोविन्दा लीनो मोल।

... ...

कोई कहे घर में, कोइ कहे बन में राधा के संग किलोल।
मीरा कूँ प्रभु दरसण दीज्यो पूरब जनम को कोल॥

दो एक पदों में यद्यपि मीरा ने राधा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, केवल अपनी ही प्रेम विह्वलता का वर्णन किया है, तथापि उनकी वर्णनाभङ्गी में राधा का आभास तो है ही।

जैसे—

नैना लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रोम रोम नखसिख सब निरखत, ललच रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी गृह आपणे रे, मोहन निकसे आय।
सारंग ओट तजे कुल अंकुस, बदन दिये मुसकाय॥
लोक कुटुम्बी बरज बरजही, बतियाँ कहत बनाय।
चचल चपल अटक नहिं मानत, पर हाथ गये बिकाय॥

भली कहो कोई बुरी कहो मैं, सब लई सीस चढ़ाय ।
मीरा कहे प्रभु गिरधर के बिन, पल भर रह्यो न जाय ॥

इस में मीरा का प्रेम तथा उसकी अभिव्यक्ति स्वतः ही अन्य वैष्ण कवियों द्वारा वर्णित राधा प्रेम की स्मृति जागृत कर देगी। किन्तु इसमें विशेषता यह है कि यहां मीरा स्वयं ही राधा हैं, राधा के रूप में हो उनकी साधना है। एक तो चैतन्यमहाप्रभु ने राधा की भावना से स्फुरित होकर कृष्ण चिन्तन किया था और दूसरे मीरा बाई ने भी राधा के ही भाव से कृष्ण की साधना की थी और उसी भाव से अनुप्राणित होकर उन्होंने संगीत रचना की थी। इन्हें छोड़कर और किसी कवि ने (?) राधा के भाव से प्रेरित होकर रचना नहीं की। मीरा की यह राधा भाव की प्रेरणा ही उनके संगीत में असाधारण रूप से प्रत्यक्ष है। इसी कारण से उन उन्मुक्त असम्प्रदाय बद्ध वैष्णवों की वेदना के साथ मीरा की वेदनापूर्ण भावना का नैसर्गिक साम्य स्थिर हो जाता है। इसी से राधा की भावना की एकान्तिक प्रेरणा से उद्भूत होकर वैष्णव पदावली में वर्णति विरह उन्मादिनी महाभावस्वरूपा राधा की भांति जहां वे कहती हैं—

सखी मोरी नींद नसानी हो ।
पिया को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो ॥
सखियन मिलके सीख दई, मन एक न मानी हो ।
बिन देखे कल ना पड़े, जिय ऐसी ठानी हो ॥
अगंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो ।
अन्तर वेदन बिरह की बह, पीर न जानी हो ॥
ज्यों चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो ।
मीरा व्याकुल विरहिनी, सुध बुध बिसरानी हो ॥

के लिये ज्यादती मतकरो, सचमुच में मैंने स्वयं ही उससे विवाह किया है।" इसके बाद से आण्डाल रंगनाथ जी के मन्दिर में ही रहती थीं और आजीवन उन्होंने रंगनाथ जी को अपना एकमात्र स्वामी समझकर वरण कर लिया था।

आण्डाल रचित "तिसप्पाबाई" (?) में यह देखा जाता है कि आण्डाल बहुत सवेरे ही उठकर सब सखियों को जगाकर शंख एवं घन्ट -ध्वनि द्वारा बालक श्रीकृष्ण को नींद से जगाती हैं। बालक श्रीकृष्ण की सेज के चारों ओर सब सखियों के साथ मिलकर जो आरज़ू मिन्नत करती हैं; सचमुच में वह बहुत ही मर्मस्पर्शी है। आण्डाल कहती हैं—

"रम्यभुवन के नृपति जिस प्रकार गर्वहीन भाव से तुम्हारे शय्यासन के चारों ओर खड़े होते हैं, हम भी उसी प्रकार तुम्हारे पास उपस्थि हुई हैं। हमारे गान से क्या तुम्हारे नयन-कमल धीरे धीरे नहीं खुलेंगे? तुम्हारी जिस दृष्टि से चन्द्र-सूर्य उदित होते हैं, उसी दृष्टि से केवल एक बार ज़रासा देखलेने पर हम पर जितने भी अभिशाप हैं,—सब मिट जायगे।"*

एक और स्थलपर आण्डाल अपने को अबोध ग्वालिन समझ-कर कृष्ण से कहती हैं,—

"धेनुसमूह लेकर हम गहन वन में विचरण करती हैं—वन में ही हम भोजन करती हैं—हमलोग अबोध आभीर जाति के हैं, आपने हमारे कुल में जन्म लिया है—यही हमारे लिये चिर वरदान है। हमारे साथ तुम्हारी यह आत्मीयता जिसका, हे गोविन्द! कोई अन्त नहीं, हमारे साथ जो तुम्हारी प्रीति है उसकी धारा यहीं शेष होने वाली नहीं है। प्रेम के आवेश में तुम्हारे शिशुनाम से यदि हम कभी तुम्हें पुकारें तो तुम रुष्ट न होना, हमलोग तो शिशुके समान अनजान हैं—हमें कभी दोषी न समझना।" †

---

* I S M. Hoopes की Hyms of the Alvars.

† द्रष्टव्य I. S M Hoopes की Hyms of the Alvars.

यही आण्डाल अपने चरित्र और प्रेम साधना से युक्त जो मीराबाई की पूर्व प्रतिमूर्ति के रूप में अवस्थित है, उसे अधिक प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है।

विभिन्न युगों के विभिन्न भक्त कवियों की साधना की पृष्ठ-भूमि पर रचित होकर भी मीरा की प्रेम मूर्त्ति अपनी स्वन्त्रता और महिमा से देदीप्यमान है। उसी महिमा की छाप भारतवर्ष भर के तमाम भक्त और साहित्यानुरागियों के मन पर पड़ी है। साहित्य के साथ धर्म का अविछिन्न बन्धन भारतीय साहित्य की बड़ी विशिष्टता है,—यह बन्धन कितना निविड़ और मधुर हो सकता है—इसका स्पष्ट परिचय हमें मीरा के संगीत में मिलता है।

मध्य एवं आधुनिक युग की काव्यानुगत वेदनानुभूति

[श्री शरत चन्द्र कौशिक]

"श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो सब दिव्य गुणों से सम्पन्न हो कर पुरुषोत्तम कहलाते हैं। आनन्द का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है। अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषो-त्तम कृष्ण की सब लीलायें नित्य हैं, उनके गोलोक की इन क्रीड़ाओं के नित्य रूप में ही यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ हैं। भगवान की इस 'नित्य लीला सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सब से उत्तम गति है।" वैष्णव सम्प्रदाय में इन्ही पुरूषोत्तम श्री-गोपालकृष्ण की भक्ति का श्रोत एक बार भारत के दक्षिण तथा उत्तरपूर्व भाग में प्रवाहित हुआ था। उस श्रोत की लहरें अन्य दिशाओं में भी पहुंचीं; परन्तु रूपान्तर—समन्वित। इस भक्ति की विशेषता ने भक्तों का ऐसा समूह उत्पन्न किया जिसने भक्ति के

प्रचार में कुछ भी उठा नहीं रक्खा । ईश्वरत्व का दिग्दर्शन कराने में उस समूह ने मानवीय प्रवृत्तियों को इतना महत्व दिया कि भक्तगण कृष्ण को ही पति मान कर उनकी भक्ति की साधना में लीन हो गए । ऐसे भक्तों ने अपने काव्यामृत द्वारा भारतीयों को कृतार्थ करने की चेष्टा की, और आज भी हमारे बीच उन्हीं की मंजुल पदावलियाँ भक्ति-रस उड़ेलती हुई हृदय को मुग्ध किया करती हैं । इसी कृष्ण-भक्ति परम्परा से प्रभावित जो भक्त श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति में आसक्त हुए उनमें भक्त—शिरोमणि मीरां का नाम विशेष उल्लेखनीय है । हिन्दी के प्राचीन काव्य तथा साहित्य में मीराँ के पदों का कितना महत्व है, उनके सुमधुर पदों ने कितनी लोक प्रियता प्राप्त की है, यह किसी भी भारतीय, से छिपा नहीं है । मीराँ के पद हिन्दी साहित्य की अभूतपूर्व निधि हैं । तुलनात्मक दृष्टि से यदि हम किसी व्यक्ति अथवा रचना की किसी अन्य व्यक्ति अथवा रचना से तुलना करना चाहें तो यह न तो न्याय संगत ही है और न उचित ही । फिर भी जीवन की विशेष अनुभूतियों को आंकने एवं रचनाओं की साहित्यिक विशेषता जानने के लिये यह अनुपयुक्त भी न होगा । अतः इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए मीराँ की रचनाओं की तुलना आधुनिक वेदनोद्भूत रचनाओं से करने की चेष्टा करेंगे ।

जीवात्मा ने परमात्मा से वियोगानुभव किया और तब मिलने की इच्छा प्रबल हुई । भिन्न भिन्न मार्गों द्वारा उस आज्ञात तक पहुंचने का प्रयत्न किया १—तर्क वितर्क और ज्ञान विज्ञान के सहारे (२) कर्त्तव्य करते हुए कर्म योगी बन कर और (३) आत्म विस्मृति और आत्म समर्पण के द्वारा अपने इष्ट की सहानुभूति को आमन्त्रित करते हुए । प्रथम दो मार्ग शुष्क, एकांत और वैयक्तिक होने के कारण अधिक लोक प्रिय नहीं हो पाये । वे साधारण जनता के लिये दुरूह ही बने रहे । किन्तु तीसरे वर्ग की

साधना सरस, सार्वजनिक और व्यवहारिक होने के कारण सर्व साधारण में अत्यधिक प्रचलित हुई। कोई दर्शन के गहन तत्वज्ञान मानकर इष्ट सिद्धि की ओर अग्रसर हुए और कोई काव्य और संगीत के सहारे भगवान् पुरुषोत्तम के साकार रूप का अनुभव करते हुए चिर ब्रह्मानन्द की साधना में संलग्न हुए। पहिली साधना जिसकी वस्तुस्थिति उपनिषद् और वेदांत आदि में सन्निविष्ट है, प्रज्ञात्मिका कही जा सकती है। और दूसरी रागात्मिका है; जो भावुक कवियों की कविताओं में एवं सिद्ध गायकों के गानों में ओतप्रीत है। मीराँबाई दूसरी कोटि की साधिकाओं में से थीं।

अपने पदों में मीराँ कृष्ण के जिस मधुर स्वरूप को लेकर चली हैं वह हास विलास से परिपूर्ण अनन्त सौंदर्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालम्बन के सम्मुख मीराँ का हृदय निराले प्रेम-लोक में फूलाफूला फिरता है। उनके नेत्र उसी की छबि की ओर अटक कर रह गये हैं।—

"निपट बंकट छबि अटके
मोरे नैना............
देखत रूप मदन मोहन को पियत पीयूख न मटके"

फिर वे जो अपनी भक्ति के रंग में ही मस्त रहने वाली हैं। मोहन के रूप, माधुर्य, एवं लावण्य में इतनी आसक्त हैं कि अपना तन, मन और धन सब कुछ उस पर अर्पण कर देती हैं —

"या मोहन के रूप लुभानी
सुन्दर वदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मन्द मुसकानी
तन मन धन गिरधर पर वारूं चरण कमल मीराँ लपटानी"

आधुनिक युग की महादेवी वर्मा यद्यपि अपने क्षेत्र में प्रणाली के आधार पर, आत्माभिव्यंजना की दृष्टि से, तथा अपने साध्य (अज्ञात प्रियतम) की ओर जिस रूप में तादात्म्य स्थापित करने के लिये अग्रसर होती हैं, भिन्न हैं, फिर भी उनकी एकनिष्ठता में भी एक प्रफुल्लता है और मस्ती भी। उनकी आत्मा को भी चिर आनन्द की अनुभूति होती है अपने प्रियतम के मुस्कराने पर। किन्तु अपने आनन्द को व्यक्त करने का ढंग उनका अपना ही है।—

मधुरिमा के मधु के अवतार
सुधा से सुषमा से छविमान
आंसुओं में सहमे अभिराम
तारकों से हे मूक अजान
सीखकर मुसकाने की बान।
कहां आये हो कोमल प्राण ?
चांदनी का श्रृङ्गार सिमेट
अधखुली आंखों की यह कोर
लुटा अपना यौवन अनमोल
ताकती किस अतीत की ओर ?
जानते हो यह अभिनव प्यार
किसी दिन होगा कारागार ?

मीरां की प्रेम-साधना पर परिस्थितियों का प्रभाव था और युग धर्म के अनुसार मीरां अपने हृदय को अपने पूज्य पति की स्मृति की ओर न ले जाकर देवकी-पुत्र कृष्ण के प्रति व्यक्त करती हैं—"प्रिय के पलंगा जा पौढूंगी, मीरा हरि रंग राचूंगी" और इसके उपरान्त तो अपनी आत्मा तक को कृष्ण में लीन कर देती हैं, फल स्वरूप स्वप्न में भी अपने प्रियतम को नहीं भूलतीं…

"सोवत में ही पलका मैं तो पल लागी, पल में पिऊ आये।
मैं जो उठी प्रभु आदर देन को, जाग परी पिऊ ढूंढ़े न पाये"

आधुनिक युग की महादेवी वर्मा मीरा की तरह साकार कृष्णोपासना में तो लीन नहीं, किन्तु फिर भी अपने अपरिचित अज्ञात प्रियतम को जिस रूप में अनुभव करती हैं, वह प्रणाली उनकी अपनी है। उनका प्रियतम इस शाश्वत संसार की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। उनका हृदय तदाकार होने के लिये रागात्मका प्रवृत्तियों के सांचे में ढल कर प्रियतम तक पहुंचने का प्रयत्न कर रहा है। वे भी स्वप्नचर्चा में लीन हैं। जहां मीरा ने स्वप्न देखा है वे स्वप्न देखना चाहती हैं; अज्ञात प्रियतम को स्वप्न में बांधने के लिये प्रयत्नशीला हैं...

"तुम्हें बांध पाती सपने में
तो चिरजीवन प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में"

फ़िर तो उनकी आशायें, आकांक्षाएं एवं अभिलाषायें उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं—

"मधुर राग बन विश्व सुलाती
सौरभ बन कण कण बस जाती
भरती मैं संसृति का क्रन्दन
हंस जर्जर जीवन अपने में
सबकी सीमा बन सागर सी
हो असीम आलोक लहर सी
तारों मय आकाश छिपा
रखती चंचल तारक अपने में।"

भारतीय साहित्य में प्रेम का जो चित्रण किया गया है, वह क्षणिक दर्शन जन्य प्रेम का नहीं; वह बहुत दिनों के सहवास का

परिणाम है। सूफ़ी कवियों की तरह देखते ही वियोगाग्नि में जलने वाला भी नहीं, और न पाश्चात्य कवियों की तरह Love at the first sight वाले प्रेम का अतिरंजनात्मक अभिव्यंजन ही है। मीरां का प्रेम तो जन्म जन्म का साथी होने वाले का है। "भारत में प्रेम का पूर्ण परिपाक परकीया के ही धार्मिक वेश में देखा गया"। कुछ समालोचक इस आधार पर मीरां को कृष्ण की अनुचरी या गोपिका आदि ठहराते हैं। किन्तु मीरां तो कृष्ण की पत्नी के रूप में हैं। उनकी उपासना माधुर्य भाव की है; अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भक्ति प्रियतम या पति के रूप में करती हैं—। "उनका जीवन पुनीत प्रेम का रोचक इतिहास है। गोपिका वल्लभ, गिरधर की मधुर स्मृति जिसकी कथा वस्तु है, यातनाओं का आराधन जिसके अध्याय हैं, और राग रंजित स्वर लहरी जिसकी शृंखला है, संगीत जिसकी काव्य-कला की विशेषता है; और काव्य कला जिसके संगीत प्रेम को उल्लसित करती है।" आज जिस तरह शंकर का ज्ञानवाद कठिन जान पड़ता है; उसी प्रकार समाज राधा-कृष्ण की केलि को अश्लील कह सकता है। किन्तु मीरां पर ऐसे लोग मिथ्या दोषारोपण ही करते हैं। उनकी प्रेम साधना में ज्ञानवाद की वह मूल शक्ति है जो पवित्र भक्ति का मूल तत्व है। उनके प्रियतम, इष्ट अविनाशी हैं एवं सत, रज, तम आदि गुणों से रहित हैं। जो कुछ मीरां कहती हैं वह भक्ति मद भरे रहस्यवाद के शब्दो में है। प्रेम के स्वरूप को श्लाघ्य दिखाने के निमित्त कृष्ण के रूप लावण्य और लीला-माधुर्य की कल्पना प्रायः भक्त लोग किया करते हैं। उस नारी हृदय ने राजस्थान में फैले पंथों की शिक्षायें ग्रहण की थीं और तदन्तर पतिविहीना निराश्रिता मीरां प्रेमदेव-कृष्ण की उपासना की ओर झुकी थीं:

"श्री गिरधर आगे नाचूंगी —

नाचि नाचि पिव रसिक रिझाऊं, प्रेमी जन को जांचूंगी"

मीरां ने तत्कालीन युग के भक्ति स्वरूप को अपने पर व्यक्त किय

है। उस युग में जयदेव, विद्यापति, चन्डीदास, सूर, आदि अपने पदों में राधा कृष्ण को ही गा रहे थे, और सूफीमत, नाथपंथ, तांत्रिक तथा वैष्णव श्रृंगार की भावना को धर्म के नाम से पुकार रहे थे। धर्म निष्काम भाव से खाली हो गया था और कायाशक्ति की ओर लोग टूटे पड़ते थे। भक्ति विभोर काव्य की प्रतिमा मीरां किधर जातीं? फिर पतिविहीना नारी होने के कारण उनके लिये यह स्वाभाविक भी था कि वे इसी हृदय को लेकर कृष्ण में आसक्त होतीं!

जिस प्रकार भाषा में अर्थ दिखाई देता है उसी प्रकार प्रेमी को सर्वत्र प्रेमपात्र दिखाई देता है। अर्थ से तदाकार होने पर ज्ञाता की सत्ता भिन्न नहीं रहती; उसी प्रकार प्रेमी और प्रेम-पात्र की जातीय एकता है। मीरां अपने प्रियतम गोपाल के रंग मे रंग कर मस्त हो गई हैं और पागल भी। अतः वह अब किसी लौकिक दुख की चिन्ता नहीं करतीं। वह श्री गिरधर गोपाल की भक्ति में इतनी लीन हैं कि उनके लिये प्रत्येक सांसारिक यातना को वहन करने के लिये सदैव तत्पर हैं। - समाज की आलोचना की कोई चिन्ता नहीं और न अपने कुटुम्बियों की कोई परवाह है -

"राम तने रंग रांची रांणां मै तो सांवलिया रंग रांची रे।
ताल पखावज मिरदंग बाजा सांधां आगे नाची रे।
कोई कहे मीरां भई बावरी, कोई कहे मदमाती रे।
विषका प्याला राणां भेज्या अमृत कर आरोगी रे॥"

आधुनिक काव्य में भी यही भावना अभिव्यक्त होती है। अपने प्रियतम की स्निग्ध आशा में तल्लीन और अनेक अभिलाषाओं के साथ अब भी बाट जोही जा रही हैं; उसी प्राचीन भारतीय नारी की तरह जो सुन्दर शकुन और अन्य प्राकृतिक लक्षणो पर विश्वास करती हुई न जाने कितनी आशायें लगाये बैठी रहती है, आत्म विभोर सी -

"मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं?" (महादेवी)

फिर—

"मोती बिखराती नूपुर के छिप तारक परियां नर्त्तन कर
हिमकण पर आता जाता मलियानिल परिमल से अंजलि भर
भ्रान्त पथिक से फिर फिर आते
विस्मित पल क्षण मतवाले हैं" (महादेवी)

प्रियतम के लिये भक्ति एक अभूतपूर्व क्रिया है; जो विभक्त नहीं है वही भक्त है। यही प्रेम का दूसरा स्वरूप है। भक्त तो निरन्तर सद्भाव पूर्वक प्रेम पात्र होकर ही रहता है। जब भक्त सब प्रकार से उनका हो जाता है तब भक्त की सत्ता भक्ति बन कर अनन्त ऐश्वर्य माधुर्य सम्पन्न भगवान का रसा स्वादन करती है। मीरां अब भगवान से विलग नहीं -

"मैं गिरधर रंग राती सैंया मैं० -

पचरंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती। ओहि झिरमिट मां मिल्यो सांवरो खोल मिली तन गातीं" ॥
और आगे देखिये -

"जिन-का पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजें पाती
मेरा पियो मेरे हिय बसत हैं ना कहुं आती जाती

पत्र भेजने की कमी तो अनुभव करती हैं लेकिन भेजे कहां? और किसके पास? उनके प्रियतम तो उन्हीं के हृदय में विराजमान हैं। एक शायर साहब ने भी इसी भावना का रूप व्यक्त किया है—
"दिल के आईने में है तस्वीरे यार, जब ज़रा गर्दन झुकाई देखली"
वही दशा मीरां की है। इस युग का कवि भी अपने प्रियतम के पास

संदेश पहुंचाना चाहता है, किन्तु प्रियतम की याद में इतना अधिक बेसुध और पागल है कि लिखना चाहता है कुछ और लिख जाता है कुछ जैसेः—

"कैसे संदेश प्रिय पहुंचाती—
दृगजल की सित मसि है अक्षय
मसि प्याली झरते तारक द्वय
पल पल के उड़ते पृष्ठों पर
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर
मैं अपने ही बेसुध पन में
लिखती हूं कुछ कुछ लिख जाती।"

(महादेवी)

प्रियतम के वियोग में इनका उन्मादिनी का वही स्वरूप है जो भारतीय नारी में प्रायः देखा जाता है। यही उन्माद हम मैथिलीशरण गुप्त की 'राधा' में भी पाते हैं जो अपनी उन्माद की स्थिति में इतनी पागल हैं, कि अपने आपको ही श्रीकृष्ण अनुभव करती हुई पूछ उठती हैं उद्धव से—

"सखे लौट आये गोकुल से
कहो राधिका कैसे"

मानवीय संबन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्मविसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे संबन्ध सरस नहीं हो पाते। सारी सीमा के संकीर्ण बन्धन छिन्न भिन्न होकर बह जाते हैं और तब हम एक अज्ञात सौन्दर्यलोक में पहुंच जाते हैं। महादेवी अपने को प्रियतम में एकाकार अनुभव करती हैं। उनका प्रियतम असीम है व्यापक है। उनके इस तादात्म्य की एक रेखा कितने जोर से फूट निकली है देखिये—

"बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनी भी हूं
पुलक हूं वह जो पला है कठिन प्रस्तर में
हूं वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में
नील घन भी हूं सुनहली दामिनी भी हूं"

एक स्थान पर और कहा है—

"तुम मुझमें, प्रिय फिर परिचय क्या !
चित्रित तू मैं रेखा क्रम
मधुर राग तू मैं स्वर संगम
तू असीम मैं सीमा का भ्रम
काया छाया में रहस्य मय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या !"

इस एक साधना में हृदय किन चेष्टाओं और किन मुद्राओं के साथ अपने प्रियतम में एक निष्ठता अनुभव करता है अवश्य ही अभीप्सित है और अपेक्षित भी। मीरां की तरह आधुनिक युग की यह साधना भी जो मनोवैज्ञानिक तत्वों के ऊपर निर्भर है, अत्यधिक मधुर एवं हृदय स्पर्शिणी है—

"तेरा अधर विचुम्बित प्याला
तेरी ही स्मित मिश्रित हाला
तेरा ही मानस मधु शाला
फिर पूछुं क्यों मेरे साक़ी
देते हो मधुमय, विषमय क्या ?

साकारोपासना से प्रभावित मीरां ने इसी रूप में अपने हृदय की अभिव्यक्ति किस प्रकार की है—

"नैन ललचावत जीवरा उदासी
सांवल बन में बाजे सांवल की बांसी

रैन में सोवत मोरा नैना न लागे
प्रीतम के श्वास आवे कुसुम सुवासी"

दोनों ही अपने प्रियतम की शुभ कामना में लीन हैं। दोनों का सुहाग उसी पर निर्भर है जो चिर शाश्वत है, अमिट है, अमर है। दोनों के प्रियतम हृदय में बसने वाले हैं, यदि कुछ अन्तर है तो; अभिव्यक्ति का। उन्हें न स्वर्ग की इच्छा है और न किसी और वस्तु की – जहां उनके प्रिय हैं वहीं उनका स्वर्ग है।

"मुझमें बनते मिटते प्रिय
स्वर्ग मुझे क्या निष्क्रिय लय क्या ?"

और फिर एक साथ ही अपने प्रियतम की शुभकामना के साथ अपने अमर सुहाग को स्मरण करती हैं।

"प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण क्षण नवीन सुहागिनी मैं"
"सखि मैं हूं अमर सुहाग भरी
प्रिय के अनन्त अनुराग भरी"

प्रियतम की यही अनन्तता और अमरता मीरां की भी साधना है—

"ऐसे वर को क्या करू' जो जनमें और मर जाय।
बर बरिये एक साँवरो री मेरो चुड़लो अमर हो जाय।"

मीरां का वियोग पक्ष अत्यधिक स्पष्ट और सुन्दर है उनका प्रेम श्री गिरधर लाल के अनुपम सौन्दर्य का अनुभव करके आरम्भ होता है। प्रेमासक्ति बढ़ती है और नई नई अभिलाषायें उनके हृदय में उत्पन्न होती हैं। एक साधारण सा रूप-राग पूर्व-राग में परिणित हो जाता है। यह प्रेमानुभव की पहली दशा है। आध्या-

त्मिक होने के कारण प्रायः विरह गर्भित सा जान पड़ता है। फिर प्रेम की जड़ जैसे-जैसे गहरी होती जाती है वैसे ही वैसे विरहानुभव भी स्पष्ट होता जाता है। विरह वेदना में मानसिक वेदना की प्रधानता है :—

'जोगिया जी निसि दिन जोऊं बाट
जोगिया को जोवत बोहों दिन बीता अजहूं आयो नाहिं
बिरह बुझावण अन्तरि आवो तपत लगी तन माहिं
कै तो जोगी जग में नहिं कै र बिसारी मोइ
काँई करूं कित जाऊं री सजनी नैन गुमायो रोइ'

वही अमर साधना, वही पछतावा और वही वेदना आधुनिक काव्य में भी अभिव्यंजित होती हैं। जहां मीरा अनुभव करती हैं कि उनका प्रियतम या तो संसार में नहीं है या उनको भूल गया है वहीं हमारी आज की कविता पूछ उठती है—

"शशि के दर्पण में देख देख
मैंने सुलझाये तिमिर केश
गूंथे चुन तारक पारिजात
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव श्रृंगार नहीं ?" (महादेवी)

मीराँ के प्राण श्री गिरधर के विरह में जिस रूप में तड़पते हैं और बिरहिनी वन कर जिस रूप में वे प्रियतम की प्रतीक्षा करती हैं वह विह्वलता और वेदना आत्मानुभूति के बल पर जिन शब्दों में व्यक्त हुई हैं, अत्यधिक मर्मस्पर्शी है। उनके विरह में सात्विक सत्ता व्याप्त है और अपने इस बिरहानुभव के बल पर दूसरों तक सन्देश भी पहुंचा देना चाहती हैं।

"फारूंगी चीर करूं गर कंथा रहूंगी बैरागण होई री
चुरियाँ फोरूं मांग बखेरूं कजरा मैं डारूं धोइ री
निसि बासर मोहे बिरह सतावे कल न परत पल मोइ री
मीराँ के प्रभु हरि अविनाशी मिलि बिछरो मत कोइ री"

किन्तु आज की कविता में विरह जनित वेदना से चिन्ता तो है और अत्यधिक विह्वता भी, लेकिन साथ ही प्रियतम के द्वारा दी हुई इस विह्वलता में एक विचित्र मिठास है, सुख है, आनन्द है:—

"मोम सा तन घुल चुका अब दीप सा तन जल चुका है,
विरह के रंगीन क्षण ले
अश्रु के कुछ शेष कण ले
बरुनियों में उलझ बिखरे,
स्वप्न के फीके सुमन ले
खोजने फिर शिथिल पग विश्वास दूत निकल चुका है।"
(महादेवी)

इसी प्रकार---

"कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित ?
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा
नींद के सूने निलय में" (महादेवी)

इस वेदना को वे अपेक्षा कृत नेत्रों से देखती हैं और उसी में किसी आशा के साथ तल्लीन भी रहना चाहती हैं—

"अब बिरह की रात को तू
चिर मिलन का प्रात रे कह।"

प्रियतम के दर्शन बिना तपस्या के फल को प्राप्त करना दुर्लभ है। मीराँ को पूर्ण विश्वास है कि उनके हृदय की वेदना जबतक सांवलिया वैद नहीं आ जाता दूर न होगी—

"दरद की मारी बन बन डोलूं बैद मिला नहीं कोइ
मीरां की प्रभु पीर मिटेगी, जब वैद संवलिया होइ"

और तपस्या के बल पर—

"पिया बिन रह्यो ना जाय
निसि दिन जोऊं बाट पिया की कबरे मिलोगे आइ"
"नींदलड़ी नहिं आवे सारी रात किस विधि होइ प्रभात"

प्रियतम के बिना नींद नहीं आती, उसकी ज्योति के बिना मन्दिर में अन्धकार है, सेज सूनी है, चन्द्रकला उसे अच्छी नहीं लगती, तड़प तड़प कर उठ बैठती है, पत्र लिखना चाहती है लेकिन लिखा नहीं जाता, हृदय काँपता है, हाथ थर्राते हैं और इससे भी अधिक—

"घायल ज्यूं घूंमूं सदा री म्हारी व्यथा न बूझै कोइ
काटि कलेजो मैं धरूं रे कौवा तू ले जाइ"

आगे—

"आँगुलियाँरो मूँदड़ो म्हारे आवण लागो बांहि
ज्यां देसां म्हारो पिउ बसे वे देखे तू खाय"

कितनी तीव्र वेदना है—

इसके विपरीत आधुनिक काव्य की वेदना आत्म निवेदन मात्र है। उसकी उत्तरोत्तर नवीन आकाक्षायें जो प्रकृति चित्रण के साथ

भावुकता एवं कोमल कल्पना के रंग में रंग कर चित्रित हुई हैं अपूर्व हैं। भौतिक वेदना दोनों में सहज-गम्य है।

"पथ की रज में हैं अंकित
तेरे पद चिन्ह अपरिचित
मैं क्यों न इसे अंजन कर आंखों में आज बसाऊं
जल सौरभ फैलाता उर
तब स्मृति जलती है तेरी
लोचन कर पानी पानी मैं क्यों न उसे सिंचवाऊं" (महादेवी)

तड़पन वही है और व्यथा भी वही--

'मधुर मधुर मेरे दीपक जल'

मीराँ अपनी विरह जनित वेदना से उत्पन्न हृदय के मधुर भार को सहर्ष वहन करती हैं; और जो कुछ वह कहती हैं आत्मीयता के नाते उपालम्भ के रूप में। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत मानवीय पद्धति के आधार पर प्रेमानुभव में विह्वलता की प्रतीक स्त्री जाति के हृदय की यह एक विशेषता है--

प्रियतम की चिरन्तन निष्ठुरता न कभी बदली और न शायद कभी बदलेगी।

"देखा सइयां हरि मन काठो कियो
आवन कह गयो अजूं न आयो करि करि वचन गयो"
"प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल
हिलिमिलि बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल"
"हरि गयो मन मोहन पासी
बिरह की मारी बन बन डोलूं प्रान तजूं करवत ल्यूं कासी"

या

"अलि कैसे उनको पाऊँ
वे आँसू बन कर मेरे इस कारण ढुल ढुल जाते
इन पलकों के बन्धन में बाँध बाँध पछताऊँ

वे स्मृति बन कर मानस में खटका करते हैं निशिदिन
उनकी इस निष्ठुरताको जिसमें मैं भूल न जाऊँ" (महादेवी)

इस प्रकार स्वयं महादेवी के शब्दों में "मीरां के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिये भावातिरेक सहज प्राप्य था, उसके बाह्य राजरानीपन और आन्तरिक साधना में संयम के लिये पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना की आत्मानुभूति थी। अतः उसका 'हेली मैं तो प्रेम दीवानी मेरा दरद न जाने कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो कोई आश्चर्य नहीं।" वास्तव में यह सत्य हैं। मीरां की और आधुनिक युग की वेदनोद्भूत कवितायें विशेष रूप से उस तारुण्य की द्योतिका हैं जो चांदनी के समान हमारे जीवन की कठोरता, कर्कशता, विषमता आदि को एक स्निग्धता से ढक देता है। जहां मीरां की कविता एक भुक्त भोगिनी के हृदय की सच्ची कहानी है वहां हमारा आधुनिक काव्य अनुभूत भावनाओं का सुन्दर संकलन है।

काव्य में वेदना का लौकिक और अलौकिक स्तर

ले०- श्रीमती इन्दुजा लता

मानव हृदय की वेदना अनादिकाल से उत्कृष्ट काव्य की जननी रही है; क्या प्राचीन, क्या मध्य और क्या अधुनिक सभी युगों में कवियों ने इससे प्रेरणा प्राप्त की है किन्तु युग धर्म के अनुसार विविध युग के काव्यों में नैसर्गिक विविधता देखी जाती है। इस लेख में हम इसके दो जनप्रिय रूप देखने की चेष्टा करेंगे एक मध्यकालीन और एक आधुनिक।

मीरा और महादेवी हमारे हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य सम्पत्ति हैं। मीरा मध्ययुग की देन हैं और महादेवी आधुनिक युग की। युग के इस वैषम्य से उनके बीच जो खाई है उसे साहित्य का इतिहास जोड़ता है; किन्तु इस ओर यह भी मानना पड़ेगा कि जो कल था, वह आज नहीं है और जो आज है शायद परसों न रहेगा। वास्तव में देखा जाय तो मीरा के काव्य और जीवन की चेतना और थी, महादेवी की कुछ और है। दोनों विषमधर्मा हैं, समानधर्मा नहीं। महादेवी के काव्य में हम व्यथा की अनुभूति पाते हैं, किन्तु कैसी व्यथा? निराश प्रेम की कसक उनके काव्य में पग पग पर मिलती है उनकी पीड़ा लौकिक दाह है, प्रभु की विरह जन्म व्याकुलता नहीं। उनका प्रियतम इसी संसार का व्यक्ति है। प्रथम मिलन के पश्चात ही विरह की वेदना का प्रवेश हो गया। वे प्रिय को आंखोंभर देख भी न पायीं। किन्तु इतने पर भी इतना गहरा अनुराग उन्हें हो गया कि विरह वेदना उन्हें सताने लगी। उनका प्रेम कदाचित दुख का मूल ही सिद्ध हुआ।

"इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का,"

इस प्रकार उनकी कविता में व्यक्तिगत व्यथा का विश्लेषण ही दीख पड़ता है, आध्यात्मिकता का आविर्भाव नहीं। इस व्यक्तिगत व्यथा का चित्रण उन्होंने बड़े ही मार्मिक एवं स्पष्ट शब्दों में किया है।

"नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाए विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,"

वे अपने प्रियतम से अपने को एक रूप समझती हुई भिन्न अस्तित्व की पीड़ा से उद्भूत हैं।

इसके विपरीत मीरा आध्यात्मवादिनी हैं। वे अपने गिरधर गोपाल को ही पति रूप में वरण करती हैं। अतः आध्यात्मिकता उनकी कविता का जीवन है। वे समस्त सांसारिक बन्धनों से उन्मुक्त होने की इच्छुक हैं—

'लोक लाज कुलकी मर्यादा या में एक न राखूंगी'

यद्यपि उनका प्रेम दाम्पत्य भाव लिए हुए ही है तथापि है वह प्रभु से ही -

"मैं गिरधर रंगराती
पंच रंग चोला पहन सखी मैं झिरमिट खेलन जाती
या झिरमिट में मिलो सांवलो, खोल मिली तन गाती।"

यहां यह स्पष्ट है कि दाम्पत्य की भावना के बावजूद भी उनके प्रभु की अलौकिकता अक्षुण्ण है, किन्तु महादेवी का प्रेम पूजा की भावना से युक्त होता हुआ भी लौकिकता की सीमा से बाहर नहीं निकल पाता। वे डाली लेकर पूजा करने आती हैं।

"मैं निर्धन तब आयी ले सपनों से भरकर डाली"

उसी के चरणों पर वे अपने धुंधले से दो चार आंसुओं को चढ़ा देती हैं -

"जिन चरणों की नख ज्योती से
हीरक जाल लजाए
उन पर मैंने धुंधले से
आंसू दो चार चढ़ाए"

विरह की कसक के साथ-साथ मीरा में भी जहां हमें मिलन की सुखद अनुभूति की झांकी देख पड़ती है वहां महादेवी के काव्य में केवल एक निराश भग्न हृदय, जिसे "विदाई में वेदना मिली हो,"

उसी के दर्शन होते हैं। प्रेमी को न पा सकने के कारण उसके हृदय के लिए संसार सूना है। इन्हीं सूनी अनुभूतियों के उच्छ्वासों से सन्तप्त काव्य महादेवी का है।

मीरा और महादेवी की विचार धाराएं भिन्न दिशा प्रवाहिनी हैं। केवल व्यथा की अभिव्यक्ति देखकर ही उन्हें एक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि दोनों की अन्तः प्रेरणाओं के मूल एक नहीं, अनुभूतियां भी अलग-अलग हैं। जीवन की वास्तविकता में ऐसे नैसर्गिक अन्तर भिन्न दृष्टिकोण-जन्य हुआ करते हैं। इनके आधार पर उच्च और निम्न, उत्तम और अधम की कोटियों का निर्माण असाहित्यिक हैं। मीरा को मीरा का स्थान प्राप्त है और महादेवी अपने स्थान पर सार्थक हैं। हमारे साहित्य को दोनों की आवश्यकता है और रहेगी।

मीराबाई का ऐतिहासिक जीवन-वृत्त

डाक्टर जी. राय चौधरी पी. एच. डी.

चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में उत्तर भारत एक कोने से दूसरे तक योरोप के 'रिफ़ोरमेशन' आन्दोलन की भाँति धार्मिक क्रान्ति से खिल उठा था। इसका विशेष प्रभाव वैष्णव सम्प्रदाय पर था। इस क्रान्ति के धार्मिक नेताओं ने विश्वत्यागिनी स्वतन्त्र और उदार दृष्टिकोण की रूह सी फूंक दी थी। वर्णाश्रम धर्म का इन्होंने पूर्ण बहिष्कार कर दिया था। उनकी यह भावना निस्सन्देह इस्लाम धर्म के लोकतन्त्र के आदर्शों से प्ररित थी[१]। उन्होंने समाज और जाति के हर स्तर के लोगों को अपनी शिष्यता में सम्मिलित किया था। रामानन्द ने कहा था

---

१ यह प्रचलित विचार अभी तक यथेष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं कर सका है। स०

"किसकी क्या जात है और कौन किसके साथ खाता पीता है यह पूछने की आवश्यकता नहीं। जो हरि से प्रेम करता है वह हरि का है"—

"जाति पाँति पूछै नहि कोई।
हरि कूं भजै सो हरि कूं होई॥"

चैतन्य ने भी इन्हीं भावों को व्यक्त किया है जब वे कहते हैं कि "ईश्वर की कृपा जाति और कुल की अपेक्षा नहीं करती" (ईश्वरस्य कृपा जाति कुल न मेने)। साथ ही पश्चिम योरप के प्रोटेस्टेन्ट सुधारकों की भाँति इन नये गुरुओं ने संस्कृत में लिख कर या बोल कर उपदेश नहीं दिए। वरन् उन्होंने लोक-भाषा में ही अपने उपदेश दिए; जिससे उनका सन्देश सरलता के साथ जन समूहों तक पहुंच सके। अपने शिष्यों के सामने ईश्वर का जो नया रूप उन्होंने रक्खा था, वह भी उनकी सिद्धि के मूल में कम प्रधान नहीं था। उनका यह "भक्ति मार्ग" परम दया सिन्धु अपने इष्टदेव के प्रति प्रेम-पूर्ण एकान्तिक संलग्नता का आदेश देता है। इस इष्टदेव के जो दो रूप निर्धारित किये गये, वह थे विष्णु के दो अवतार राम और कृष्ण। यह सिद्धान्त नवीन नहीं था। इसका उपदेश स्वयं भगवान् कृष्ण भगवद्गीता में और बाद अलवार और रामानुजाचार्य दे चुके थे। किन्तु उनके द्वारा जो भक्ति प्रचारित हुई थी वह विचारात्मक होने के कारण अधिक मानसिक थी, किन्तु भक्ति का यह नया सिद्धान्त अधिक उभाड़ने वाला और भावनाप्रधान था। इसीलिये उसका प्रभाव साधारण जनों के हृदयों पर भी सीधा ही पड़ता था। इसका वर्णन भागवत पुराण में इस प्रकार मिलता है;—" भक्तिरस के उद्रेक से वाणी मूक हो जाती है, नेत्रों से अश्रु-प्रवाह होने लगता है और आनन्दातिरेक से

रोमाञ्च हो उठता है। इससे प्रेरित जन विक्षिप्तावस्था में कभी रोता है, कभी हँसता है; अचानक कभी संज्ञाशून्य हो जाता है, कभी समाधिस्थ—, यह दशा प्राप्त होती है कृष्ण की मूर्ति पर दृष्टि केन्द्रित करने से, उनका संकीर्त्तन करने से ध्यान करने से, भक्तों का सत्संग करने से, भक्तों के शरीर स्पर्श से, उनकी प्रेम-पूर्ण सेवा से कृष्ण के महान चरित्रों के सुनने से और भक्तों के साथ कृष्ण के प्रेम और यश की चर्चा से। इस प्रकार भक्ति का संचार होता है, जिसके द्वारा मनुष्य कृष्ण की सेवा में आत्म-समर्पण कर देता है और जीवन-पर्यन्त उनकी सेवा में रत रहता है। यह भक्ति शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करा देती है।" वैष्णव भक्ति के इस नवरूप ने यदि अपने अमोघ वेग से उत्तर भारत को परि-प्लावित कर दिया हो तो क्या आश्चर्य? इसी नवीन धार्मिक आन्दोलन ने मीराबाई को जन्म दिया था।

अपने स्त्री और पुरुषों के वीर चरित्रों के लिये विख्यात राजस्थान भी इस धार्मिक आन्दोलन के जादू से प्रभावित हुआ था। योद्धा राजपूतों का लौह हृदय भी इसके प्रभाव से मुला-यम हो चला था। दया और करुणा ने उनके हृदय में नवीन वीरता की भावना का संचार कर दिया था*। मेवाड़ के सीसौ-दिया राजवंश ने भी एकलिंग शिव के उपासक होते हुए इस नवीन धर्म को संरक्षण प्रदान किया था। राणा मोकल (१४२०-१४२८) ने चित्तौड़ में द्वारका नायक का एक विशाल मन्दिर बन-वाया था। उनके प्रसिद्ध पुत्र राणा कुम्भा (१४३०-'६८ ई०) इस सम्प्रदाय में केवल दीक्षित ही नहीं हुये थे; वरन गीतगोविन्द के सुमधुर गीतों से प्रभावित होकर उन्होंने रसिक प्रिया के नाम से उसकी एक टीका भी लिखी थी। उनकी कन्या रमाबाई का विवाह

* It softened the iron heart of the warrior race of the Rajputs, and engendered in their mind that spirit of chivalry which springs out of a feeling of pity and compassion.—भाव अस्पष्ट है।(सं०)

सोरठ के मण्डलिक यादवराजा के साथ हुआ था। वे वैष्णवी थीं। भरत के शास्त्रों का उन्होंने पूर्ण अनुशीलन किया था और संगीत पटुता के लिये प्रसिद्ध थीं। राणा रायमल (लगभग १४७३-१५०९ ई०[1]) के शासनकाल में उन्होंने १४९८ ई० में कुम्भलमेर दुर्ग में दामोदर का एक मन्दिर बनवाया था। कहावत प्रसिद्ध है कि रामानन्द के प्रथम शिष्य अनन्तानन्द जोधपुर के राजगुरु थे। सांभर में प्रदर्शित अपने चमत्कार से शासक को उन्होंने अपना शिष्य बनाया था[2]। यद्यपि यह उल्लेख अत्यन्त संक्षिप्त हैं तथापि राजपूताने में जहां मीराबाई का जन्म हुआ था, वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव कितना व्यापक था, इसका संकेत तो मिलता ही है।

मीराबाई की ठीक तिथि के विषय में बड़ा मतभेद है, किन्तु प्रायः सभी अधिकारी विद्वान् यह मानते हैं कि जोधपुर अवस्थित मेड़ता राठौर घराने में उनका जन्म हुआ था और मेवाड़ के सीसौदिया वंश में उनका विवाह हुआ था। एक स्थल पर कर्नल टाड उन्हें दूदा की पुत्री और जोधा (लगभग १४५३-८९ ई०) की पौत्री मानते हैं। अन्यत्र वे दूदा के पुत्र रतन सिंह की पुत्री कहीं गई हैं यह भी कहा गया है कि उनका विवाह राणा कुम्भा के साथ हुआ था[3]। कदाचित इसी के आधार पर ग्रियर्सन ने मीराबाई को प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति[4] (पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्य) के समकालीन माना है। बहुत वर्षों बाद मुन्शी देवी प्रसाद ने बताया कि राठौरों ने राणा कुम्भा की मृत्यु के बीस वर्ष बाद १४८८ ई० में मेड़ता के ठिकाने की स्थापना की थी, अतः मीराबाई जिनका उल्लेख मेड़तणी

---

१ आर्क्योलौजिकल सर्वे आफ इण्डिया की सालाना रिपोट—
(१९३४-३५ ई०) पृ० ५९।

२, इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, भाग—१०, प० ५७०।

३, राजस्थान (कलकत्ता संस्करण) २, १८, १, ५७१।

४ इंपीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, भाग—२, पृ० ४२४।

के नाम से किया गया है, महाराणा कुम्भा की स्त्री नहीं हो सकतीं[१]। मेवाड़ वंश की जो सूचना राजमहल से प्राप्त हुई थी उसके आधार पर फ़ारकुहर लिखता है कि मीराबाई का विवाह राणा कुम्भा के युवराज के साथ हुआ था, जो अपने पिता के सामने ही मर चुके थे,[२] किन्तु उपर्युक्त कारणों के आधार पर यह भी सम्भव नहीं जान पड़ता। मीराबाई का विवाह राणा कुम्भा के किसी कुमार के साथ होना और भी असम्भव हो जाता है; जब कि हम देखते हैं कि दूदा की बहन श्रृंगार देवी के राणा कुम्भा के कनिष्ट पुत्र के साथ विवाह होने की बात इतिहास प्रसिद्ध हैं। सिसौदिया महाराज के नागरी ताम्रपत्र में उनका उल्लेख किया गया है कि वे १४६८ और १५०४ ई० तक जीवित थीं[३]। अकबर के समकालीन नाभादास के 'भक्तमाल' के आधार पर मैकॉलिफ द्वारा लिखित एक और वार्ता हमें मिलती है; जिसमें कहा गया है कि मेड़ता के रतन सिंह के पुत्री मीराबाई का जन्म १५०४ ई० में हुआ था। इनका विवाह राणा सांगा (१५०६-२८ ई०) के पुत्र कुंवर भोजराज के साथ १५१६ ई० में हुआ था[४]। इन दो तिथियों से बहुत पहले मीरा का होना सम्भव नहीं जान पड़ता; क्योंकि उनके दादा दूदाजी १५१५ ई० तक जीवित थे और उनके पिता के ज्येष्ठ भ्राता वीरमदेव जो बाबर के विरुद्ध कनवा के युद्ध में (१५२७ ई०) लड़कर मारे गये थे, उनका जन्म १४७७ ई० में हुआ था। मीराबाई के पिता रतन

---

१. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित 'जोधपुर राज्य का इतिहास' भाग-१ पृ. २५३
   ,, ,, ,, ,, 'उदयपुर राज्य का इतिहास' भाग-१, पृ. ३५८

२. आउट लाइन आफ़ दि रेलिजस लिट्रेचर आफ इण्डिया,—पृ० ३०६।

३. भण्डारकर—'उत्तरी भारत के शिलालेखों की सूची,' न० ८७३

४. 'दि सिख रेलिजन', भाग—६, पृ० ३४२।

सिंह भी इसी युद्ध में मारे गये थे ।[१]

निम्नलिखित वंश वृत्त हमारे कथन को और अधिक पुष्ट करता है।
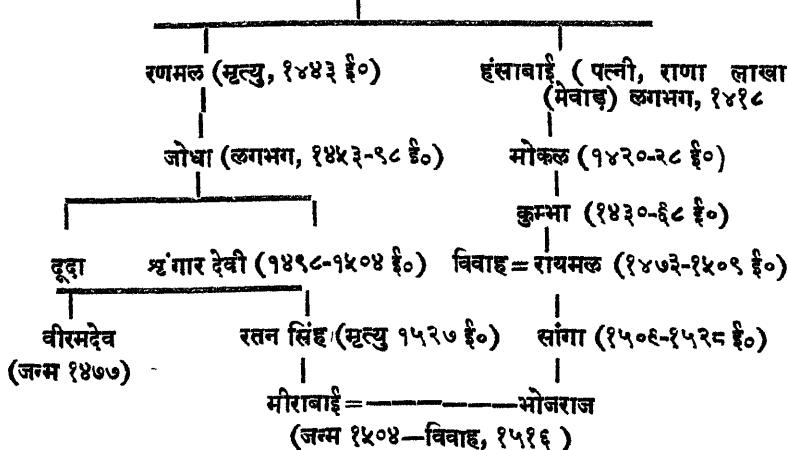
अनुमानतः मीराबाई की जन्मतिथि १५०४ ई० मानी जा सकती

---

१. ओझा, 'उदयपुर राज्य का इतिहास' भाग—१, पृ० ३५८-५६ ।
दूदा की मृत्यु और वीरमदेव के जन्म की तिथियां अनुश्रुतियों के आधार पर हैं, किन्तु इनकी प्रामाणिकता का एक आधार और हो सकता है कि वीरमदेव कनवा के युद्ध में [१५२७] थे । निम्नलिखित उल्लेख विचारणीय है :—

अपने जीवन चरित्र में [पृ० ५६२] बाबर लिखता है कि धरमदेव चार हजार सवार लेकर राणा सांगा की ओर से बाबर से लड़ा था। अकबर नामा में [अनुवाद भाग—१, पृ० २६१] इसका उल्लेख मेड़ताका शासक कहकर किया गया है। उसी स्थल पर टिप्पणी में इसका दूसरा नाम परमदेव कहा गया है । मेड़ता के शासकों में इस नाम का कोई नहीं हुआ । इसलिए सम्भवतः परमदेव को वीरमदेव का ही अशुद्ध लेख मानना चाहिये [ओझा का उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ३७५]। टाड ने भी रतन सिंह के कनवा के युद्ध में मारे जाने का उल्लेख किया है [राजस्थान, भाग—१, पृ० २४१]।

अपनी वर्तमान जानकारी में इसका कोई सिद्ध प्रमाण नहीं दिया जा सकता। मुन्शी देवीप्रसाद ने किसी चारण से सुना था—कि मीराबाई की मृत्यु १५४६ में हुई थी [1]। इस तिथि को अन्य कई विद्वानों ने भी माना है [2]। किन्तु मीरा का जो वृत्त मेकांलिफ ने भक्तमाल के आधार पर अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सिख रेलिजन' में दिया है, उसके अनुसार चित्तौर पर अकबर का १५६७ ई० का हमला मीराबाई के अपने इष्ट में लय हो जाने के कुछ ही बाद ठहराया गया है [3]। इसके अनुसार वे १६६० ई० तक जीवित मानी जा जकती हैं। मीराबाई का प्रमाणिक जीवन चरित्र हमें प्राप्त नहीं। अनुश्रुतियों के आधार पर यह माना जाता है कि बाल्यकाल से ही मीराबाई का चित्त अपने इष्ट कृष्ण के एक रूप गिरधरलाल की भक्ति में लीन था और शरीर और आत्मा से उन्हीं को मीरा ने अपने आपको अर्पित कर दिया था। वे उन्हें अपना पति मानती थीं। उनके प्रति अपना प्रेम खुल्लम खुल्ला प्रकट करने में लज्जा का अनुभव नहीं करती थीं। परिणामतः उनके विवाह की असफलता अवश्यम्भावी थी। उनके सांसारिक पति की असामयिक मृत्यु ऐसी परिस्थिति में सहायक सिद्ध हुई। इसी बीच उनके पति के कुटुम्बीजनों के क्रोध का शिकार उन्हें बनना ही पड़ा। दुर्गा के सामने शीष न झुकाकर उन्होंने अपनी सास को असन्तुष्ट कर दिया था। साधु सन्तो के साथ खुलकर उनका मिलना कुल के लिये कलंक समझा जाता था। इस ओर कड़े बन्धन असफल सिद्ध हुए; जैसा वे स्वयं कहती हैं :—

---

१. मीराबाई—कालिका रंजन कानूनगो, प्रवासी १३३८ बं० सं० पृ० २४९।

२. गौरी शंकर हीराचन्द ओझा—'उदयपुर राज्य का इतिहास' भाग १, पृ० ३६० और टिप्पणी।

३. 'दि सिख रेलिजन' भाग ६, पृ० ३५५।

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई ।
छांड़ि दई कुल की कानि, कहा करि है कोई ।
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई ।
अंसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेली बोई ।
अब तो बेल फैल गई, जाणों सब कोई ।
भगति देख राजि हुई, जगति देखि रोई ।
दासी मीरा लाल गिरधर, होनि हो सो सोई ॥

अपने इस हठ के लिए वे दण्डित हुईं और उन्हें ज़हर दिये जाने का प्रयत्न भी किया गया [1]; किन्तु उनके इष्ट ने रक्षा कर दी। एक अनुश्रुति के अनुसार माना जाता है कि इस विपत्तिकाल में उनके काका वरम देव उन्हें मेड़ता लिवा गये थे। लेकिन इनका जोधपुर के राय मालदेव से वैर ठन गया (१५३२-६३ ई०) और इनका राज्य छिन गया। मीराबाई ने ऐसी परिस्थिति में संसार से ही मुंह मोड़ लिया और द्वारिका चली गईं। दूसरी अनुश्रुति कहती है कि अपमानित होकर वे चर्मकार रैदासकी जो रमानन्द के शिष्य थे, शिष्या हो गईं। अपने कुछ पदों में इसका उल्लेख किया है [2]। एक और अनुश्रुतिके अनुसार रैदास की शिष्या चितौड़ की रानी झाली थीं। वे मीराबाई नहीं हो सकती, जो मेड़तणी कहलाती थीं [3]। ऐसी दशा में मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त पद—(जिनमें रैदास के

---

१. यह जनना कठिन है कि उन्हें पीड़ित करने वाला कौन सा राणा था। मेकौलिफ के वृत्त में सांगा का नाम दिया गया है। अन्य विद्वान विक्रमाजीत कहते हैं; किन्तु इनमें से प्रमाणित एक भी नही।

२. फार्कुहर आउट लाईन आफ दि रेलिजस लिटरेचर आफ इन्डिया पृ० ३०६।

३. मेकौलिफ़ 'दि सिख रेलिजन', भाग ६, पृ० ३१८।

गुरु होने की बात कही गयी है) प्रक्षिप्त हैं । मैकोलिफ का वृत्तान्त इन घटनाओं का उल्लेख नहीं करता । उसमें उल्लेख है कि अपनी विपन्नावस्था में मीराबाई ने कवि तुलसीदास (१५३२-१६२३ ई०) से पत्र व्यवहार किया था और उनसे उन्हें बड़ा आश्वासन मिला था । इस समय तक उनकी ख्याति इतनी बढ़ गयी थी कि तानसेन के साथ अकबर भी छद्मवेश में उनके दर्शनार्थ आये थे और रत्न-जटित एक हार भेंट कर गये थे । बात खुल गयी थी और उनके कलंकित होने की आशंका से राणा ने सर्पदंश द्वारा उनके प्राण लेने का उपक्रम किया था । इसमें सफलता न मिलने पर उन्हें स्वयं यह छूट दी गयी थी कि वे जिस प्रकार चाहें अपने प्राण त्याग करें । वे भिखारिणी के रूपमें महल से निकल आईं थी और नदी में डूब कर उन्होंने अपने प्राण छोड़ना चाहा था ; किन्तु एक देवदूत ने उनकी रक्षा कर ली थी । इसके उपरान्त वे वृन्दावन चली गईं और वहां चैतन्य के शिष्य जीव गोस्वामी से मिलीं । वहां से वे फिर अपने पति-गृह में वापस आईं; किन्तु राणा की उद्दण्डता में कोई अन्तर न देखकर तीर्थ-यात्रा के निमित्त द्वारिका चली गईं । मीरा के चित्तौड़ से चले जाने के बाद भक्तजनों ने महल में जाना ही छोड़ दिया । इसी बीच राज्य में झगड़े शुरू हो गए । अब राणा को अपनी भूल समझ पड़ी । मीराबाई को वापस ले आने के लिए उन्होंने अनेक ब्राह्मण भेजे। इसी अवसर पर उन्होंने एक भक्ति पूर्ण पद गाया । उनकी प्रार्थना स्वीकृत हो गयी और उनके इष्ट ने उनके शरीर को अपने में मिला लिया ।

उपर्युक्त वृत्तान्त में बड़ी अलौकिकता है । किन्तु कुछ ऐसे प्रसंगों का उल्लेख जैसे उनका तुलसीदास से पत्र व्यवहार और अकबर और तानसेन से उनकी भेंट इत्यादि ऐतिहासिक आधारों से रहित है लेकिन इन उल्लेखों से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि भावी जनता उनसे कितनी अधिक प्रभावित थी कि उनसे उस युग

के महानतम व्यक्तियों से उनका सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की थी। यही 'ग्रंथ साहब' के 'भाई बहनों' वाले संस्करण में उल्लिखित मीरा के पद से भी प्रगट हो होता है।

मीराबाई के जीवन की निम्नलिखित घटनाओं की जानकारी अवश्य ही आधार युक्त है कि उनके माता पिता कौन थे, उनका विवाह मेवाड़ के कुमार भोजराज से हुआ था, कुल देवी की उपासना से इन्कार करने के कारण अपने पति के सम्बन्धियों द्वारा प्रताड़ित होना संसार त्याग, और द्वारिका में शरीर छोड़ना, अनुश्रुतिजन्य द्वारिका में उनकी अलौकिक मृत्यु का वृत्तान्त अन्य अनेक प्रसिद्ध भारतीय सन्तों की देहावसान की अलौकिक व्यथाओं से मिलता जुलता है। यह कदाचित एक प्रकार की धार्मिक आत्महत्या ही थी[1]। जीव गोस्वामी जिनके विषय में माना जाता है कि चैतन्य की मृत्यु के बाद लगभग १५३३ ई० में नित्यानन्द की आज्ञा से वृन्दावन में ही निवास कर रहे थे, उनसे मीराबाई की भेंट असम्भव नहीं।

अपने बाल्यकाल में वे वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१ ई०) और चैतन्य (१४८५-१५३३ ई०) की प्रौढ़ावस्था में समकालीन थीं। ये दोनों धार्मिक सुधारक राधाकृष्ण सम्प्रदाय के देशव्यापी प्रचारके प्रमुख स्तम्भ थे। वल्लभाचार्य ने भागवत् पुराण के दशम स्कन्ध को—जिसमें बालकृष्ण की गोपियों के साथ विविध लीलाएं वर्णित हैं—अपने सम्प्रदाय का आधार बताया था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी प्रत्येक व्यक्ति की चरम अभिलाषा यह होती है कि गोपी के रूप में वह स्वर्ग में कृष्ण के साथ लीला का आनन्द लें[2]। मथुरा से ६ मील पूर्व गोकुल में वल्लभाचार्य ने अपने आश्रम की स्थापना की

१ इन्साइक्लो पीडिया औफ रेलिजन ऐण्ड एथिक्स भाग १२, पृ० ३४-३५।

२. इस मान्यता का लेखक के द्वारा यदि कोई प्रमाण दिया जाता तो उचित होता।—सं०

थी और गुजरात, राजपूताना तथा उत्तर के प्रदेशों में इनका प्रभाव बहुत था। चैतन्य का वल्लभाचार्य के मत से मूल मतभेद था और उन्होंने बालकृष्ण की लीलाओं का कोई समर्थन नहीं किया। वे कृष्ण और राधा की नाम संकीर्तन द्वारा आनन्दोन्मत्त भक्ति पर जोर देते थे जिससे उनका मत था कि अन्य जनों में भी भक्ति प्रवाह उमड़ सकता था। देश के पूर्वी क्षेत्रों में चैतन्य का व्यापक प्रभाव था। मथुरा के वैष्णव सम्प्रदायों में भी अपने गुरु के जीवनकाल में ही चैतन्य के शिष्यों ने योगदान किया था। मीरा बाई के जीवन में इन दोनों ही गुरुओं का प्रभाव दीख पड़ता है। वल्लभ के प्रभाव से सपने इष्ट में उनकी प्रेममय भक्ति नारी के पुरुष रूप की थी; अपने इष्ट के सन्मुख रहने ही में उन्हें अपार आनंद मिलता था। उन्हें सम्बोधित करके मीरा ने श्रृंगार रसपूर्ण गीत गाये थे। राधा की भांति उन्होंने कृष्ण के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया था और उनसे मिलने के लिए आतुर थीं। उनकी उपासना का आनन्दोन्मत्त रूप स्पष्टतया चैतन्य का प्रभाव था... जिसकी अभिव्यक्ति स्थल स्थल पर उनके गीतों और नृत्यों में देख पड़ती है।

"हमारे मन राधा-स्याम बसी
कोई कहे मीरा भई बावरी कोई कहे कुलनासी
खोल के घूंघट प्यार के गाती हरि ढिग नाचत गसी।
वृन्दावन की कुंजगलिन में भाल तिलक उर लसी।
विष को प्याला राणा जी ने भेज्या पीवत मीरां हंसी।
मीरां के प्रभु-गिरिधर नागर भक्तिमार्ग में फंसी।"

अन्त में हम कह सकते हैं कि मीरा ने बृज भाषा और गुजराती में अपने सुमधुर भजन गाये थे और सम्भावित पण्डितों की राय में उनका स्थान उन उच्च विभूतियों में है जिन्होंने अपनो देन से मध्ययुगीन भारतीय भाषा साहित्य को बहुत अधिक समृद्ध किया है।

मीरा की वेदना

प्रोफेसर रामेश्वर प्रसाद शुक्ल एम. ए. 'अंचल'

मीरा की वेदना युग युग से प्रियतम से बिछुड़ी हुई प्रीतिदग्ध-प्रणयाकुल आत्मा की वेदना है। वह अपने को आराध्य की जन्म जन्म की दासी समझती है और सर्वस्व समर्पण जो प्रेम का प्राण है उसके गीत गीत में मन के संपूर्ण आवेग के साथ उच्छ-वसित हुआ है। प्रत्येक घड़ी प्रत्येक क्षण उसके सामने प्रिय का रूप मडराया करता है। इष्ट देव के दर्शन की ऐसी तीव्र लालसा—मिलन की ऐसी परिपूर्ण तृष्ण कामना की ऐसी अविनाशी आग कम से कम हिन्दी के अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती। भारतीय नारीत्व अपने सारे भावनात्मक ऐश्वर्य और रोम प्रतिरोम में कसकती पिपासा को लेकर खंडित आत्मा के एकनिष्ठ तन्मय जीवन-निवेदन को लेकर इस प्रेम पुजारिनी की प्रीति नीविड़ कड़ियों में मुखरित हुआ है। यह अनुभूति इतनी गहरी है—ऐसी जीवन व्यापिनी व्यथा है जिसकी अभिसक्ति का कोई साधन नहीं। मन के गहरे भाव आसानी से प्रकट भी तो नहीं हो पाते। यहां निजत्वका प्रेमिका के वैयक्तिक अहम का सर्वथा लोप हो गया है। पर जब आत्मभावना के विनाश पर भी प्रियमिलन की आशा नहीं रहती तब कितना उलझ जाता है—ज्वालामुखी के पिछले लावे सी ज्वलत वेदना—तब उठते बैठते चलते फिरते मन को दहा करती है। कब तक प्रियकी कल्पित मूर्ति को हृदय से लगाकर सपनों की छलना से मन को हलाया जाय? यह विवशता तब कैसी असह्य हो जाती है। सीने से तस्वीर लगा कर कहीं किसी प्रणयी का

दर्दकम हुआ है? मीरा तड़प तड़प कर गाती है—गा गा कर तड़पती है।

"तलफै बिन बालम मोर जिया
दिन नहि चैन रात नहीं निदिया, तलफ तलफ कै भोर किया
तन मन मोर रहंट अस डोलै सत सेज पर जनम छिया
नैन थाकित मनै पंथ न सूझै साइं बेदरदी सुध न लिया"

कबीर की उपर्युक्त पक्तियों में मीरा की वेदना का निचोड़ है। मीरा आजीवन उद्वेलित रहती है पर उसके उद्वेग में वासना का आग्रहनहीं उस में मन्द गति से बहने वाली शारद् कालीन जल धारा की निर्बन्ध उन्मुक्त स्थिरता है। वह पृथ्वी पर मानो निर्वासित जीवन बीता रही है और रह रह कर उस अलौकिक अतीन्द्रिय जगत की ओर उड़ जाना चाहती है। उसकी वेदना में ऐसी ललक भरी तन्मयता है ऐसी घनी घनी तारों भरी बुन्देल खंड की रात की सी श्यामलता है जो देखते ही बनती है। प्रेम में हारे, लुटे, टूटे मन का ऐसा पुञ्जीभूत विषाद् है—आत्मा के तल से उठ कर आने वाला ऐसा मोहक असन्तोष है जो देख देख कर भी देखा नहीं जाता। उसके पीछे घुमड़ने वाला दुख का दाह—अपूर्ति का अवसाद-विरह की व्याकुलता मन को कचोट लेती है। ऐसी निरपेक्ष तल्लीन आत्मविस्मृति ऐसा बहा ले जाने वाला आत्म बोध और आत्मप्रतीति मीरा की कविता में जिस केन्द्रीय वेदनानुभूति से छनकर आती है उसी का रूप-सौष्ठव देखाने की यहां चेष्टा की जायगी।

मीरा मूलतः भक्तिनी थी प्रेमिका और साधिका थी। कवयित्री बनने के लिये उन्होंने कहीं स्वानुभूति का प्रकाशन नहीं किया। आंसुओं का अर्घ्य प्रेम-देवता पर पूजारिन को चढ़ाना ही पड़ता है। इसीलिये मीरा की वेदना उस प्रकार को सोची हुई—समझी हुई और गणित के सिद्धान्तों के समान पहले से सुनिश्चित नहीं लगती जैसी फैशनवुल वेदना वादियों की वेदना। इस वेदना में कल्पना के चटकीले रंगों का

कलाविन्यास नहीं-केवल सूझ की मनोरमता और सूक्ष्मता नहीं इसमें घुटती हुई आत्मा का आन्तरिक अभाव और अकुलाहट भरी अवसन्नता है कला की निर्व्यक्तिक कसौटी पर कसना मीरा की आत्मगत वेदना को न समझकर उनकी एकान्त रसानुभूति के प्रति अनावश्यक कठोरता का परिचय देता हैं। प्रेम की वैयक्तिता को आसक्ति नाम से पुकारा जाता है। मीरा की वेदना में स्पर्श, वर्ण, गन्ध, गान के भीतर से फूटनेवाली अमित माधुरी है—अमरत्व की ज्योति है। इसीलिये उसमें देह के सकाम निवेदन के भीतर से बहकर आनेवाला निवृत्ति का अमृत है। घन नीले प्रदोष की निगूढ कल्पान्तर व्यापिनी पीड़ा का मूल स्रोत कामना की इसी रमणरात्री में है जब प्राण मतवाले हो हो कर पिय के घर जाने के लिये—उसके निकट जा सटने के लिये बेचैन हो जाते हैं।

राणा जी मैं गिरिधर के रे घर जाऊं।
गिरिधर म्हांरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊं;
रैन पड़े तब ही उठ जाऊं भोर भये उठ आऊं॥
रैन दिना वाके संग खेलूं ज्यों रीझे त्यों रिझाऊं।
जो पहिरावै सोई पहिरूं जो दे सोई खाऊं।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन बिन पल न रहाऊं॥
जहं बैठावे तितही बैठूं बेचै तो बिक जाऊं।

युग युग से प्रेम में लोक लाज, मान मर्यादा, ज्ञान बुद्धि विवेक सभी कुछ विसार कर प्रेमिका का यह अभिसार प्रेमी के घर जाना और उसके सुख पर अपने को समर्पित कर देना चला आता हैं। सर्वस्वहरिता नारी ने जन्म जन्मान्तरों से इसी संबल की शरण ली है। मीरा अपवाद कैसे हो सकती है? मीरा भी रात भीगते ही उठकर जायगी और सारी रात प्रेम की मिलन सेज पर अपने को लुटा कर भोर होते ही घर आ जायगी। जिसके लिये ऐसी

उद्दाम आकुलता ऐसी लगन भरी छटपटाहट हो उससे कितनी पुरानी प्रीति है—मन का कब का परिणाम है यह कौन बता सकता है? इस जनम मरण के साथी का वियोग—उसका अदर्शन और अलगाव मन को कितना बिद्ध कर देता है। मीरा कहती है—

पूर्व जनम की प्रीति हमारी अब नहिं जात निवारी।
सुन्दर बदन जोवते सजनी प्रीति भई छै मारी॥

इसके बाद क्या होता है—विरह की बेचैनी मिलती है—

छोड़ गया विश्वास संगाती प्रेम की बाती बराय।
विरह समुंद में छोड़ गया हो, नेह की नाव चलाय।

पहले कौन प्रीति का परिणाम जानता है? मीरा भी नहीं जानती थी और जानती भी होती तो क्या अपने को उस 'चितनन्दन' के रूप जाल में उनके मोहपाश में बंधने से रोक पाती?

"जो मैं ऐसा जानती रे प्रीत किये दुख होय।
नगर ढिढोरा पीटती रे, प्रीत न करियो कोय।"

मीरा की वेदना के पीछे एक कुचले हुए स्वप्न की एक प्रेम-दग्ध हृदय की विकलता है। उस वेदना में पार्थिव यथार्थता है। मीरा ने कृष्ण के लिए उसी तीव्र वेदना का अनुभव किया होगा जो एक प्रेमिका अपने हाड़ मांस के प्रेमी के लिये करती है। स्पष्ट है जब किसी असरिरी अतीन्द्रिय प्रियतम के लिये वह यातनाभोगी जायगी, वह विरह की आकुलता झेली जायगी, जो एक स्थूल पार्थिव प्रियतम के लिये अनुभव की जाती है तब उसमें सजीव वास्तविकता जीती जागती यथार्थता के साथ २ कैसी भव्यता और दिव्यता होगी। मीरा में इसी लिये मैं 'मजाज़ी' और 'हकीक़ी' पार्थिव और अपार्थिव दोनों का मिलन मानता हूँ। उसकी वेदना

के इतने सच्चे और सात्विक—इतने स्वाभाविक और देवत्वपूर्ण, इतने साकार और सदेहपर चिर सौन्दर्य्योन्मुख होने का यही रहस्य है।

अपनी बात को कुछ और स्पष्ट कर दूँ। तनिक उस युग की कल्पना कीजिये जब पति के साथ सती हो जाना नारीत्व को विशेषकर राज्यवंश की तेजोमयी ललनाओं के जीवनकी चरम उपलब्धि मानी जाती थी। कुलीनतम राजपूतवंशकी राजरानी मीरा सती होनेसे इन्कार कर परम्परा को ठोकर देतीं हैं। इसके लिये कितना बड़ा आत्म विश्वास और भीतरी बल चाहिये यह बताने की आवश्यकता नहीं। जिसके भीतर भक्ति और आत्मदान की वासना उफना उठी हो उसे लौकिक परंपरा का ध्यान भी कैसे आ सकता है? कृष्णसे अपना नाता जोड़कर मीरा स्वकीया की भाँति 'बाँह गहे की लाज' की याद दिलाती है,—'मीरा के प्रभु गिरिधर नागर 'बाँह गहे की लाज' मीरा के असाधारण और अंगीभूत प्रेम की वेदनाका ही यह प्रभाव था जो उसने पौराणिक—ऐतिहासिक कृष्ण को भगवान के—ईश्वरताके ऊँचे सिंहासनसे उतारकर उनसे अत्यन्त निकट का—ऐसा मानवीय संबंध स्थापित कर लिया। यह निकट का संबंध रह रह कर मीरा को मिलन वियोग की—सुखदुख भावनायें देता है। कभी उसे अनुभव होता है कि प्रिय दूर चला गया है—उसने उसकी सुधिबिसार दी है—न जाने वह कब कहाँ कैसे मिलेगा। मीरा चिन्तित हो फूट पड़ती है—तड़प तड़प कर कहती है

चरण कमल कूं हँसि हँसि देखूं राखूँ नैना नेरा।
निरखण कूं मोहि चाव घणेरो कब देखूँ मुख तेरा॥
व्याकुल प्राण धरत नहीं धीरज मिलि हूं मति सबेरा॥

कभी वह परदेशी प्रियमत से अनुनय विनय करती है कि वह उनकी सुधि ले। कभी आन्तरिक स्फूर्ति, उल्लास और परिपूर्णता से वह भर जाती है। लगता है प्रियतम अब पास आ गया। उस समय सारी प्रकृति—सारी वातावरण जैसे प्रियतम के आने के समाचार से

बदल सा जाता है। सावन में काली काली घटाओं का शब्द सुनकर मीरा गाती है—गाती क्या है सौलह सिंगार भरे मन से नाचती है—

"झुक आई बदरिया सावन की
सावन की मन भावन की"
"सावन में उमंग्यो मेरा मनवा भनक सुनी हरि आवन की"

यही नहीं कभी कभी प्रियतम सचमुच लौट कर आ जाता है। विरह द्वन्द्व का जैसे अन्त हो जाता है।

"सहेलियाँ साजन घर आया हो।
बहोत दिना की जोवती, विरहणि पिव आवा हो"

मीरा की वेदना की यही सबसे बड़ी देन है। कृष्ण अपना ऐतिहासिक, पौराणिक, पारलौकिक अस्तित्व समाप्त कर जैसे प्रेम की परिपूर्णता और रसनिष्ठा के प्रतीक बन कर रह गये हैं। प्रेम साधना की इससे बड़ी, ऊंची और चैतन्यस्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती जब ईश्वर हृदय के अन्तरतम में आत्मसात होकर अन्यतम बन जाता है। कृष्ण का अस्तित्व कहीं ढूंढ़ा जा सकता है तो मीरा के अपने अस्तित्व में। तभी वह कहती हैं—

हो कानों किन गूंथी जुल्फा कारियाँ।
सुघर कला प्रवीन हाथ सों, जसुमति जू ने संवारियां॥
जो तुम आओ मेरी बाखारियां जरि राखूं चन्दन किवारियां।
मीरा को प्रभु गिरधर नागर इन जुल्फन पर वारियाँ॥

अथवा—

औरों के प्रिय परदेश बसत हैं लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हिरदे बसत है गूंज करुं दिन राती॥
और सखी मद पी पी माती मैं बिन पीयां मद माती।
प्रेम भठी को मैं मद पीयों छकी फिरूं दिन राती॥

कभी अपने को राधा मानती हैं:—

"आवत मोरी गलियन में गिरधारी।
मैं तो छुप गई लाज की मारी॥
आवत देखी किसन मुरारी छिप गई राधा प्यारी।"

और कभी परकीया भाव से उलहना देती हैं—

"छाँड़ो लंगर मोरी बहियां गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की मेरे भरोसे गुपाल रहो ना।
जौ तुम मेरी बहियां गहत हो, नयन जोर मोरे प्राण हरो ना।"

इतनी तन्मयता, इतनी तीव्रता, मिलन वियोग की इतनी गहरी संवेदना—ऐसा अनोखा और अवदान रागात्मक सबंध प्रिय को देख कर नेत्रों द्वारा प्रेम रस पीते रहना—उसी प्रिय के मुखमंडल को देखते रहने पर ही अपना सारा जीवन निर्भर मानना मीरा की यह पति भावा भक्ति जीवन साधना है। हृदय और आत्मा की यह कितनी गहरी खोज है। मीरा की वेदना में जीवन-संस्कार का, आत्मपरिष्कार का, महान सदेश छिपा हुआ है। जैसे इस जोगिन ने स्वर्ग की सुषमा पृथ्वी पर उतार दी हो। मीरा की वेदना के रस में विभोर होकर मनुष्य दर्शन, धर्म साहित्य और कला से एक दम ऊपर उठ जाता है। हृदय इसे समझता है। प्राण इसे पहचानता है—मन इसी में डूब डूबकर उतराता है।

मीरा के आंसुओं में कहीं कहीं चन्दन से सुवासित आर्द्रता है तो कहीं कहीं उसने अबीर घोलकर अपने आंसुओं को भी रंगीन बना लिया है। कभी वह पूजा के मन्दिर से निकल कर प्रिय के रूपोद्यान में आ जाती है तो कभी भक्ति के प्रति पूर्ण श्रद्धामयी होते हुए भी वह आसक्ति के प्रति अपनी तल्लीनता नहीं खोती। उसकी आत्मस्निग्धता में कभी कहीं कोई कमी नहीं आती। हरि मिलन की ऐसी प्रबल आकांक्षा जो सांसारिक बाधाओं को ठुकराकर—सांसारिक ऐश्वर्य के प्रलोभनो को त्यागकर अपने उपास्य के प्रति ऐसा तीव्र वेग लेकर तरंगित होती रहीं। मीरा की वेदना को जीवन के

पुनीततम सत्य की दीप्ति प्रदान करती है।

"दरस बिन दूखण लागे नैन।
जब के तुम बिछुरे प्रभु मेरे कबहुं न पायो चैन॥
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन।
मीरां के प्रभु कबरे मिलोगे दुख मेटण सुख दैन।"

प्रिय दर्शन की कितनी उत्कृष्ट इच्छा—आकुल आकांक्षा है। यह आकांक्षा आस्वाद्य है—कभी इसका आस्वादन मिल चुका है। इसी लिये यह दर्शन पिपासा इतनी तीव्र है। उसी स्वाद की स्मृति उद्दीपक का कार्य कर रही है। वही मिलन के अनुभव के सुख की प्रणवता को भी स्पष्ट करेगी।

"तनक हरि चितवौ जी मोरी ओर—
हम चितवत तुम चितवत नाहीं दिल के बड़े कठोर।
मेरी आसा चितवन तुम्हरी और न दूजी दौर।"

मीरा ने अपनी भक्ति को 'बालपना' की प्रीति कहा है। मनोविज्ञान के जानकार जानते हैं कि बालपने की प्रीति की जड़ें कितनी गहरी होती हैं। विश्व साहित्य में, भारतीय साहित्य में असंख्य उदाहरण इस प्रकार के हैं। मीरा के विरह के पदों से भी उनका निरन्तर आराध्य के स्मरण तथा ध्यान में लवलीन रहना प्रकट होता है। उन्हींके ध्यान में मार्ग देखते रात्री बीत जाती है और नाम रटते जीवन व्यतीत हो रहा है।

"सखी मेरी नींद नसानी हो
पिय को पंथ निहारत सिगरी रैन बिहानी हो
ज्यूं चातक घन कूं रहै मछरी जिमि पानी हो
मीरा व्याकुल बिरहणा सुध बुध बिसरानी हो"

यही जीवन व्यापिनी प्रतीक्षा-विरह की यही आजन्म परिधि विरहिणा को चैन नहीं लेने देती। मीरा की वेदना स्वकीया का आत्म समर्पण है—विश्वास पूर्ण आत्मदान है। प्रेम में घुल घुलकर

अपने को पचा पचा कर उसने मिलन के स्वर्गीय उल्लास की सुधि के सहारे विरह की मर्मान्तिक वेदना झेली है। मीरा की वेदना की जीवन भूमि मैंने ऊपर दिखाने की चेष्टा की है। मीरा की वेदना ने एक ऐसे अतीन्द्रिय जगत की सृष्टि की है जहाँ केवल तन्मयता, प्रेम विह्वलता और प्रिय चिन्तन के अलावा कुछ नहीं। उसमें इन्द्रियों की अन्यभूति के माध्यम से प्राणों की आकाँक्षा ही प्रकट हुई है। इसी लिये बराबर अपनी नीवें मानवीय पृथ्वी पर रखते हुए भी वह स्वर्ग की सीमायें छूती चलती है। उसमें भावों का अलौकिक आलोड़न विलोडन है। इन्द्रिय जन्य लालसा के भीतर से भी बराबर अनश्वर मिलन और कामना की ज्वाला फूटती है।

"स्याम मोसूं ऐड़ा डोले हो
औरन सूं खेले धमार म्हासुं मुख हूं न बोले हो
म्हारी अंगुली ना छुए बाकी बँहियों मोरे हो
म्हारो अंचरा न छुए बाकी घूंघट खोले हो"

मीरा के हृदय से जो प्रेम की धारा बही उससे उसके हृदय का आँचल भींग गया। मन की निराशा, वेदना और एक अपूर्व भक्ति विह्वलता के रस से मीरा की कवितायें भींगी पड़ी हैं। उसके गीतों में अकूल, अनन्त, अशेष प्रेम की मोहिनी ज्वाला का प्रकाश है। इसके नित्य प्रेमी हृदय से जो अतल स्पर्शी वेदना एवं विरहकातरता की शीतल अमृत मंदाकिनी प्रवाहित हुई है उसने भारतीय जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। शत शत, सहस्त्र सहस्त्र प्राणों को उसने जीवन की गर्मी से उबार कर ठंडक दी है। प्रेम भी कैसा जो देह के मांस पिण्ड के भीतर समाना-अँटना नहीं जानता। जीवन की पोर पोर से जो चारो ओर उच्छ्वसित हो होकर उमड़ा करता है। ऐसा स्थिर, अचंचल, आनन्दमय आत्मार्पण-जीवन को परिपूर्ण शास्त्र की ओर ले चलने वाला ऐसा सतरंगी प्रकाश जो आत्मा के अक्षय विषाद

की गहराई से छनकर आता है वैष्णव कविता में अन्यन्य दुर्लभ है। मीरा की वेदना जीवन के उजड़े की वेदना हैं जिसमें दिल का स्व-राग जल जलकर बूझता है—बुझ बुझकर जलता है। प्रेम की यह वेदना बचपन की सँजोई निधि है।

"बालपन ते मीरां कीन्हीं गिरिधर लाल मिताई
सो तो अब छूटत क्यों हूं नाहिं लगन लगी बरिआई"

सच्चा प्रेम एक बार उत्पन्न होकर फिर जा नहीं सकता। पहले होते समय और बढ़ते समय उसमें सुख ही सुख दिखाई पड़ता है। पर बढ़ चुकने पर भारी दुख का सामना करना पड़ता है।

"घड़ी एक नहिं आवड़े दरसन तुम बिन मोय
तुम हो मेरे प्राण जी कासूं जीवन होय"

मीरा अपने प्रिय को सम्पूर्ण जीवन की चिर-प्रेमार्जित तपस्याओं के फल के रूप में आवाहन करती है। हृदय का द्वार खोलकर अपने तन मन के समस्त सौंदर्य को—सुपनों को विछा देती है—अपनी सम्पूर्ण कोमलता फैला देती है। उसका प्रिय एक बार-केवल एक बार उसके जीवन को अपने चरणों में आश्रय दे दे। मीरा की वेदना में भी प्रेम का आनन्द है। इस आनन्द के पहाड़ी नदी जैसे तीव्र प्रवाह में उसकी आत्म विपंची के स्वर प्रवाह की भाँति तरंगित हो रही है। मीरा की वेदना में वह विलास की चाँदनी नहीं है जो नशे में इधर उधर उड़ा करती है। उसका प्रेम दिवानि मुख होता हुआ भी मानवी पिपासा, उत्कंठा और हार्दिकता से परिपूर्ण है। उसमें मिलन की उमंग भरी प्यास है। मीरा की वेदना काँटे के समान दिल में चूभती है—जूही की सुगन्ध के समान मस्त करती है और आलींगन के समान विस्मृतिकारी आनन्द से मन को पूर्ण कर देती है। इस वेदना में एक समूचे जीवन की ही नहीं जन्म

जन्मों की-युग युगों की अन्तःप्रेरणा और प्राण पिपासा है। उसके सहज सरल उच्छ्वासों में बड़ी गहरी कचट है। जलन की मरुभूमि पर इस कवियित्री ने प्रेम का बिरवा लगाया है—विरह की बेल बोई है जिसकी जड़े पाताल में हैं और जिसकी फुनगी आकाश में गुंथ सलमों सितारों को छूती है। मीरा के गीतों में यह वेदना—यह विरह व्यथा जो किसी के कहने सुनने की नहीं, भीतर-भीतर संचित करने की चीज है 'सोफी' के गीतों में ही मिलती है। दोनों एक समान गति की वेदना-प्रेम के आनन्द में डूबी रहीं और प्रेम की मग्नता में जीवन की इतिश्री बोल गई।

जैसा मैंने ऊपर कहा है मीरा की वेदना ने कृष्ण को एक मानवीय महिमा प्रदान की है जो अपूर्व है। इसके पहले कृष्ण को मानवीय रूप में देखने का यत्न अवश्य हुआ है पर देवत्व और असाधारणता के द्वारा। उसे स्वर्ग के देवता की नर-लीला का नाम दिया जा सकता है। मीरा के वेदना-सजल गीतों में हम कृष्ण को मनुष्य के माध्यम से देखते हैं—पहचानते हैं—परखते हैं। इसका कारण मीरा की अनभूति की तीव्रता और प्रेम परिपूर्ण तन्यमता हैं। मीरा ने यह सिद्ध कर दिया की एक दैवी ईश्वराय सत्ता की भी मानवीय उत्कंठा और आकांक्षा के दिल के सोज़ और कलेजे की उसी बेचैनी अकुलाहट और आवेग के साथ प्यार किया जा सकता है जैसे एक मानव को।

"घर आँगन न सुहावे, पिया बिन मोहिं न भावे
दीपक जोये कहा करूँ सजनी, प्रिय परदेस रहावे
सूनी सेज जहर ज्यू लागे; सिसक सिसक जिय जावे
नयन निद्रा नहिं आवे"

"कब की ऊभी मैं मग जोऊं निसि दिन बिरह सतावे
कहा कहूं कछु कहत न आवे हियरो अति अकुलावे"

यह उत्कट आसक्ति प्रिय के लिये, यह प्रतीक्षाकुल तीक्ष्ण विरह भाव की तड़पन जिस प्रेम के तत्व से जन्म लेती है वह प्रेम अपने में स्वयं एक आदर्श है। यथार्थ का आवरण पहन कर भी वह पावनता को पुकारता है—शुचिता का आलोक फैलाता है। मीरा के इन पदों का मर्म वे बूझेंगे जिन्होंने प्रिय की प्रतीक्षा में रातें जाग कर बिताई हैं, और जो विरह में जीवित अभाव सदेह चीत्कार बन कर रह गये हैं। घायल की गति घायल ही जानता है।

मीरा की वेदना एक स्वर्गोत्तर भावमय सौन्दर्य से दीप्त है। युग युग तक उसकी व्यथा प्रेम के पथ के पथिकों के लिये प्रकाश की मशाल बन कर रहेगी। अपने जीवन-निरूपित त्याग में वह अमर और साधना में सम्पूर्ण है। इस भक्ति विह्वलता का मूल वैष्णव उपासना की उसी प्राणवान जीवननिष्ठा में है जो सदियों तक हमारे साहित्य की आत्मा की अन्तस्थली में मिली रही है और आज भी जो दुनिया के साहित्य में बेजोड़ है—बेनज़ीर है। उसके प्रेम में मानवीय परिपूर्ति की आकांक्षा होते हुए भी ऐन्द्रिकता नहीं है। इसीलिये सामाजिक आलोचना, लोकोपवाद और बदनामी के सामने वह कभी कुंठित नहीं होती। अपनी पीड़ा को व्यक्त करने के लिये वह गोपियों की ओट नहीं लेती। मानवीय धरातल पर अपने देव-प्रिय को खींचकर वह अपनी तपन बुझाना चाहती है।

सूनो गांव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी
सूनी बिरहिन पिव बिन डोलै तजदई पीव पियारी
अब तो मेहर करो मुझ ऊपर, चित दे सुणो हमारी
मीरा के प्रभु मिलज्यो माधो जनम जनम की क्वारी

यह मन का, युग युगों का, जन्म जन्म का कौमार्य है जो प्रिय के लिये संचित है। इस कौमार्य में अनबीधें मोती की निर्मलता है—"अनाघ्रातं पुष्पम्" की दोशीज़गी (?) है जो नारीत्व की सब से बड़ी

निधि है। मीरा इसी को संजोये प्रिय की मिलन यामिनी में जाग रही है। इस 'जनम जनम की क्वारी' की तृष्णा और पिपासा की करुणशील कल्पना भी नहीं की जा सकती जो अब तक जीवन के सब से बड़े सौख्य से वंचित रही है।

मीरा की कविता में सर्वत्र उसकी आत्मा प्यासी प्यासी सी दौड़ रही है। प्रेम के देवता की यह अनोखी सर्व व्यापकता है। मीरा के विरह गीतों में संसार की पुंजीभूत निराशा की 'रूह' है।

"तुम्हरे कारण सब कुछ छोड्यो अबु मोहि क्यूं तरसाओ।
बिरह व्यथा लागी उर अन्तर सो तुम आग बुझाओ॥
अब छोड्या नहिं बनै प्रभू जी, हंस कर तुरत बुलाओ।
मीरा दासी जनम जनम की अङ्ग सूं अङ्ग लगावौ॥"

इस प्रकार के पार्थिव संवेदनों से भरे होने पर भी मीरा के गीतों के इन शारीरिक निर्देशों के भीतर जलती उन्मादक ज्योती का स्रोत कहां है? कहां से यह देवत्व की मधुमादकता का लहरा आता है। संताप की इस यज्ञानल ने मन के सारे कल्मष और विकारों को भस्म कर दिया है। कहीं किसी प्रकार का अपूजा भाव नहीं है। मन और तन का यह अभेद पुजारिनी की आत्मार्पण की आग का द्योतक है। नारी प्रिय के लिये अपने को विसर्जित कर देगी। जब साधिका और साध्य, उद्देश्य और विधेय एक हो जायंगे तब गोपन और दुराव कहां? तन के दान का यह आग्रह केवल मीरा के प्रेम और भक्ति के भीतर स्थित अङ्गीकरण के सत्य का परिचायक है। उसमें किसी और भावना के लिये स्थान नहीं। मीरा प्रेम की दिवानी है। वह बेसुध है। करणीय, अकरणीय, कथनीय, अकथनीय के भेदभाव से मुक्त; उसके भीतर मिलन की तादात्म्य की प्रेरणा है। वह अखंड सोहाग की अलख जगाये बैठी है।

अन्त में मैं यह कहना चाहूंगा कि मीरा की वेदना में एक शोधक प्रभाव (Purifying effect) है। उसके गीतों को पढ़कर, सुनकर हम भीतर-भीतर एक आन्तरिक ठहराव—एक जीवन स्थिरता और प्रवृत्ति का मांगलीकरण अनुभव करते हैं। प्रेम की यातना हृदय को द्रष्टा और स्रष्टा दोनों बना देती है। श्रीमती ब्राउनिंग के शब्दों में—'We learn in suffering what we teach in songs'.

मीरा के गीतों की सारी सीख और दार्शनिकता उसकी अन्तर्यातना से फूटी है। इसीलिये ऊपर से देखने में जो संभोग सुलभ 'ऐन्द्रिकता' लगती है वह अपने प्रभाव में सूक्ष्म अतल प्रवाहिनी रागात्मिकता का रूप ले लेती है। व्यक्तिका विलास तत्व के प्रकाश में परिणत हो जाता है। मीरा को मैं इसीलिये प्रेम और वेदना की—संयोग और वियोग की अन्तर्लक्ष्मी मानता हूं। इस वेदना में सपनों को मूर्तिमान बनाने वाली त्याग और संताप-सहन की वह प्राणमयी स्वरलहरी है जो युग-युग से पुजारी-पुजारिन की आत्मा को अपराजेय दृढ़ता प्रदान करती आई है। वियोग मिलन, विनय, वन्दना, लीला, आत्मपरिचय, त्योहार वर्णन, उपालंभ, प्रीतिनिवेदन, जोगिनी रूप में निवेदन, राम को संबोधन, सतगुरु प्रशंसा, विज्ञान-ज्ञान-भक्ति सभी के भीतर मीरा की वेदना का प्रत्यय है। आत्मा का रहस्य, प्रीति का मर्म स्वयं काव्य है और मीरा ने जहां अपने युग की चेतना से प्रभावित होकर रहस्यवाद को अपनाया है वहां वह भी इस वेदना की जलधार में घुलकर सरस और स्निग्ध हो गया है।

———

मीरा की भक्तिसाधना

डाक्टर उदय नारायण तिवारी एम० ए०, डी० लिट०

लौकिक कान्तरति को देवविषयकचषक में ढाल कर मधुर सङ्गीत शिञ्जाभरे पदोंवाली कविता कामिनी के कमनीय करों द्वारा छककर सहृदय समुदाय को पिलानेवाली भक्ति पृषती स्यन्दनकादम्बिनी भावोन्मत्ता मीरां के रससागर में कौन अभागा भारतीय नहीं आकण्ठ-मज्जन सुख प्राप्त कर सका? भक्त चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने जैसी याञ्चा भगवान् रामचन्द्र से 'नानापुराणनिगमागमों' का अध्ययन मन्थन कर विशद-हृदय होकर की थी * वैसी ही निष्कलुषमानसा मीरां ने कोरे भावुक चित्त से की है:—

"मैं तो सांवरे के रंग राची।
साजि सिगांर बांधि पग घुँघरू लोकलाज तजि नाची॥
गई कुमति लई साधु की संगति भगतरूप भई सांची।
गाय गाय हरिके गुन निसदिन कालव्याल सूँ बांची॥
उण बिन सब जग खरो लागत और बात सब कांची।
मीरां श्री गिरधरनलाल सूँ भगति रसीली जांची॥"

यह जो मीरां ने यहां गिरधरनलाल से मात्र रसीली भक्ति मांगी है वह कोई अपवाद नहीं है। बल्कि उस साधिका की यह साध

---

* नान्या स्पृहा भगवते हृदये मदीये सत्यं वदामिच
भगवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरांम्मे कामादिदोष-
रहितं कुरु मानसञ्च॥
(अयोध्या० मङ्गलाचरण)

उसके पद्-पद् में समाई हुई है। "भगति देखि राजी हुई जगति देखि रोई" जैसी असामान्य भक्ति-भरी उद्भावनाएं समग्र साहित्य में इतस्ततः बिखरी पड़ी हैं। निस्सन्देह यह उसकी अन्तरात्माका स्वर है।

भक्ति का यह स्वयम्प्रयोजनत्व भक्त को उच्च भावधारा का अभिव्यञ्जन है। जब उपासक उपासना के रस में इतना आत्मशर्म हो जाता है कि उसे उसकी साधना फीकी ऊंचने लगती है और उसी रस में उन्मत हो कर घूमने लगता है तब उसे वही साध्य, एवं समग्र संसार का सार प्रतीत होने लगता है। वह अपने उपास्य से भला और क्या मांगे। परन्तु इसे नहीं विस्मृत कर देना चाहिए कि साधारण श्रेणी के साधक अपनी पाप की गठरी दूर फेंक सकने का ही स्वप्न देखा करते हैं उनका उद्दिष्ट होता है कि प्रभु उनके अवगुणों को चित्त में न स्थान दे; बस किसी तरह उन्हें भक्ति की डोर पकड़े-पकड़े मोक्ष तक पहुंचना है। उपासकों की सामान्य-आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी *—(इन) श्रेणियों में ही उन्हें बिठाला जा सकता है। उस उच्च उपासकमञ्च पर तो उक्त प्रकार की भावनाओं वाले लोग ही समासीन होने का अधिकार रखते हैं।

उपर्युद्धृत पद की पहली दो स्थायी की पंक्तियां जिस दिशा में हमारा ध्यान ले जाती हैं वह भी मीरां की भक्तिसाधना का बहुत महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। उनकी उपासना माधुर्यभाव की है। उपासना के क्षेत्र में यह सर्वोच्चकोटि की मानी जाती हैं। क्योंकि लौकिक जीवन में भी दाम्पत्य प्रेम से अधिक पागल बना देनेवाला और कोई प्रेम नहीं होता। शेक्सपियर ने इसी प्रेम को इसीहेतु "अन्धा" (blind) कहा था। शास्त्रदृग् को तो फोड़कर यह आता ही है चर्मचक्षुओं को भी मींच देता है। परन्तु लोक में यह उबाल और उबालों की तरह ही अस्थायी है। परन्तु वही दम्पतिरति जब आराध्य और

---

* गीता—"आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ!"

आराधिका के बीच अपलौकिक और स्थायी होकर सम्बन्धाबंधहेतु बनती है तब आनन्दान्त न होकर आनन्दरूप हो जाती है। अभिव्यञ्जना सच्ची भावगरिमा से भारावनत होकर सर्वाधिक गौरवपूर्ण हो जाती है। मीरां ने उस आनन्दरूप अलौकिक पतिरति का अङ्कन निम्न पद में यों किया है :—

"जोसीड़ाने लाख बधापरे अब घर आप स्याम ॥
आजि आनंद उमंगि भयो है जीव लहै सुखधाम।
पांच सखी मिली पीव परसि कैं आनंद ठामूं ठाम ॥
बिसरि गई दुख निरखि पिया कूं, सुफल मनोरथ काम।
मीरां के सुख सागर स्वामी भवनगवनकियो राम ॥"

बहुत से लोगों में गोपियों की उपासना-भावना की मीरां की भाव साधना से तुलना की है, कान्तविषयिका होने के नाते। पर गोपियों का प्रेम लौकिक है, वह पति देव की ही उपासना है न कि आराध्य की। उन्हें यह भी नहीं मालूम था कि यह "चुड़लो अमर" करने वाला उद्वाह है। उधर मीरां ने इसी ध्येय से "सांवरों" का वरण किया था। और न कभी मीरां के स्वच्छ भक्ति भावापन्न मनो मुकुर में गोपियों की यह भावनाएं ही आ सकती थीं :—

"यत्ते सुजात चरणाम्बुरूहं स्तेनषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमही कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषान्नः ॥ (भा, १०-३२-१६)

मीरां कृष्ण प्रेम की वह अलौकिक मन्दाकिनी है जिसकी प्रतिमा सामान्य मानवभावों के गंदले नालों से उमड़ायी हुई किसी भक्तिभाव-भरिता कन्दलिता सरिता में पाना नितान्त असम्भव है।

मीरां के कुछ अप्रकाशित पद

जगदीश प्रसाद गुप्त
रिसर्च स्कालर, प्रयाग-विश्व-विद्यालय।

गुजराती-साहित्य विषयक अपनी शोध-यात्रा के सम्बन्ध में जब मैं गुजरात गया तो मुझे कुछ समय तक अहमदाबाद में रह कर वहां की गुजरात - वर्नाक्यूलर-सोसायटी (आधुनिक गुजरात-विद्या-सभा) के हस्तलिखित-ग्रंथों के संग्रह को देखने का अवसर मिला। इस संग्रह में सं० १६९५ की एक हस्त-प्रति है जो समय और सामग्री दोनों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।० इस प्रति के प्रधान भाग में विष्णुदास सुत अविचलदास नामक गुजराती कवि की 'आरण्यकपर्व' तथा 'भागवत छठ्ठो स्कंध' ये दो रचनाएं स्वयं कवि के हस्त-लेख में लिखी हैं शेष भाग में हित हरिवंश की हित चौरासी तथा सूरदास नन्ददास आदि अनेक भक्त कवियों के ब्रजभाषा के पद लिखे हैं। इसी ग्रंथ में मीरांबाई के निम्न लिखित आठ पद भी दिये हुए हैं।

१ (राग) मारु

श्याम सुन्दर गोपीनाथ वृन्दावन राजे,
साजन मोरली बाजे।
सप्त सुर सहीत राग अति तान जगावें ॥१॥
मोहे पशु पंक्षी द्रुम मुनि जी ध्यांन भुलावे ॥२॥

---

० गुजराती हाथ प्रतोनी संकलित यादी—गु० व० सो० अहमदाबाद पृष्ठ ९;
हस्त प्रति नं० द ४७७ क.
इसमें दिया हुआ संवत् १६९५ श्रावण सुदि १२ रविवासर गणना से शुद्ध सिद्ध हुआ है।

मुरली को घोर सुनत गोपी उठी धाई।
मीरां प्रभु गीरीधर मिले तन की ताप बुझाई* ॥३॥

जिते सुघर सकल त्रिभुवन के प्यारी तिं राग अलाप्यो टोरी।
तान तरंगिनी को भेद पाये रसीक लालन संगि खेलत होरी॥
रसके गीधे सुर ठठ कीनो एही रस सिंध करत झकझोरी।
मीरां प्रभु गिरीधर रस क्रीडत मनमथ कोज धरम द्वार छोरी॥

---

* कवि चरित, भाग १, पृ० १८८ (अमदाबाद) पर श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने सं० १७०१ की लिखी (द, ३५० अ) प्रति में से दो पद मीरां के उद्धृत किये हैं जिनमें से एक इस के समान ही है। हिन्दी की दृष्टि से ये दोनों पद अप्रकाशित हैं।

१. मुरली बाजि हो, साजन, मुरली बाजि हो।
श्याम सुन्दर गोपीनाथ वृन्दावन बिराजि साजन ॥
शबद सरस तान राग मधुरी मधुरी गावि।
मोहे पशु पंक्षि तरुअर मुनिका ध्यान चुकावि। ॥१॥
मुरली घोर श्रवणे सुणी गोपीका उठी धाई।
मीरां प्रभु गिरधर मिलि तन की ताप बुझाई ॥२॥

२. नन्दलाल स्युं मेरु मन मान्यु हसा काहु करी गा कोई रे।
अब तु आई छिनी गई ईसी विधाता लघु सू होई। ध्रुपद।
मात रिसावि तात धरि मारि हसि बका लोय रे।
नन्दनन्द स्यू कबही न छोडू मनि भावि सो होय रे ॥१॥
रे नंद ज मेरु आई लोक जाइ गु तु परलोक न जावि गु।
नन्दनन्द स्यु प्रीति वधाणी मिलू जी निसान विजाईं गु।
तन मन धन हरजी कु अरपु श्री वल्लभवेष मुरारि।
मीरा प्रभु गिरधर के ऊपरि तन मन करु जी उआरि ॥३॥

(३) (राग) मारु

गोविन्दा सु प्रीत करत तब न काईं हटकी ।
अब ते बात फिल गही जे से बरध बटकी ॥
डोलत गज मत्त जे से सुध न रहे ·मटकी ।
प्रेम की उरगांठे परी कोटि बार झटकी ॥२॥
अब तो सोच करत काहे उर छाप लटकी ।
मीरां प्रभु गिरीधर वीनां जानत को घटकी ॥३॥

(४) भली बु* बनी वृषभान नंदनी प्रात समि रण जीत आवे ।
मुख पर स्वेद अलक लर छूटी मधुरी चालि गजगति लजावती ॥१॥
मोहन छेल छबीले नागर सुरत ही डोरीया झूलत गावे ।
दोउ सुभट रणषेल महारस आसत मदन ठोर नहिं पावि ॥२॥

यह पद कुछ परिवर्धित रूप में 'मीरांबाई की पदावली' के पृष्ठ ८० पर परिशिष्ट (ग) में छपा है। यह रचना साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित है और रचनाकार हैं परशुराम जी चतुर्वेदी। पद यों है—

गोविंद सूं प्रीत करत तबहीं क्यूं न हटकी ।
अब तो बात फैल परी, जैसें बीज बटकी ॥ १ ॥
बीच को विचार नाहि, छाँय परी तटकी ।
अब चूको तो ठौर नांहि जैसे कला नटकी ॥ २ ॥
जल के बुरी गांठ परी रसना गुन रटकी ।
अब तो छुड़ाय हारी, बहुत बार झटकी ॥ ३ ॥
घर घर में घोल मठोल, बानी घट घटकी ।
सब ही कर सीस धारि, लोक लाज पटकी ॥४॥
मद की हस्ती समान, फिरत प्रेम लटकी ।
दास मीरा भक्ति बुंद, हिरदय बिच गटकी ॥५॥

समानता दर्शनीय है।

* 'बु' के स्थान पर 'जु' या 'यु' भी पढ़ा जा सकता है। अक्षर स्पष्ट नहीं है।

यहां तुकान्त के ध्यान से 'लजावे' होना चाहिये। 'लजावती' के बाद एक 'वि' भी लिखा है जो कदाचित इसका द्योतक है।

हरी के नख रूचि उदय विराजीत विन तारावली हार देखावत ।
मीरां प्रभु गिरीधर छबी निरखत वदन कोटि रवि जोति लजावत ।

(५) (राग) काफ़ी

नेनां अटके रूप सु पल पल नही लागे ।
निशि दिन चात्रक उंचहे सोप न जागे ॥१॥
वसन अभूषण सब तजि पीअ के अनुरागे ।
मोहन मूरति सदि बसी अलबेली पागे ॥२॥
मात पिता सुत बंधवा रचि पचि सब भागे ।
मीन वियोगी क्यों जीये जब जल ति त्यागे ॥३॥
मीरां प्रभु गिरीवर मिले पीया सेज सोहागे ।
छठे छाहार उनकी परो जे आपु (कु) न थे मागे ॥४॥

(६) (राग) मारू

आवि गोकुल को निवासी ।
मथुरा की नारि दीख आनन्द सुखरासी ॥१॥
नाचती गावती ताल बजावती करत विनोद हासी ।
यशोदा को पुरण पुण्य प्रगटहि अविनासी ॥२॥
पीतांबर कटि विराजीत उर गुंजा सोहाशी ।
चानुर मुष्टिक दोउ मारे कंस के जीअ त्रासी ॥३॥
जाही के मनि जेसो भाव तिसी बुधि प्रकाशी ।
गिरीधर से नवल ठाकुर मीरां सी दासी ॥४॥

• यह पद भी कुछ पाठ भेद से और कुछ संक्षेप से निम्नलिखित रूप में मीरां बाई की पदावली पृ. ४७ पर मिलता है ।

गोकुला के बासी भले ही आए, गोकुल के वासी ।
गोकुल की नारि देखत आंनद सुखरासी ।
एक गावत एक नाचत, एक करत हांसी ।
पीतांवर फेटा बांधे अरगजा सुवासी ।
गिरिधर से सु नवल ठाकुर मीरां सी दासी ॥४॥ १६६.

पक्तियों में विशेष साम्य हैं परन्तु चान्दर मुष्टिक आदि के वध वाली महत्व पूर्ण पंक्तियां नहीं हैं ।

गुजराती हाथ प्रतोनी संकलित—गु. व. सो. अहमदाबाद पृष्ठ ९ ; हस्त प्रति नं द ४७७ क.

(७) तेरो रूप देखी लटकी।
देह थि विदेह भई गिरी परी शिरे मटकी ॥१॥
मात तात सजन बंधु जननी मिलि हटकी।
सदि थि मोहों टरत (न) *नांही छबी (वि) नागर नटकी ॥
अब तो मन वासु मांन्यो लोक कहत भटकी।
मीरां प्रभु गिरीधर विना को जांणे आ घटकी ॥२॥

(८) गोहनां गोपाल फिरु पसी आवत मन मिरी।
वारीज बदन अवलोकत बिवस भई तन मिरी ॥१॥
मुरली कर लकुटी लीए पीतांबर धारू।
काछु बढुँ * गोप वेख गोधन बन चारु रि * ॥२॥
क्यों न भई गुलम लता वृन्दावने रहेनों *।
खग म्रीग पशु थकीत भए श्रवण सुनत वेनां ॥३॥
गोर जन सब बरजि को उपाय कोजे।
मीरां प्रभु गिरीधर बिनु को हो किसे करी जीजे॥४॥ *

---

* ये दोनों अक्षर लेखक की भूल से लिखे गये प्रतीत होते हैं।

* इस 'बुढ' के स्थान पर 'खढु' भी पढ़ा जा सकता है। गुजराती 'ब' (ध) और 'ख' (ध) में अन्तर भी बहुत कम होता है।

—यह 'रि' व्यर्थ प्रतीत होती है।

• दूसरे तुकान्त के साम्य से इसका 'रेनां' रूप संभावित है।

• यह पद भी, मीरांबाई पदावली में निम्न रूप में मिलता है।

गौहने गुपाल फिरूं ऐसी आवत मन में
अवलोकत बारिज बदन विवस भई तन में।
मुरली कर लकुट लेऊं पीत वसन धारूं।
काछी गोप भेष मुकट गोधन संग चारूं
हम भई गुलफामलता वृन्दावन रैनां।
पसु पंछी मरकट मुनी, श्रवन सुनत बैनां।
गुरु जन कठिन कानि कासों री कहिए।
मीरां प्रभु गिरिधर मिलि, ऐसें ही रहिए॥ १८५

हस्त प्रति में ये आठो पद एक स्थान पर क्रम से लिखे हुए नहीं हैं जिससे अनुमान होता है कि कदाचित इनका संग्रह विभिन्न सूत्रों से विभिन्न अवसरों पर हुआ होगा। इसी ग्रन्थ में एक पद जसवंत नामक कवि का दिया हुआ है जो वस्तु की दृष्टि से रोचक है। कवि प्रभाती के रूप में अपने 'परम धन राम' को जगाने के लिये प्रार्थना करता है और कहता है कि 'तेरे जन' मुख देखने की इच्छा से आये हुए हैं।* रैदास, नाभा, कबीर आदि अन्य सन्तों तथा उनके द्वारा लाई हुई भेंटों का उल्लेख करने के उपरान्त वह मीरां के लिये इस प्रकार लिखता है—

> आछी जलेबी घ्रत लाडु शुं खांड समेत मीठाई हो।
> छाशे बघारी जीरा लुण शुं मीरां बाई ले आई हो।

यह पंक्तियां मीरा के व्यक्तित्व के विषय में तत्कालीन भक्त-परम्परा में प्रचलित धारणा पर सुन्दर प्रकाश डालती हैं।

गुजरात-विद्या-सभा के अतिरिक्त भी गुजरात में अन्य कई हस्त-लिखित-ग्रंथ-संग्रहो की कुछ प्रतियों में मीरां के पद प्राप्त होते हैं।० फार्बस गुजराती सभा बम्बई की १७५ नं० की हस्त प्रति में यह पद दिया है।

राग पुरवी गोडि

> मारग जान देरी कनैआ।
> बाट घाट मोहे रोकत टोकत॥ बल भद्र जु के भया।१
> घर मेरा दुर गगरीआ भारी॥ घर

* जागो राम परमधन मेरे। मुख देखन आये जन तेरे पृ ६२.

१ डाही लक्ष्मी लाइब्रेरी नडियाद नं० १७-४. (१०-पद)

२ बड़ौदा, नं. ७३५७

३ सूरत, पुरुषोत्तम वि. माव जी तथा टी. बी. कालेज।

जहाँ तक प्रकाशित पदों का सम्बन्ध है मीरां के हिन्दी पद 'मीराबाई की शब्दावली' (वेल्वेडियर प्रेस, प्रयाग); 'मीराँबाइ की पदावली' (हि० सा० सम्मेलन प्रयाग) तथा 'मीराँ, जीवनी और काव्य' (शक्ति कार्यालय, दारागंज प्रयाग) में मुख्यतया प्राप्त हो जाते हैं। तीसरी पुस्तक में संग्रहकर्त्ता महावीर सिंह गहलौत के अनुसार चालीस अप्रकाशित पद प्रकाशित हैं पर इनमें से कुछ के विषय में यह बात लागू नहीं है।* अभी हाल ही में व्रज रत्नदास जी ने मीरां के पदों का एक संग्रह प्रकाशित किया है जिसमें हिन्दी और गुजराती दोनों के पद संग्रहीत है। मीरां के गुजराती पद बृहत्-काव्य-दोहन (बम्बई) भाग १, २, ५, ६ तथा ७ में और प्राचीन-काव्य,सुधा (बड़ौदा) भाग ४ में विशेष रूप से मिल जाते हैं। Selections from classical poets of Gujrat. के प्रथम भाग में तारापोरवाला ने बृहत का. दो. के ही आधार पर पदों का संग्रह किया है। मेरे द्वारा प्रस्तुत आठो पदों में से (१) (३) (६) और (८) को छोड़ कर शेष चार कहीं भी प्राप्त नहीं होते। जो प्राप्य है उनमें भी पाठ भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी कारण मैंने 'अप्रकाशित' विशेषण देने का साहस किया है। सम्भव है कि इनमें से कोई पद अन्य पाठ भेद से प्राप्त हो जाय परन्तु जहां तक मेरी धारण है ये चार पद (२) (४) (५) और (७) अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

पदों का पाठ

पदों की प्रतिलिपि करने में मैंने पर्याप्त सतर्कता रक्खी है। प्राचीन लिपिकारों की तरह मैं भी कह सकता हूं 'यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया' आदि आदि। पाठ-भेद के सम्भाव्य रूपों

---

* उदाहरणार्थ 'भाई मेरे नैनन बांन परो री' को भी अप्रकाशित लिखा गया है जब कि यह पद अनेक संग्रहों में संकलित है। जैसे मीरा बाई की शब्दावली पृ. ५. पर, शब्द, ६. में पाठ भेद अवश्य है।

का निर्देश भी यथा स्थान कर दिया गया है परन्तु पाठ को 'शुद्ध' करने की चेष्टा नहीं की गई है। यों बहुत से स्थल सामान्य सुधार की अपेक्षा करते हैं। लिपि और लिपिकार के गुजराती होने के कारण यह कहना कठिन है कि जिस रूप में यह पद प्राप्त है वह प्रामाणिक रूप है। इससे केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं कि मीरां के जीवनकाल (सं० १५५५-१६०३) के लगभग एक शताब्दी बाद इन पदों का इस रूप में गुजरात में प्रचार था।

वर्ण्य-वस्तु

वस्तु की दृष्टि से (४), (६) और (८) पद विशेष रूप से महत्व रखते हैं। चौथे पद में 'छैल-छबीले-नागर-मोहन' तथा 'वृषभान नंदनी' के रतिरणान्त का वर्णन है। नखक्षत आदि के परम्परागत-वर्णन से युक्त यह 'सुरत-संग्राम' मीरां के अन्य पदों में नहीं मिलता। सूर, नरसी आदि ने इस प्रकार के वर्णन अनेक बार और अनेक प्रकार से किये हैं परन्तु मेरे विचार से मीरां के काव्य के लिये यह नितान्त नवीन वस्तु है। स्त्री होने के माने स्वयं मीरां का कृष्ण को पति रूप में स्वीकार करके मिलन-कामना करना एक बात है और राधा-कृष्ण के रति-श्रम का वर्णन करना दूसरी बात। सेज और सुरत से सम्बद्ध मीरां के पदों में दो प्रकार की भावनानायें प्राप्त होती है। एक से उनकी प्रिय-मिलन कामना का अतिरेक प्रकट होता है दूसरी से संत मत की रूपक-शैली का प्रभाव।* इस प्रकार की स्थूल श्रृंगार भावना

---

* (१) 'सुख महल में सुरत जमाऊं, सुख की सेज विछाऊं री'
मीरां बाई की पदावली पृ. ५. पद. १२.

(२) 'सेज संवारी पिय घर आये हिलमिल गायो'
वही, पृ. ५१. पद. १४७.

(३) सूनी सेज जहर ज्यू लागे सुसक सुसक जिय जावे
नींद नहि आवे — वही, पृ. ३०, पद ७९.

मीरां की प्रिय-मिलनेच्छा का ही एक रूप प्रतीत होता है। मीरां का काव्य भावात्मक है उसमें इस प्रकार की ऐहिक-एषणा अपवाद स्वरूप ही लगती है। तो भी यह अपवाद यदि प्रामाणिक माना जाय (जैसा मैं मानता हूं) तो उसके लिये भाव संगति देखनी होगी। यों स्पष्ट ही यह जयदेव के 'गीत गोविंद' के सूर-नरसी-स्वीकृत संभोग-वर्णन से प्रभावित है। मीरां ने उपालम्भ रूप में एक आध स्थल पर कृष्ण को दूतियों पर अनुरक्त माना है।* यह स्थिति भी मिलन करानेवाली दूतियों के माध्यम से राधा-कृष्ण की प्रीति की व्यंजना करती है। ऐसी दशा में यह मानना होगा कि मीरां के व्यक्तित्व में गोपी-भाव या राधा-भाव आभ्यंतरिक और बाह्यान्तरिक दोनों रूपों में समाहित था।

छठे पद में आने वाला चाणूर, मुष्टिक तथा कंस का वध-प्रसंग भी मीरां के काव्य में सहज सुलभ नहीं।

भक्त कवियों ने मथुरा लीला से गोकुल-लीला को अधिक प्रधानता दी है। मीरां ने भी 'गिरधर नागर' की उपासना की है 'कंसारि-कृष्ण' की नहीं। भावना की दृष्टि से भी मीरां के काव्य में कृष्ण माधुर्य भाव से स्वीकृत हैं लीला-भाव से नहीं। पुष्टि मार्ग से जिसमें लीलाभाव विशेष रूप से मान्य रहा, मीरां का कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सका है। मेरी धारण है कि मीरां में ऐसे भाव भागवत के प्रभाव से आये। 'जाही के मनि जैसो भाव तिसी बुद्धि प्रकाशी' से तो भागवत के उस प्रसंग और उसमें आये हुए 'उल्लेख-अलंकार की स्पष्ट व्यंजना होती है।० आठवें पद में तो भागवत के प्रसिद्ध श्लोक

---

* अवध बदी तो अजहुं न आये दुतियन सूं नेह जोरे।

वही. पृ. ३६ पद ९५.

० मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान।
गोपानां स्वजनो असतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्यु भेजियते विराडविदुषां तत्वं परं योगिनाम्।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥

भागवत, दशमस्कंध अ. ४३, श्लो. १७.

'आसामहोचरणरेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्म लतौषधीनाम्'*
के भाव का 'क्यों न न भई गुलम लता वृन्दावन ने रहेनों' में अनुवाद ही कर दिया गया है। मीरां का काव्य काल वह था जब उत्तर भारत में सर्वत्र भागवत प्रचार वर्ध्यमान था अतएव इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य करने को आवश्यकता नहीं। शेष पद आत्माभिव्यंजन-परक हैं। गोविंद-प्रीति, संत-संग, पारिवारिक-विरोध और लोक-विरोध इन्हीं विषयों को लेकर मीरां के अधिकांश पदों की तरह इनकी भी रचना हुई है। रहस्यवादात्मक पद एक भी नहीं है।

भाषा

छठे पद में 'सोहाशी', सातवें में 'देहथि' 'रुदिथि' तथा आठवें में 'जोर जन', 'कोहो' आदि शब्द गुजराती भाषा और उच्चारण के द्योतक हैं। 'श' भविष्य, सप्तमी विभक्ति में थि का प्रयोग, 'जोर' में विवृत और रुदि में महप्राण-हीन उच्चारण गुजराती भाषा की अपनी विशेषताएँ हैं। इन अपवादों को छोड़ कर शेष पद की भाषा ब्रज है। यहाँ एक बात विचारणीय है वह यह कि क्या वास्तव में ये प्रयोग मीरा के स्वरचित पदों के हैं अथवा लिपिकार एवं गुजराती वातावरण के प्रभाव से ऐसे प्रयोग इन पदों में बनाये। गुजराती-साहित्य के जो इतिहास लिखे गये हैं उनमें सब में मीरां को गुजराती भाषा की कवियित्री माना गया है*। मीरां के नाम पर जो

---

* वही, दशम स्कंध, अ. ४६, श्लो ६२.

(१) गोवर्धनराम त्रिपाठी—Classical Poets of Gujarat पृ. १९-२१

(२) कृष्णलाल मोहन लाल झावेरी—Milestones in Gujarati Literature अध्याय III पृ. २५-५१.

(३) कन्हैया लाल माणिक लाल मुंसी—Gujarat and Its Literature अध्याय IV. पृ. १२५-१३९

(४) थूथी—Vaishnavas of Gujarat. पृ. 226.

(५) तारा पोर वाला—Selections from Classical Gujarati Literature, Vol. I. भूमिका पृ. xiii.

(६) केवल एन. बी. दिवेटिया ने अपनी —Gujarati Language and Literature में मीरां का उल्लेख नहीं किया है।

गुजराती पद उद्धृत किये जाते हैं उनमें से कितने ही या तो मिश्र-भाषा के हैं या ब्रज भाषा के। केवल लिपि गुजराती होने से वे पद गुरजाती के नहीं मान लिये जायेंगे। वृहत-काव्य-दोहन आदि जिन संग्रहों में संग्रहीत मीराँ के गुजराती पदों का निर्देश पहले किया जा चुका है वे अधिक प्राचीन नहीं हैं। बृ० का० दोहन के सातवें भाग में जो ११३ पद दिये गये हैं उनमें से भी ३४ पद गुजराती भाषा के नहीं है। ब्रज भाषा के हैं। बड़ौदा के कीर्ति मन्दिर में श्री नन्दलाल बोस के बनाये हुये चित्रों के साथ जो मीरां के पद लिखे हैं उनमें से केवल एक की भाषा गुजराती है।*

प्रस्तुत आठ पद विक्रम की सत्रहवीं शदी के वे पद हैं जो गुजरात से एक गुजराती हस्त-प्रति में प्राप्त हुये हैं और जिनकी भाषा गुजराती नहीं है। इसके अतिरिक्त भी जितने प्राचीन पद मिलते हैं उनपर या तो मारवाड़ी की या कुछ कुछ गुजराती की छाप मात्र मिलती है। ऐसी दशा में मीरां के नाम पर छपे हुये गुजराती के इतने पद मेरी दृष्टि में संदेहास्पद हैं। डा० टेसीटरी के मत से मीरां की भाषा पश्चिमी राजस्थानी है जिसे आधुनिक गुज-

---

* यह मंदिर अति अधुनिक है अतः प्रभाव रूप में नहीं माना जा सकता। इसमें मेरे तो गिरिधर तुमहरे कारण सब सुख छोडया——म्हाने चाकर राखो जी तथा म्हारे जनम मरन के साथ निम्न लिखित गुजराती का पद भी दिया है।—

जनुं थयुं रे देवक जूनुं थयुं रे मारो हंसलो, तानो रे देवत जूनुं थयुं ॥ ध्रु ॥

आ रे काया रे हंसा डोलवानी लागी रे पडी गया दाँत मायली रेख तो रहयुं। ॥ मारो ॥

तारे ने मारे हंसा प्रीत्य बंधाणी रे उडीगयो हंस पांजर पडी रे रह्यं बाई मीरा कहे छे प्रभु गिरिधर ना गुण प्रेम तो प्यालो तमने पाऊं ने पाऊं। 'मारो'——

राती का पूर्व रूप भी माना जाता है। परन्तु मीरां के गुजराती पदों की भाषा प्राचीन नहीं लगती। अतएव किसी प्राचीन हस्त-लिपि से प्राप्त मीरां के ऐसे पदों के अभाव में यह कहना कठिन है कि मीरां ने गुजराती में इतने विस्तार से रचना की। गुजरात में उनके पदों का प्रचार होने के कारण संभव है कि भाषा में गुजराती प्रभाव आ गया हो अथवा किसी अन्य गुजराती कवि या कवयित्री की रचनाएं उनके नाम से प्रचलित हो गई हों। ऐसी संशय-ग्रस्त स्थिति में मीरां को गुजराती साहित्य का युग प्रवर्तक व्यक्तित्व मानना विचित्र लगता है। दूसरी ओर यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इतनी अधिक संख्या में प्राप्त मीरां के गुजराती पद सब के सब प्रक्षिप्त हैं। मीरां की बाल्यावस्था राज-स्थान में, तरुणाई और प्रौढ़ावस्था व्रजभूमि में तथा अन्तिम जीवन के कुछ वर्ष द्वारका में बीते। अतएव उन्होंने जीवन के अन्तकाल में कुछ गुजराती पदों की भी रचना की होगी ऐसा माना जा सकता है। पर जो पद मीरां के अन्तिम पद कहे जाते हैं उनमें भी ब्रजभाषा का ही प्राधान्य हैं*। जो भी हो प्रस्तुत पद केवल इस बात को ही सिद्ध करते हैं कि मीरां ने ब्रजभाषा में रचना की। अन्य प्राचीन गुजराती पद मिलने पर बात निश्चयपूर्वक मानी जा सकती है।

इस प्रकार ऊपर दिये गये आठ पद अनेक दृष्टियों से उप-योगी और महत्वपूर्ण हैं। इनसे मीरां सम्बन्धी अध्ययन पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ सकेगा ऐसी मैं आशा करता हूँ।

---

* Selections from Classical Gujarati Literature Taraporewala, Vol. I, पृ. ४१२

मीराँ के पदो में साँस्कृतिक चित्र

कुमारी जगदीश्वरी सिंह एम० ए०

प्रत्येक व्यक्ति पर अपने समय का बहुत प्रभाव पड़ता है, वह लाख अपने को उससे दूर रखने का प्रयत्न क्यों न करे किन्तु वह दूर नहीं हट सकता है, उस व्यक्ति का मानसिक विकास इसी पर निर्भर रहता है। जिस प्रकार के वातावरण में वह जीवन निर्वाह करता है, उसी प्रकार के उसके भाव व्यक्त होते हैं, उसका दृष्टिकोण इस वातावरण पर ही अवलम्बित रहता है। यह भाव प्रत्येक की कृति से व्यक्त होते हैं। यद्यपि निज सम्बन्धी पद भक्त कवियों ने बहुत कम लिखे हैं, किन्तु उनके युग की सांस्कृतिक चेतना पूर्णतः उनकी कृतियों में व्यक्त हो गई है। मीरा के पदों में भाव तल्लीनता अधिक है; जिससे वाह्य प्रभावों की बहुत कुछ भूल हुई है, परन्तु उनके युग की छाया उसमें भिन्न नहीं है। उनके पदों में उस युग की छाया मिलती ही है।

समाज—उस समय का राजसमाज पूर्णतः भोग विलास में फंसा था। यवन आकर बस चुके थे। धन-धान्य की कमी न थी। सब काम अपने अनुसार चल रहे थे। फलतः विलास की सामग्रियाँ जुटने लगीं। राजाओं का अधिक समय भोग-विकास में ही व्यतीत होता था। राजसमाज एवं मन्दिरों में वैश्याओं तथा भाँड़ों का प्रवेश प्रर्याप्त था।

२३ – "भांड़ गवैया गणिका नृत्य करतां, बैसी रहे चारां जाम रे"

इस पद से यह स्पष्ट होता है कि मीरा के समय में मन्दिरों की स्थिति और वहां का वातावरण भोग-विलास, नृत्य गान आदि से दूषित था। लोग मन्दिरों तथा उत्सवों में वैश्याओं का नृत्य तथा

भाड़ों का गान आदि कराने में किञ्चित् मात्र भी संकुचित न होते थे। यह प्रथा परम्परा सी राजपूत राजाओं के यहाँ अभी तक चली आ रही है। इसको राजाओं, पुजारियों तथा महंतों द्वारा प्रोत्साहन मिलता था। यह कार्य निन्दनीय नहीं समझा जाता था। यह बात अवश्य है कि वैश्याओं और भांड़ों का स्थान समाज में निन्दनीय था परन्तु भोग-विलास की अधिकता के कारण उस समय के राजे, सम्रृद्धशाली पुरुष तथा पुजारी, जिनका समाजमें पर्याप्त प्रभुत्व था, इनको अपनाये हुए थे। इन वारविलासनियों की नृत्य तथा संगीत कला का आदर अवश्य था, लेकिन समाज उनको घृणा की दृष्टि से ही देखता था। क्योंकि मीरा ने इस पद में जो उदाहरण दिया है वह समाज के निकृष्ट व्यक्तियों का ही है।

ऊंच और नीच—जो समाजिक चित्र मीरा के पदों में प्राप्त होते हैं उनसे उस समय के सामाजिक व्यवहार का पूरा पूरा पता तो नहीं चलता किन्तु थोड़े से धूमिल चित्र सामने आ जाते हैं। ऊँच और नीच का भेद धर्म अथवा धन के आधार पर कोई आज की बात नहीं है, यह भावना समय समय पर परिवर्त्तित होती आई है। उसने मनुष्य को मनुष्य से हटा दिया, और दोनों के बीच धन और धर्म की एक बहुत बड़ी दीवार खड़ी कर दी। समय ने उन्हें और अधिक दूर कर दिया है। मीरा के समय में समाज में भी यह बात थी, ऊंच नीच का भाव प्रवल था इसी से मीरा कहती हैं—

"नित प्रति उठि नीच घर जावै, कुल कूं लगावें गारी।"

कुल, जाति मर्यादा आदि के बन्धनों में समाज पला था और यह बन्धन दिन दिन बढ़ते जा रहे थे। मीरा तो राजपूताने के दो बड़े रजवंशोंसे सम्बन्धित थीं। उनका सबके सामने नाचना समाज के बीच निन्दनीय था, इसी से लोग उनसे कहते हैं—

"बड़ा घरा का छोरु कहावै नाचै दै दै तारी—"

मीरा को उनकी ननद् तथा सास समझाती थीं कि यह तुम क्या कर रही हो? कुल में कलंक लग रहा है। बड़े घर की होकर सबके सामने नाचा गाया करती हो। लोग क्या कहेंगे? हमें लांछन लगायेंगे। परन्तु मीरा न समझती। वे अपने राग में मस्त थीं। इसको पुष्टि होती है मीरा के अनेक पदों से—

(१) भाभी मीरा कुछ न लगाई गाल
ऊदा ईडर गढ़ का आया रे ओलंवा

(२) फिर-भाभी मीरा साधो कासंग निवार
सारी सहर थांरी निन्दा करैं।"

(३) साधों की संगत याद छे रे सखियां सब सकुचात

(४) सास कहै कुल नासी रे"
मीरा स्वयं कहती है - लोक लाज कुल काण जगत की दई
बहाय जस पाणी।

विवाह—विवाह सम्बन्धी थोड़ी बातें हमें मिलती हैं। विवाह के समय दूल्हा घोड़े पर सवार होकर जाता है। यह राजपूताने के राजघरानों तथा साधारण घरों का रिवाज है। यह रिवाज पहले भी था। वह लाल या पीला वस्त्र पहने होता और माथे पर मुकुट धारण किये रहता था। उस पर कलंगी उस मुकुट की शोभा और बढ़ाती थी। सब प्रकार सज धज कर वह जाता—

१—"कानवर मारी घोड़े पड़ री, माथे मुकुट आरोपी"
२—रतन जटित शिर पैंच कलंगी केसारिया सब साज

इधर दुलहिन को सखियां उसे सजातीं हैं। उसके शरीर पर हल्दी चढ़ाई जाती है—

माई म्हाने सुपने में परण गयो गोपाल
अंग अंग हल्दी मैं करी जी सुध भीज्यौ गात

मेंहदी लगाई जाती है—"मेंहदी हाथ रसाल" आखों में काजल' माथे में बेंदी गले में हार, शीश फूल कंकण, गले में गुजारी इस प्रकार सज धज कर एक रंग विरंगी चूनरी से अपने शरीर को ढंककर "राती पीती चूनरी ओढ़ी" और घूंघट काढ़ कर बैठती है। बारात में स्त्रियां सगुन के लिए मङ्गलगान करती हैं—

"मंगल गावैं नारी" (२३२)

और चौक पूरने का रिवाज भी उस समय था—

"मोती चौक पुराऊं वाल्हा" (२३२)

विवाह की अन्य रस्मों के समाप्त होने पर भांवरें घूमी जाती हैं—

"काई और कांवरु भायेरी म्हां के जग जंजाल" (१०१)

और उन भांवरों से दो अनजान व्यक्ति में अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। भारतीय शास्त्र की विधियों का अच्छा उदाहरण उस समय की संस्कृति तथा प्रथाओं से मिलता है।

सोलह शृङ्गार—स्त्रियों के सोलह शृङ्गारों का वर्णन मीरा ने किया है। परन्तु यह भिन्न भिन्न स्थानों पर है। पूरा एक पद इसके विषय में है जिसमें उस समय के जो भी वस्त्र तथा आभूषण थे तथा शृङ्गार की वस्तुएं थीं उनका उल्लेख मिल जाता है।

चूड़ा—यह एक प्रकार की चूड़ियां होती हैं जो हाथी दांत की बनी होती हैं। यह पंजाब तथा राजपूताने में सौभाग्य का चिन्ह समझा जाता है। विवाह के समय कन्या को यह पहनने पड़ते हैं तथा इस चूड़ा के विषय में मीरा कहती है—

"वर वरां मा राम जी' म्हारो चूड़ा अमर हो जाय।
राम नाम का चुड़ला हो, निरगुन सुरभी सार"

जूड़ा—बालों को संवार कर उनको कस कर गोल आकार का बना दिया जाता था। यह बाल बांधने का एक ढङ्ग है। जो मीरा के समय में प्रचलित था।

"काजल ढेर की हम सब त्यागा, त्यागी हैं बांधन जूड़ी" ॥ (१०७)

सुरमा और काजल—सुरमा आंखों की शोभा बढ़ाने के काम में आता है। स्थान स्थान पर मीरा ने काजल तथा सुरमा शब्द का प्रयोग किया है। एक काला तिल गाल में सौन्दर्य की वस्तु समझी जाती है। यदि तिल न हो तो काजल की एक बूंदी मात्र से ही उसका काम चलाया जा सकता है। मारवाड़ में स्त्रियां चिबुक पर एक काजल की बिन्दी अब भी लगाती हैं। सम्भवतः यह बात उस समय भी रही हो।

"काजल टीको हम सब त्यागा"

टीका या बैंदी—यह भी सौभाग्य का एक लक्षण है। उत्तरी भारत में अनेक स्थानों पर विवाहिता स्त्री मांग में सिन्दूर भरती हैं। वे माथे में लाल बैंदी लगायें या न लगायें यह आवश्यक नहीं है। यहां की कन्यायें माथे पर बैंदी दे सकती हैं। किन्तु अनेक स्थान पर माथे पर लाल बैंदी ही दी जाती है और वही एक विवाहिता स्त्री के सौभाग्य का चिन्ह होता है। महाराष्ट्र, मारवाड़ और राजपूताना आदि में यह प्रचलन है। मीरा के समय में भी माथे में लाल टीका देना ही सौभाग्य का चिन्ह माना जाता था। इसीसे वे कहती हैं—

"काजल टीकी हम सब त्याग्या भगवां चादर पहेर"

टीका एक आभूषण भी होता है जो विवाह के समय कन्या को पहनाया जाता है। यह जड़ाऊ का आभूषण मांग के ऊपर से आकर पीछे की ओर बालों में कांटे से अटका लिया जाता है, और

माथे पर मोती और कुन्द से बना एक गोल लटकन होता है उसको टीका करते हैं। किन्तु मारवाड़ में आजकल इसकी प्रथा नहीं है और न रही होगी। क्योंकि वहां पर विवाहिता स्त्रियां शीश फूल पहनती हैं। इसी शीश फूल का वर्णन मीरा में मिलता है। शीश फूल एक प्रकार का आभूषण है जिसके अग्र भाग में कुन्दन मोती आदि जड़े होते हैं और सोने का बना रहता है। यह गोल होता है और ऊपर को उठा रहता है। स्त्री जिस वस्त्र से अपने शिर को ढाकती है वह वस्त्र उस शीश फूल के स्थान पर कुछ उठ जाता है। वह टीके के समान चपटा और माथे से मिला नहीं रहता।

सोलह श्रृङ्गार के अन्तर्गत ताम्बूल भी आता है। उस समय आजकल की भांति ओठों की शोभा कृत्रिम रूप से बढ़ाने के लिये लिपिस्टिक का प्र्योग नहीं किया जाता था। ताम्बूल से ही उसका काम लिया जाता था।

"घर आवो साजन मिठ बोला।
तेरे खातर सब कुछ छोड़ा काजर तेल तमोला।"

कङ्कण—यह हाथ का एक आभूषण है जिसे स्त्रियां उस समय भी पहनती थीं यह जड़ाऊ भी होता है और सोने का भी।

"गोपी दधि सुनियत है कंङ्गनी के झनकारें"

इसी प्रकार गले में मोतियों का हार और गुजारी पहनने की प्रथा उस समय थी।

वस्त्र—स्त्रियां लहंगा, चोली तथा कुसुम्बी पहनती थीं इसी का वर्णन मीरा के पदों में मिलता है ओर यही वस्त्र आज भी राजपूताने में स्त्रियां पहनती हैं। कुसुम्बी, मारवाड़ प्रदेश में एक विशेष प्रकार से छपी और रंगी चूनरी को कहते हैं। यह सुगन्धित कुसुम्बी रंग में रंगी रहती है। इसी का उल्लेख मीरा ने किया है।

(१) 'राती पीतो चूनरी ओढ़ी मेंहदी हाथ रसाय'

(२) और "केसरी चीर दरियाई को लेहंगो ऊपर अंगिया भारी"

(३) और "चूवा, चोला, पहिरि सखीरी मैं झूरमुट रमवां जाती"

राजपूत स्त्रियों का पातिव्रत—

राजपूत स्त्रियों के लिए यह विशेष गौरव की बात थी। यही उनके जीवन का व्रत था। वे जिस किसी को भी अपना पति मान लेतीं उसी से विवाह करती थीं। स्वप्न में भी यदि वह किसी पुरुष से विवाहित हो जातीं तो उसी से अपना सम्बन्ध मानती थीं। यह भारतीय परम्परा के अनुसार कोई विचित्र बात भी नहीं थी। स्त्रियां फिर स्वप्न मे भी किसी अन्य पुरुष का ध्यान न करती थीं। इसे वे पाप समझती थीं। मीरा ने गिरधर गोपाल को अपना पति माना और सदा मानती रहीं। समाज के बन्धन तथा माता पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया, किन्तु प्रेम उन्होंने गिरधर गोपाल ही से किया। मीरा ने समाज में रहने वाली एक साधारण स्त्री के समान मर्यादा का पालन भी किया। जिससे उनका विवाह हुआ उसका उन्होंने आदर किया। भारतीय स्त्री की मर्यादा को मीरा ने कभी नहीं छोड़ा। भारतीय शास्त्र के अनुसार एक स्त्री को अपने पति का नाम लेने का निषेध है, और मीरा ने भी राणा का नाम नहीं लिया और सदा "राणा" शब्द से ही उनको सम्बोधित किया; जो बात आज एक समस्या बनकर विद्वानों को उलझा रही है कि वे राणा थे कौन? परन्तु मीरा का तात्पर्य अपने पति से ही है (?)।

उस समय की स्त्रियों के दैनिक जीवन के धूमिल चित्र मीरा के पदों में मिलते हैं। प्रातः काल होते ही स्त्रियां गगरी पर गगरी रख कर नदी तट पर जाती हैं घर लौट कर दधि मथती हैं जिससे उनके हाथों के कङ्गनों की झनकार मथने के शब्द से मिल कर और भी मधुर बन जाती है। अपने समय के त्योहारों के विषय में मीरा

के पदों में बहुत कम बातें मिलती हैं। होली श्री कृष्ण का एक प्रिय त्योहार था। उसी का वर्णन मीराने किया है। होली के दिन स्त्रियां कंचन की गगरी सिर पर रखकर कुसुम्बी रंग से रंगे नये नये वस्त्रों को पहनकर होली खेलतीं हैं। गगरियों में सुगन्धित रंग भरा रहता है और पिचकारी लेकर के स्त्री-पुरुष एक दूसरे पर रंग डालते हैं और होली खेलते हैं, और साथ ही साथ चंग, मृदङ्ग, ढप, झल्लर, वेणु आदि वाद्य बजते हैं। स्त्री पुरुष गाते ओर नृत्य करते हैं।

'गण गोर' जो राजपूताने का एक त्योहार है—मीरा ने इसके विषयमें कुछ नहीं लिखा है इसका नाम मात्र उल्लेख किया है।

"रे सांवलिया म्हारे आज रंगीली गण गौर छै जी"

मीरा के समय में पर्दे की प्रथा थी। क्योंकि स्थान स्थान पर उन्होंने घूंघट शब्द का प्रयोग किया है। घूंघट की प्रथा यवनों के आने के बाद प्रारम्भ हुई और यवन उस समय आकर भारत में बस चुके थे।

१—"घूंघट पट खोल देख सांवरो कन्हाई।"

और २—"म्हारो अचरा ना छुये वाको घूंघट खोले हो।"

विचार—मीरा के पदों में उस समय की प्रचलित विभिन्न विचार धाराओं का पता चलता है साधारण जनता समाजके बन्धनों से बंधी थी। उन नियमों का पालन प्रत्येक को करना पड़ता था। समाज में स्त्री का स्थान पुरुष के बराबर का न था। स्त्रियों का आदर होते हुये भी उनको स्वतन्त्रता न थी। उनके लिये ईश्वरोपासना व्रत नियम तथा इसी प्रकार के अन्य सात्विक निर्धारण, जैसे साधुओं की संगति तथा पंडितों का समागम और तीर्थयात्रा आदि माने गये थे। साधारण जनता की विचारधारा संकुचित थी। राजपूतों में यह देखा गया है कि स्त्री या घर का अन्य कोई व्यक्ति किसी भी दशा में कुल की मर्यादा का उल्लंघन—

चाहे वह कितने ही उत्तम विचारों से क्यों न किया गया हों—अनुचित ठहराया जाता था। इसीको कहते हैं "कुल की कानि"। स्त्री पुरुष की दासी मानी जाती है उसको अपने पति और कुटुम्बियों की आज्ञा माननी पड़ती है और कुल की मर्यादा की रक्षा करना वह अपना धर्म समझती है। एक कुलबधु मन्दिरों या सन्त समाज के बीच नृत्य करती तो लोग उसे कलङ्किनी कहते और उसके प्राणों के गाहक हो जाते। लोगो की यह धारणा थी कि स्त्री में ही सब मर्यादा एकत्रित हैं पुरूष उसे एक 'बहुमूल्य' सम्पत्ति समझ कर छिपाकर रखते हैं।

मीरा साधुओं का सत्संग करती थीं। यह बात उसके पदों तथा जीवनवृत से ज्ञात होती है। उस समम विभिन्न मत प्रचलित थे रैदास, कबीर, दादू और वैष्णव मतादि का प्रचार हो रहा था साधुओं के सत्संग में आनेवाली साधारण जनता की विचारधारा दार्शनिक मत पर आधारित थी। वह संसार को असत्य, संसार में कोई भी अपना नहीं है, यह संसार जंजाल है, संसार माया रूप है, ईश्वर एक है, नियम संयम करके योगाभ्यास करना और ज्योति के दर्शन करना ही अपने जीवन का ध्येय मानती थी। साधारण जनता इन सम्प्रदायों को अपना रही थी। साधुओं का समाज में आदर था। इस समय धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हो चुका था। जिसका प्रभाव मीरा पर भी पड़ा इसीसे मीरा के पदों में कहीं पर प्रेम की प्रधानता और कहीं पर अनहद नाद की झंकार मिलती है। अन्त में यही कहना होगा कि मीरा के समय में समाज की कोई उच्च दशा न थी। गृहस्थ अपने गृह कलहों में व्यस्त थे। संत जन अपने धर्म प्रचार में लगे थे। परन्तु सुख सन्तोष कहीं न था।

ललित कलायें—मीरा के समय में ललित कला का अधिक प्रचार था। विशेष करके नृत्य तथा संगीत का। राज-समाज और मन्दिरों में वेश्याओं का नाच तथा भांड़ों का गाना होता था और

घरों में स्त्रियां गाती तथा नाचती थीं। स्त्रियों को संगीत तथा नृत्य कला जानना आवश्यक समझा जाता था। राजघर में राजकुमारियों को इसकी शिक्षा दी जाती थी और सम्भवतः मीरा को इसकी शिक्षा मिली होगी फिर ऐसे युग में होने से अनुकूल वातावरण में रहने से मीरा के जीवनमें भी इन ललित कलाओं का प्रभाव पड़ा होगा। उनके पद इन प्रभावों के चित्रों को अंकित करते हैं।

(१) "पग घुंघरु बाँधि मीरा नाचि रे"

और (२) "मैं तो रघुवर आगे नाचूंगी।"

मीरा के पहले इसी घराने में राणा कुम्भ संगीत के एक आचार्य हो चुके थे। जिन्होंने गीत गोविन्द की एक टीका लिखी है और इन पदों को गाया भी है। मीरा के जो भी पद प्राप्त होते हैं उन सब पदों में रागों का निर्देश है। वे सब पद जिस राग तथा ताल में बांधे गये हैं उसी में गाकर ठीक उतरते हैं। इन आधारों से कहा जा सकता है कि मीरा के पद संगीत की दृष्टिसे रचे गये थे। उस समय संगीत का पूर्ण प्रचार होने से ही ऐसा सम्भव हो सकता है। नृत्य के विषय में मीरा की अच्छी जानकारी थी। ये उनके पदों से ही ज्ञात होता है। मीरा के विषय में यह प्रचलित ही है कि वे गातीं और साथ २ नाचतीं भी थीं। अतः इसी प्रकार अन्य स्त्रियां भी गाकर नाचती रही होंगी। उनके एक पद से ज्ञात होता है कि उस समय "कत्थक" नृत्य प्रचलित रहा होगा। क्योंकि उस नृत्य के बोलों को मीरा ने लिखा है।

"थनक थनक ताथई रे, नाचे नाचे नन्दनों मानड़ीयो"

पैरों में बंधे घुंघरू से निकलने वाले ये शब्द स्पष्ट होते हैं। फिर मीरा के पद ही ऐसे हैं जिनको गाकर स्त्रियां घरों में नाचतीं हैं।

नृत्य तथा संगीत की शोभा वाद्य के मिलने से और भी अधिक बढ़ जाती है और उसकी मधुरता द्विगुणित हो जाती है। विभिन्न वाद्यों "जिनका प्रयोग उस समय किया जाता था" का वर्णन मीरा ने किया है।

"चंग, मृदङ्ग, डफ' मह्लर बाजै बाजे बेणु रसाल
नाचत ताल काधार सुर भरे धिम धिम बाजे मृदङ्ग"

धर्म—मुसलमानों की सत्ता स्थापित हो जाने से हिन्दू धर्म पर बहुत प्रभाव पड़ा। सूफ़ी मतवाले जो भक्ति में प्रेम की प्रधानता मानते हैं अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे। पीपा और धना आदि भक्त राजस्थान निवासी थे। दादू मीरा के समसामयिक ही थे। विभिन्न मत चारों ओर प्रचारित हो रहे थे। मीरा ने इन धार्मिक उपदेशों को सुना अवश्य होगा क्योंकि वह साधु मंडली के मध्य में रहती ही थीं। सभी मत के साधु मीरा से मिलते थे। इन साधुओं के उपदेशों का प्रभाव जनता पर पड़ा और परम्परा से चली आती विचारधारा को भी उन्होंने अपना रखा।

पूर्व जन्म—जनता का विश्वास पूर्व जन्म, जन्म जन्मान्तर पाप आदि पर था। पूर्व जन्म से ही कोई सम्बन्ध स्थापित रहता है जिसे इस जन्म में लोग मिलते हैं। एक स्त्री यदि पतिव्रता है तो उसे अनेक जन्म में वही पुरुष पति के रूप में प्राप्त होता है। मीरा ने निज को एक गोपी माना है। इसीलिए स्थान २ पर कहती है—

(१) "पूर्व जन्म को भाग
(२) जन्म को साथी"

इसी से ज्ञात होता है कि यह विश्वास उस समय प्रचलित था।

नर्क ओर स्वर्ग—यह विश्वास जन साधारण में प्रचलित था। इसी नर्क-स्वर्ग की भावना ने मनुष्य जीवन में एक प्रकार का बन्धन

लगाया है। चोरी, झूठ आदि बुरे कामों के लिए नर्क है जहाँ मनुष्य अनेक यातनायें भोगता है फिर अमुक योनियों में जन्म लेता है। स्वर्ग केवल अच्छे कामों के करने से ही मिल सकता है।

"निन्दा करसे, नरक कुण्ड में जासे"

कर्म काण्ड—जनता का कर्मों पर विश्वास था। यज्ञ, दान पुण्य पूजा आदि धार्मिक कृत्य करते और बुराइयों से दूर रहते थे। कर्मों से ही कोई राजा और रङ्क होता है।

"करम गति टारे नाहिं टरै।
सतवादी हरिचन्द से राजा, नीच घर नीर भरै।
पांच पांडु अरु सती द्रौपदी, हाड़ हिमालै गरै।
जग्य कियो बलि लेण इन्द्रासण सो पाताल धरै।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, विख से अमित करै॥"
कर्म की गति न्यारी, संतो कर्म की गति न्यारी।
बड़े बड़े नैन दिये बरधन कु बन बन फिरत उघारी रे।
उज्ज्वल वरन दीनी बगुलन कुं कोयल कर दीनी कारी रे।
और नदियन जल निर्मल कीनो, समुद्र कर दीनी खारी रे।
मूरख को उत्तम राज दीयत हो, पंडित फिरत भिखारी रे।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, राणा जीतो कान बिचारी रे॥

चौरासी लाख योनि—मनुष्यों का विश्वास इसपर बहुत अटल हो गया था। यदि कोई व्यक्ति नीच कर्म करता है तो उसे चौरासी लाख योनियां, जिनका वर्णन शास्त्रों में है भोगनी पड़ती है और फिर मनुष्य योनि में आ पाता है। फिर संचित कर्म दण्डों को भोगेगा।

१—"यह संसार सब बह्यौ जात है लख चौरासी धार।
और २—लख रे चौर्यासी फेरा फिरेगी जीव जन्मि रमरे।"

यह आवागमन केवल निर्वाण पद प्राप्त करने से ही समाप्त हो सकता है।

राजनीति—यह समय राजपूतों के लिए महान संकट का था। आपस में फूट होने के कारण राजा लोग दूसरे का राज्य हड़पना चाहते थे। राजनीति की यह झलक मीरा के पदों में निर्देशित युद्ध के अस्त्र शस्त्रों से मिलती है। ईडर गढ़, चित्तौड़ मेड़ता आदि का नाम अवश्य मीरा ने उल्लेख किया है जो मीरा के ऊदा से बातचीत वाले अंश में मिलता है। वैसे राजनीति की कोई स्पष्ट झलक नहीं मिलाती है। इस समय युद्धो में तोपों का प्रयोग होता था

"तोपखाना पेशखाना उतरा है बागां आय"

यद्यपि यहां पर प्रसंग इन्द्र का है परन्तु तोपों का वर्णन आया है। मीरा के समय में ये तोपें चल चुकीं थीं। उस समय युद्ध में कौन कौन से अस्त्र-शस्त्र वीर सनिकों के पास होते थे इसकी एक साधारण झलक देखिये।

"क्या बख्तर का पहरना रे क्या ढालों की ओट।
सूरे पूरे कपार खारे गुरु गोविन्द तलवार।
धनुष्यरूपी माला बांधके कबूंना लागे हार।

विविध विषय—राजपूताने की प्रसिद्ध सवारी ऊंट घोड़े और रथ थे। रथ में बैल जुते रहते थे। चूंकि राजपूताने का अधिक भाग रेती पर है अतः ऊंट ही उसके लिए उचित सवारी है। इसी से मीरा कहती हैं—

"रथा बल जुताइके ऊंटा कसियो भार"

शकुन—उस समय के विभिन्न शकुन तथा विश्वासो के वर्णन मीरा में मिलते हैं। कौवा यदि कहीं प्रस्थान करते समय बांई ओर को हो, तो अच्छा सगुन माना जाता है। यह भी विश्वास है कि, कौवा त्रिकालज्ञ

होता है। यदि किसी के घर में कोई आने वाला होता है तो उसको भी वह उस घर के व्यक्तियों को कांव कांव की रट लगाकर सूचित करता है चिल्लाकर यदि कौवा भाग जाय तो जानो वह व्यक्ति अवश्य आयेगा और यदि न उड़ा तो वह न आयेगा। उस व्यक्ति के प्रेमी जन इस कौवे को मार मार कर भगा देते हैं जिससे उस व्यक्ति के आने में कोई शंका न रह जाय।

"काक उड़ावत दिन गया"

कौवा तो नहीं हां कबूतर से पत्र लाने और ले जाने का काम उस समय लिया जाता था। किन्तु उसका काम मीरा ने कौवे से लिया है।

"प्रीतम को पतिया लिखूं रे कौवा तू ले जाय"

अङ्ग फड़कना—स्त्री का बांयां, तथा पुरुष का दांयां अङ्ग फड़कना शुभ माना जाता है। यह विश्वास बहुत पहले से चला आ रहा है मीरा के समय में भी था।

"राम मिलन कब होये फड़के म्हारी आंखड़ी"

इस प्रकार मीरा के पदों से उस समय की सांस्कृतिक चेतना स्पष्ट होती है।

बंग हृदय में मीरां

श्री शिवानी वसु, एम० ए०

चिरदुखिनी मीरा, चिर विरहिणी मीरा। भोगश्वर्य की गोद में पली सौभाग्य की प्रिय पुत्री मीरा, फिर भी चिरदुखिता ही रही—वह चिरविरहिणी जो है। विरह रहित मीरा कुछ रह ही नही जाती। विरह में वह रोती है, विरह में हंसती है, विरहव्यथा से गा उठती है, विरह में ही पगली सी प्रियतम के अन्वेषण में चल पड़ती है। चंडीदास, विद्यापति का विरह कातर बंग, चैतन्य के विरहाश्रु से आप्लावित बंग, विरहिणी मीरा के भजनों में इसीलिए तो सुन पाता है अपने ही अन्तर की ध्वनि को। विरहिणी मीरा के नामोच्चारण मात्र से ही बंगवासी की आंखो के सामने आ खड़ी होती है एक प्रेमविगलिता नारी की व्यथातुरा स्निग्ध प्रतिकृति। उसकी विरह विह्वलता को देखकर जान पड़ता है मानो विश्व का विरही हृदय मूर्त्त हो उठा है आंखों के सामने। उसके भजन के स्वरों में इसीलिए हमारा प्रेमी बंग, भक्त बंग, कवि बंग उसी तरह लीन हो जाता है जिस तरह एकदिन वह श्री-चैतन्य के संकीर्तन में हो उठा था।

अभाव मनुष्य को कितना बड़ा और महान बना देता है इसका उज्वल उदाहरण मीरां में मिलता है, उसका भी अभाव कितना बड़ा था। रुपया पैसे का, प्रभाव नहीं, गुणों का नहीं, आहार परिधान का नहीं स्नेह, ममता यश या कीर्ति का अभाव नहीं—वह अभाव था भगवत सान्निध्य का अभाव। इसी अभाव ने ही उसके जीवन को घेर रखा था। मीरा भक्त थी। उसने वेदना को भक्तिपूर्ण नेत्रों से देखा था इसीलिए तो उसे इतना सम्मान दिया, इतना महान बना दिया। साधारण जीव जब व्याकुल हो ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में संदिग्ध हो उठता है, मीरा तब कहती है

है भगवन तुम कितने करूणामय हो, कितने प्रेममय हो। मुझपर तुम्हारी कितनी कृपा है। गोप बालक जिस प्रकार वंशी बनाने के लिए बांस काटता है, उसे कुरेदकर लोहे की सलाख से जला जला कर छेदता है वंशी यातना से व्याकुल हो गोप बालक को धिक्कारती है, उस समय भी वह नहीं समझ पाती कि इसी तरह जब वह उसे बजने या बजाने लायक बना लेगा तब उसके सप्त छिद्र भर उठेंगे मधुर स्वरों से और वह परिपूरित हो उठेंगे राग रागिनियों की झंकारों से मीरा कहती है कि वह भी इसी तरह पहले ईश्वर का संकेत नहीं समझ पाती थी, किन्तु अब वह जान गई है कि उसके प्रिय ने भी उसे व्यथा देकर वंशी की भाति बना लिया है। जिस दिन वह इस वंशी को बजावेगा उसदिन उसे किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जायगा। उसदिन वंशी की तरह ही वह परिपूर्ण हो उठेगी। कवि के सिवा और कौन व्यथा, यातना, और वेदना को हमारे सन्मुख इस तरह रख सकता है? जिस वेदना ने रवीन्द्रनाथ के काव्य के द्वारा संसार को आकर्षित किया, वही वेदना अत्यन्त सहज सरल भाव से बहुत दिन पहले ही मीरा के भजनों में अभिव्यक्त हो चुकी है।

मीरा प्रेमिका है। उसका प्रेम भारतीय आदर्श एवं संस्कृति का प्रतीक है। अपने माधव से वह प्रेम करती है। इसीलिए वह तुलसी और पुष्प के द्वारा आडम्बर सहित माधव की पूजा नहीं करती। गाकर अपने प्रियतम को रिझाती है। उसे खूब पता है कि उसका गोपाल जगत का स्वामी है, फिर भी वह एकमात्र उसीका गिरधर गोपाल है किसी दूसरे का नहीं।—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।" मै जिससे प्रेम करती हूँ वह केवल मेरा ही है, वह किसी दूसरे का नहीं है। * ऐसा ही मनुष्य सोचता है, और चाहता भी है किन्तु पाता नहीं। विशेषतः नारी पुरूष को जिस प्रकार सम्पूर्ण रूप से पाना चाहती है

* हिन्दी में इस प्रकार से इस पद का अर्थ नही लगाया जाता है। संभवत लेखिका ने बंगाल में प्रचलित अर्थ को लिखा हो। सं०

उस प्रकार वह नहीं पाती हैं। कारण, पुरुष नवीनता का अन्वेषक है इसीलिए उसमें निष्ठा अभाव है। नारी रक्षणशीला है, वह पुरातन को लेकर उसकी स्मृति के सहारे समस्त जीवन को व्यतीत कर सकती है। इसीलिए तो जगत व्यापी वियोगान्त नाटकों का क्रम चल रहा है इसी न चाहना, और चाहकर न पाने के ताने बाने में ही मनुष्य जीवन बुना हुआ है। मीरा में इसी जीवन दर्शन की झलक मिलती है, यही जीवन दर्शन उसमें मूर्त हो उठा है।

मीरा भक्ति मार्ग की साधिका है। वह प्रेम करती है और उसी प्रेम की मर्यादा की रक्षा करने के लिए सर्वस्व त्याग सकती है दुर्दशा, कष्ट, लज्जा, भय, कलंक आदि कुछ भी उसके प्रेम पथ में बाधा नहीं पहुंचा सकते। चंडीदास की राधा कलंक का वरण करती हुई कहती हैं - 'कलंकेर डालि माथाय करिया आनिल भेजाइ घरे' - उसी तरह मीरा भी कहती हैं, -

'तेरा कोई नहीं रोकनहार, भगत मीरा चली।
लाज सरम कुल की मरजादा, सिरसे दूर करी।'

केवल कहती ही नहीं वरन करके दिखा भी देती हैं। प्रेम के लिए किस भांति वह राजैश्वर्य, आत्मीय स्वजन का त्याग कर अपमान, अपयश की उपेक्षा कर वृन्दावन की ओर चल पड़ी थी, इसे सब जानते हैं। उसे यह पता था कि पार्थिव ऐश्वर्य और सुख शांति पूर्ण भगवत प्राप्ति के पथ में सब से बड़ी बाधा है, इसीलिए "म्हाने चाकर राखो जी" का अनुरोध करती रही है। चंडीदास की राधा गोपाल द्वारा सताई जाने के बावजूद भी कहती हैं -

बंधु कि आर बलिब आमि
मरने जीवने जनमें जनमें
प्राणनाथ हईओ तुमि।

उसी तरह मीरा भी कहती हैं —

म्हारो जनम मरन को साथी।
थांने नहीं बिसरूं दिन राती॥

मीरा का जीवन धूप की भांति सुलग सुलग कर सुगंध विखेरता है और मीरा मग्न होकर हरिनाम लेती हैं।

मीरा के भजनों में उसके हृदय के आवेगपूर्ण भाव प्रगट हुए हैं उनमें भषा का आडम्बर नही है। इसीलिए वे जनसाधारण के निकट अत्यन्त सरल तथा बोधगम्य हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनमें आत्मदर्शन की गुरुता का अभाव है। जीव गोस्वामी तक को भी हारकर मीरा का सम्मान करना पड़ा। किसी स्त्री का मुख वे नहीं देखेंगे कह कर मीरा से मिलना अस्वीकार कर दिया। मीरा का उत्तर बड़ा अपूर्व था। अपने को पुरुष बताने का गर्व क्यों करते हैं? मैं तो समझी थी कि पुरुष तो एक ही है शेष प्रकृति है। मीरा ने इन तत्वों को अपनी अनुभूति से उपलब्ध किया था, किसी प्रकार की तर्कयुक्ति द्वारा नहीं समझाया था। ये तत्व उसकी अनुभूति जन्य सत्य थे, और वे महा महान सत्य थे। समझने के लिए चाहिए विशाल हृदय, बड़े बड़े तर्क भी उसके सामने परास्त हो जाते हैं। अपनी अनुभूति, अपनी उपलब्धि को प्रगट कर मीरा बंगदेश को इतनी प्रिय हैं।

गेय पद परम्परा में मीरा की देन

(प्रो॰ कमला देवी गर्ग दिल्ली विश्वविद्यालय)

मनुष्य की विभिन्न स्वाभाविक प्रवृत्तियों में गाना भी एक सहज व्यापार है। उमड़ती हुई भावनाओंके आवेगों के वशीभूत हो वह उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए आतुर हो उठता है। भावों के उद्वेग के अनुसार ही उसके स्वरों में भी उतार चढ़ाव आ जाता है, और तब उन्हीं स्वर लहरियों के सहारे अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त कर व्याकुल हृदय को शांत करने का प्रयास करता है। यहीं संगीत का जन्म हो जाता है। वाणीं का वरदान उसे प्राप्त है। शब्दों द्वारा भावों को प्रगट करता है, और स्वरों के उतार चढ़ाव से भावों की गहराई की ओर संकेत करता है। मानव के जन्म के साथ ही यह प्रवृत्ति भी उसके साथ जुड़ी हुई आई। विकास के विभिन्न स्तरों के साथ ही इस प्रवृत्ति में भी विकास होता रहा। उसके परिमार्जित परिष्कृत रूप के साथ ही वाणी और संगीत में भी परिमार्जन होता चला। तभी, आज भी मानव अपनी सभ्यता के विभिन्न स्तरों में क्रमानुसार इस प्रवृत्ति को धारण किए हुए है। जंगलों में रहने-वाला मानव भो संगीत से अपरिचित न था, न है।—भले ही, न समझ पाने के कारण अन्य जनों को उनका संगीत मधुर अथवा आकर्षक न प्रतीत हो। अविकसित-मानव समुदाय वाणी की अपेक्षा संगीत के निकट अधिक होता है। वाणी का विकास हो जाने पर तो उसका स्तर ही बदल जाता है। संगीत में वह अपने भावों की तह तक पहुंच कर उन्हें अभिव्यक्त कर पाता है।* लोक गीतों में शब्दों की

---

* Sir W. Ouseley अपनी Anecdotes of Indian Music की भूमिका में लिखते हैं:—

The history of music, in common with that of other arts and sciences, furnishes us with similar instruction Its first origin seems to have been to convey the idea of our passions to others. . . The power of music on the human mind has always been acknowledged to be very great, as well as its general tendency towards the soft and amiable passions.

सरलता अधिक होती है, और भावों की गहराई अपूर्व पाई जाती है। वे मर्मस्पर्शी होते हैं। लावनी, बिरहा, कजरी, होली, तथा आल्हा, एवं कड़खा आदि लोकगीतों में भावों की अभिव्यंजना की सरल पद्धति मिलती है। एक विशेष भाव का आधार लेकर स्वरों को उसी के अनुकूल तीव्र, मंद, कोमल कर एक विशेष क्रम से अभिव्यक्त करते हैं, और लोकगीतों की विभिन्न परिपाटियां बनती चली जाती हैं।

विकसित शब्दावली में भावो का तात्पर्य अधिक स्पष्ट तो हो जाता है किन्तु, उसका स्वरूप स्वरावली के सहारे ही सामने आ पता है। स्वरावली के अभाव में वह सुन्दर, सजीव, स्वाभाविक चित्रण भले ही हो किन्तु मर्मस्पर्शी नहीं होता। जब केवल शब्दों द्वारा अभिव्यंजना होती है तब अपने भावों के अनुकूल शब्दों का चयन किया जाता है। उस समय अधिक व्यंजनवर्ण संयुक्तवर्ण या बोझिल बड़े शब्द भी यदि उचित रूप से अभिव्यक्ति करते हैं तो उनका स्वागत कर लिया जाता है। किन्तु, स्वरावली के साथ चलने के समय सरल से सरल शब्दों का ही प्रयोग करना उपयुक्त होता है; कारण, स्वरावली अपने स्वरों के उतार चढ़ाव के द्वारा "घायल की गति घायल जानै" कह बैठती है। काव्यकार छन्दों के द्वारा शब्दावली की गुरुता का भार दूर करने का प्रयास अवश्य करता है, किन्तु यदि उसे संगीत का भी सहारा मिल गया तो उसकी चेष्टा अधिक सुगम हो जाती है।

जब काव्यकार संगीत को साथ लेकर चलता है, तब अनायास ही वह काव्य का एक अभिनव रूप सामने उपस्थित कर देता है। उसे साहित्य में 'गीतिकाव्य' की संज्ञा दी गई है। छन्दोबद्ध भावों की वाणी द्वारा अभिव्यक्ति को काव्य (कविता) कहते हैं। इसमें काव्यकार को छन्द आदि काव्यान्तर्गत कुछ नियमों का पालन कर चलना पड़ता है। किन्तु अति-भावुक काव्यकार इस बन्धन को नहीं

सह पाता। वह तोड़ फेंकता है इन सारे बन्धनों को। और, तब वह दोहा, चौपाई, कवित्त; सवैया, घनाक्षरी, शिखरिणी मालिनी आदि की माला उतार कर सीधे सादे पदों को गा उठता है:—

'झीनी झीनीं बीनी चदरिया'

या, 'घूंघट के पट खोल री, तोहे राम मिलैंगे।' (कबीर)

सारी उपमा, उत्प्रेक्षा की उपेक्षा कर व्याकुल हो कहता है—

"कहां लौं बरनौं सुन्दरताई" (सूरदास)

विरह वेदना से व्याकुल हो वह कह बैठता है—

"मधुबन तुम कत रहत हरे।
विरह वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?" (सूरदास)

गोस्वामी तुलसीदास के समान कुशल काव्यकार, मानस के रचयिता भी दोहे और चौपाइयों से सन्तुष्ट न हो सके। 'कविता-वली' की सवैया, कवित्त उन्हें तृप्त न कर सके। 'गीतावली' लिख-कर किसी प्रकार जी को समझाया। उनके अन्तर के गहन प्रदेश की भावना तो 'विनय पत्रिका' के पदों में ही फुटी—

"अब लौं नसानी, अब ना नसैहों।"

मन की चंचलता के प्रति खीझ—

"मन अजहूँ विस्राम न मान्यो।"

में कितनी तीव्रता के साथ झलकती है।

भावों की चरम अभिव्यक्ति चरम उत्कर्ष के साथ एकमात्र गीतिकाव्य में ही संभव है। सीधे सरल हृदय से निकले शब्द गीतिमत्ता की विशेषता के साथ ही हृदय को छु सकने की क्षमता रखते हैं। इसीलिये छन्दों के आडम्बर से विहीन वे पद गेय होते हैं, और उन्हें गाकर काव्यकार कहिए या भक्त, अपने व्याकुल हृदय को शांत करता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सङ्गीत स्वा-भाविक प्रवृत्ति है, अतः किसी विशेष प्रकार की शिक्षा बिना भी स्वान्तःसुखाय गाना विशेष कठिन नहीं है। फिर, जो प्रतिभाशाली

होते हैं, वे संगीत को भी अनायास अपना लेते हैं।* इस स्थल पर कहना अप्रासंगिक न होगा कि चाहे काव्यकार हों अथवा न हों संसार के प्रायः प्रतिभाशाली व्यक्तियों का सङ्गीत के प्रति अनुराग रहा ही है। तभी तो संस्कृत ने "साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात पशुः पुच्छ विषाण हीनः" तक कह दिया है। वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक आइन्सटाइन वायलिन बजाने में बड़े पटु हैं। औरों की चर्चा क्यों, पूज्य बापू को भी सङ्गीत से अत्यधिक अनुराग था। संगीत कहने का तात्पर्य, पक्के गाने अथवा शास्त्रीय सङ्गीत पद्धति आदि से नहीं है। वरन, मधुर स्वर लहरी, ताल लय अर्थात समय संतुलन सहित भावपूर्ण स्वर ही सङ्गीत* के विशेषतः गान के प्राण हैं। भजनों में बापू ने स्वयं कई बार स्वरावली और शब्दावली को अपने भावों के अनुकूल बनाने का संकेत दिया था। भजन में गान का भी समन्वय था। यह भी उनकी संगीत प्रियता की सूचना देता है। उनके पास समय अत्यन्त अल्प रहता था, फिर भी एक संगीत विशेषज्ञ द्वारा कुछ समय तक संगीत की शास्त्रीय विवेचना भी सुनी थी। रामगढ़ अधिवेशन के समय के निकट से भजन सुनने का जो अपूर्व सुयोग मिला था, उसमें संगीतपूर्ण मधुर स्वर वास्तव में 'श्रुति प्रकाश' ही था। कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय का सम्बन्ध शब्दों की अपेक्षा स्वरों से अधिक घनिष्ठ होता है। काव्यकार एवं भक्त समुदाय हृदय की भावनाओं के संसार में निवास करते हैं। जो जितने ही अधिक हृदय के निकट रहते हैं वे उतनी ही अधिक संगीतपूर्ण अभिव्यक्ति का सहारा लेते हैं।

भक्तजन उस कोटि के भावप्रवरण हृदयवाले व्यक्ति होते हैं जिनकी 'जीवन मूरि' प्रेम है। प्रायः प्रिय का दर्शन प्रेम का कारण

---

* संगीत के तीन भेद होते हैं, (१) गान (२) वाद्य (३) नृत्य।

होता है। दर्शन के अनन्तर प्रिय के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। और तब प्रिय के प्रति प्रेम होता है। प्रेम की तीन गतियां हैं। अपने बराबर वाले से होनेवाले प्रेम को मैत्री कहते हैं। अपने से छोटे के प्रति प्रेम में दया का पुट विशेष होता है, अपने से ऊपर अर्थात बड़े के प्रति प्रेम में भक्ति की मात्रा विशेष रहती है। प्रथम दो कोटि का प्रेम लौकिक स्तर का माना जाता है। तृतीय प्रकार का आध्यात्मिक जगत से संबन्धित होता है। किन्तु, तीनों की मनोवैज्ञानिक दशाएं एकसी होती हैं। (१) नेत्रों से दर्शन करने पर प्रीति उपजती है और (२) प्रेमी अपने मानसिक जगत में ही प्रिय के साथ की कल्पना करने लगता है, (३) प्रिय के प्रति उसके अनुराग का संकल्प दृढ़तर होता जाता है।—(४) अहर्निश वह प्रिय का स्मरण करता है और उसकी चिन्ता में (५) कृशहोने लगता है। (६) अनुरक्ति होने के पश्चात अपने हृदय में प्रेम को छिपाए रखना उसके लिए असम्भव हो उठता है, तब वह (७) सारे संकोच का परित्याग कर अपने प्रेम को घोषणा कर डालता है। (८) प्रेमी अपने स्वाभाविक मानसिक स्तर पर नहीं रह पाता है, एवं प्रिय के विरह में व्याकुल होकर वह (९) बारम्बार मूर्छित हो जाता है। अन्त में वियोग सह न सकने के कारण (१०) शरीर तक त्याग देता है।*

भक्तजनों के क्षेत्र में भी उपर्युक्त दसों दशाओं में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होता। प्रेम के पात्रों की भिन्नता के कारण प्रेम विभिन्न कोटि का हो जाता है। जब प्रेमी सातवीं अवस्था को प्राप्त होता है, अर्थात जब सारे संकोच का परित्याग कर अपने प्रेम की घोषणा कर डालता है, तब, लौकिक क्षेत्र में उसे 'निर्लज्ज' की उपाधि मिलती है और आध्यात्मिक क्षेत्र में उसकी गणना भक्तों में

---

* 'नयनं प्रीति प्रथम चित्तासंङ्गस्ततोऽथ संङ्कल्पः
जागरण कृशता चाप्यरतिलंज्जा परित्यागः
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता दश दशास्यु (कामसूत्र)

होती है। इसी समय भक्त अपनी भावाभिव्यक्ति पदों में करने लगता है। छन्द के बन्धनों से रहित, केवल-मात्र आत्म निवेदन पूर्ण पद होते हैं। भारत ही क्यों, पश्चिम में बाइबिल के (psalms) के द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है कि भावों को अभिव्यंजना अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में psalms के संगीतमय पदों में ही हुई है। ऐसे ही पदों को भजन कहते हैं। भजन के लिए संगीत अपरिहार्य है। भजन में स्वरावली का आधार पाकर भाव केन्द्रीभूत हो उठते हैं। अस्थिर मन स्थिरता प्राप्त करता है। संगीत 'संतुलन' (harmony) उत्पन्न करते में अपूर्व है, कारण, संतुलन (harmony) ही इसको विशेषता है। अन्तरात्मा (innerself) को संगीत संतुलित (harmonize) करता है, और इसमें चित्त को शांति मिलती है। भक्त भजनों को गाकर इसी प्रकार की शांति पाता है। इसीलिये जितने भी भक्त हुए हैं सब को रचनाएं छोटे छोटे मुक्तक गेय पदों में विशेषतः है। सूर तुलसी कबीर के पद भी गेय ही मिलते हैं। भक्ति का वेग गीतिमय शब्दों में उमड़ पड़ता है।*

ऐसी ही अवस्था में कवि एवं भक्त का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। भावजगत में विचरण करने वाला, कल्पना के पंखों पर उड़ने वाला, कवि अपनी भावनाओं को चुन चुन कर शब्दोंसे सजाता है। माली की तरह काट छांट कर उपवन को सुन्दर बनाता है। छन्दों के फव्वारोंसे भावनाके उपवन को आकर्षक-और सुसज्जित करता है। कलात्मक प्रदर्शन ही उसकी विशेषता है। वह यहीं अपनी कुशलता का परिचय देता है। शब्द सम्भार से सुसज्जित भावना रानी कल्पना का दुकूल उड़ाकर उपमा, उत्प्रेक्षा के अलङ्कारों से श्रृंगारित हो, पैरों में छन्दों का नूपूर पहन कर धीरे-धीरे कवि के उनवन में प्रवेश कर नाच उठती है। कवि की कविता आ गई। कवि

---

†Sir W. Ouseley

In progress of time when language arrived to a certain degree of intelligibility its use began to be restricted to the worship of the Supreme

उल्लसित हो उठता है। आस पास में भी सब साथ साथ झूम उठते हैं। भक्त पर इसका कोई प्रभाव नही पड़ता। वह नाचती हुई निर्झरिनी को, ऊंचे पहाड़ों से झर झर बहती देख, सुन्दरी ऊषा को अभिनन्दन थाल लिए देख, अवाक हो उठता है। अणु परमाणु में व्याप्त उस अखिल विश्व के रचयिता के प्रति अपरिमित श्रद्धा भार से नत हो चरणों में प्रणत हो जाता है। वाणी में शब्द संभार नहीं, सीधे-सादे शब्दों के साथ अपने आप गिरे हुए फूलों को अंजलि में भर कर गद्गद कंठों से अपने क्षुद्र अस्तित्त्व को लिए, विशाल सृष्टि के कूल पर खड़े होकर उस श्याम निरञ्जन को अस्फुट श्वरों में भक्ति के साथ प्रणाम मात्र करता है। दुरागत मधुर वंशी रव को सुन-कर विह्वल हो अश्रुधारा बहाता हुआ वंशी बजाने वाले को देखने को व्याकुल चेष्टा करता है। जब अपने को असमर्थ पाता है तो रो उठता है। कभी, वंशी बजाने वाले की स्वर्गीय छबि की झलक का आभास ही मिलता है, तो शिशु की तरह मुदित हो जाता हैं। भक्त अपनी अनुभूतियोंको आडम्बर हीन ढङ्ग से रखता है। शिशु की तरह सरल, फूल की तरह सुन्दर और कोमल, निर्झरिनी के सहज संगीत से पूर्ण एवं सागर की लहरों की तरह भावों से उमड़ती हुई उसकी अभिव्यक्तियां होती हैं, जो बार बार विश्व मोहन के चरणों के तटपर टकराती हैं। सूर, तुलसी, मीरा आदि ने भक्ति की कुसु-मांजलि अपने आराध्य को अर्पित की थी। उन्हें कवि कहना अत्यन्त भ्रमा-त्मक होगा। मीरा को यत्र तत्र कवियत्री कह दिया जाता हैं। श्याम-सुन्दर दासने 'भाषा और साहित्य' में मीरा के लिए लिखा है, "हिन्दी की प्रसिद्ध कवियत्री मीराबाई...थीं (पृ० ३१४)। डा० रामकुमार वर्मा भी मीरा-बाई को कवियत्री मानते हैं। वास्तव में वे यदि कवियत्री होतीं तो अपनी अभिव्यंजना के लिए छन्दों का, अलंकारों का वे चयन करतीं। उनके पदोंमें इस प्रकार के प्रयास परिलक्षित नहीं होते, न इसकी सूचना ही कहीं मिलती है। सूर, तुलसी में तो किसी सीमा तक काव्यान्तर्गत विशेषताएं भी पाई जाती हैं, पर वह एक संयोग है। कविता उनके अभिव्यक्ति का माध्यम अनायास ही बन गई थी। कवि कर्म उनका लक्ष्य नहीं था।

मीरा के पद तो शुद्ध रूप से उनकी दिव्य अनुभूतियों की अभिव्यक्ति ही है।

मीरा के पितृकुल में उनके बाबा राव दूदाजी वैष्णव थे। पूर्व संस्कार की प्रेरणा को अपने अनुकूल वातावरण मिला। भक्ति मार्ग पर चलने वालों को कुछ विधियों का पालन करना पड़ता है। उसमें भजन, नामस्मरण एवं कीर्तन भी एक आवश्यक अंग है। मीरा को इसके निकट सम्पर्क में आने का सुयोग मिला। कीर्तन में संगीत का भी आयोजन रहता है। अतः मीरा का परिचय संगीत के साथ बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से हुआ। भावुक रागानुग वृत्ति के कारण उन्होंने अत्यन्त सहज ढङ्ग से इसे अपनाया। विवाहोपरान्त श्वशुर गृह में आकर इसे दूर न कर सकीं। पति की मृत्युके पश्चात उनके एकाकी जीवनके लिये अपने को कृष्णार्पण करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। कृष्ण की आराधना उनकी प्रवृत्ति के अनुकूल थी। संस्कारों में प्रबल वेग आया और 'मीरा मगन भई हरि के गुण गाय।' 'लोक लाज की काण' न मानकर 'पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे'। मीरा ने केवल गुण ही नहीं गाया वरन संगीत के तीनों अंगों को भी समन्वित कर लिया—

'ताल पखावज मिरदंग बाजा, साधां आगे नाची रे'। जगत के सामने घोषित कर दिया अपने प्रेम को। उस समय लोगों ने मीरा के प्रेम की महत्ता को नहीं समझा। नातेदारोंने अपयश दिया तभी तो मीरा ने कहा कि—

'लोग कहैं मीरा भई बावरी
न्यात कहैं कुल नासी रे'

मीरा की भक्ति कान्त भाव की थी। स्वयं को राधा मान कर कृष्ण को कान्त मानती थीं। उन्हें ललिता आदि का अवतार भ्रमात्मक रूपसे कहा जाता है। केवल मात्र राधा ही कृष्ण के साथ परम कान्त-भक्ति कर सकती थीं। अन्य गोपिकाओं की तल्लीनता, उतनी गहराई की नहीं है जितनी राधिका की है। ठीक उसी कोटि का अनुराग मीरा में परिलक्षित होता है। अन्य भक्तों को तो कृष्ण के साथ राधा का वर्णन करना पड़ा, किन्तु, मीरा

के लिए यह आवश्यक नहीं था। मीरा इसे नहीं कर सकती थीं, कारण राधा का आरोप उन्होंने अपने ऊपर किया था, इसीलिए कृष्ण के नख शिख का वर्णन तो उनके पदों में है, पर राधा का नहीं है। कान्त भाव होनेके कारण शृंगार रस ही उनके पदोंमें अधिक पाया जाता है। किन्तु वह विप्रलब्ध कोटि का है। इसी की उन्होंने 'जनम जनम' साधना की थी। राधा की स्थापना भी कृष्ण मिलन की अभिलाषा में ही है।

इनके पदों में आकर्षण तत्व प्रचुर है। कृष्ण के रूपका वर्णन यथेष्ट मिलता है। 'बसो मेरे नैननमें नन्दलाल' 'निपट बंकट छबि अटके' आदि अनेकों पद कृष्ण के वर्णन से परिपूर्ण है। 'जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' में उनकी भक्तिका स्वरूप मूर्त हो उठता है। मिलनेकी उत्कण्ठा इनके पदों में अपूर्व रूप से झलकती है। क्रमशः यह अभिलाषा बढ़ती ही जाती है। 'रात्रि' 'वर्षा' 'सावन' 'होली' आदि मानो उद्दीपन की सामग्री जुटाती जाती हैं। किन्तु प्रतीक्षा में 'दरस बिन दूखन लागे नैन'। 'म्हाने चाकर राखो जी' कह कर कृष्ण की चाकरी के बहाने उनके निकट रहना चाहती हैं, पर 'माई म्हारी हरिहू न बूझी बात'। स्वयं नागरी बन 'नागर' कृष्ण से 'प्रेम नदी के तीरा' मिलती हैं। इनकी उक्तियां अत्यन्त स्वाभाविक थीं। मीरा के पदों में रसराज की प्रधानता है। भावों की धुरी, केन्द्र शृंगार रस बन गया, इसी-लिए इनके पदों में गीतिमत्ता विशेष रूप से समन्वित हो सकी। शृंगार एवं शांतरस में ही संगीत विशेष रूप से निखर उठता है। भक्ति के गांभीर्य (Intensive devotion) में संगीत की साधना अनायास हो जाती है। इसीलिए, आज भी पुराने पद अपनी अपूर्व रसानुभूति एवं संगीतमयी अभि-व्यक्ति के कारण नित्य नवीन आनन्द प्रदान करते रहते हैं और, साहित्य, मुक्त गेय साहित्य के इन रत्नों को अत्यन्त यत्न के साथ सहज सहेज कर रखता जाता है। मीरा के पद इन्हीं अमूल्य रत्नों में से हैं।

समस्त भारत में मीरा के पद अपनी गीतिमत्ता के कारण अत्यधिक लोकप्रिय हैं। कभी कभी भ्रम हो जाता है कि वास्तविक रूप में मीरा ने किस भाषा की शोभा बढ़ायी थी। हिन्दी का परम सौभाग्य है कि मीरा ने इसी

वाणी के द्वारा अपने को अभिव्यक्त किया, किन्तु, वे इतनी लोकप्रिय हो गईं कि उनके पदों को ज्यों का त्यों रख कर तनिक उच्चारण भेदमात्र से ही विभिन्न भाषाएं उन्हें अपना मान लेती हैं, (हिन्दी में यह विशेषता भी है कि अत्यल्प उच्चारण भेद से ही वह कई भारतीय भाषाओं के निकट आ जाती है)। एक ओर तो मीरा की सहज स्वाभाविक सरल भावनाओं की अभिव्यक्ति, जो कि किसी भी प्रकृति के व्यक्ति को आकर्षित कर सकती हैं, दूसरी ओर पदों की गीतिमत्ता, इन दोनों विशेषताओं से युक्त होकर मीरा के पद सब प्रान्तों के निवासियों के हृदय के समीप आ गए। लालित्य, माधुर्य और संगीत की समां से समुदाय का समुदाय आत्मविभोर हो उठता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है भक्ति मार्ग में कीर्तन एक आवश्यक अंग है। मीरा ने भी इसका पालन किया, इसीलिए 'संतन ढिग बैठि बैठि' तथाकथित 'लोक लाज खोई'। उन्होंने भी 'छाड़ दई कुल की कान कहा करि है कोई' की चुनौती दे दी थी।

कीर्तन में एक ही इष्ट की आराधना करने वाले जन कुछ वात्ययंत्र अर्थात करताल, झाँझ आदि से युक्त हो गा कर भजन करते हैं। इस प्रकार के समवेत संगीत में शास्त्रीय गान पद्धति का निर्वाह होना कठिन हो जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि उच्च कोटि के भक्तजनोंने शास्त्रीय संगीत को ही अपने भजनों में स्थान दिया है। हरिदास स्वामी, बैजू बावरा आदि, बड़े उच्च भक्त भी थे और उच्च कोटि के संगीतज्ञ भी थे। शांतरस पूर्ण भजन में उन्हें ध्रुपद की योजना अपने अनुकूल ज्ञात पड़ती थी। यह कहना शायद गलत न होगा कि ध्रुपद का संरक्षण प्रधानतः धार्मिक भावुक जनों द्वारा ही हुआ है। एक व्यक्ति के लिए तो इस प्रकार के उच्च कोटि का संगीत संभव है, किन्तु समुदाय में जिस पद्धति का संगीत उपयुक्त होता है वह इससे भिन्न है। उसमें ताल सरल हो, अत्यन्त द्रुत अथवा विलम्बित न हो। स्वरों का क्रम दुरूह एवं विविध प्रकार का न होकर सरल पुनरावृत्ति के अनुकूल हो। समुदाय में सब प्रकार के व्यक्ति भाग लेते हैं। सब संगीत-शिक्षा-प्राप्त नहीं होते। अतः उक्त प्रकार का

सुविधाओं के कारण भाग लेनेवाले जन सहज में ही गा सकते हैं। लोकगीतों में भी यही बातें अपेक्षित हैं।

मीरा के पदों में नाना प्रकार की राग रागिनियों का उल्लेख मिलता है। तुलसी तथा सूर के पदों के साथ भी इनका उल्लेख पाया जाता है। सूर के पदों में राग रागिनियों का उल्लेख शुद्ध हो सकता है। कारण, वे मन्दिर में थे, वहां के बंधे नियमों के अनुसार विभिन्न समयों पर विभिन्न लीलाओं का वर्णन होता था। इसलिए समयानुकूल राग रागिनियां उसमें संभव हैं। तुलसीदास के पदों के लिए यह बात लागू नहीं होती। उनके पदों को अपनी इच्छानुसार संकलन कर्ताओं ने रागरागिनियों के शीर्षक के अन्तर्गतकर दिया होगा। मीरा के सम्बन्ध में यह प्रायः निश्चित सा ही है कि उनके साथ गानेवालों की कुछ संख्या रहती थीं, अर्थात, समवेत स्वर में कीर्तन होता था। अतः राग रागिनियों की मर्यादा का पालन शुद्ध शास्त्रीय ढङ्ग से किया जा सका होगा ऐसा प्रतीत नहीं होता।। लोकगीतों की भांति उन्होंने विशेष राग रागिनियों की धुन अपनाई होगी। इसके अतिरिक्त, राजस्थान में प्रचलित रागिनियां एवं पद्धतियों को ही प्रथम श्रेय मिला होगा। राजस्थान में मारू (कुछ संगीतज्ञ माखा को मारू मानते हैं, और कुछ मालव को मारू कहते हैं। कुछ मालव की भार्या को मारू मानते हैं) मेवाड़;* माखा, मांड आदि का प्रचलन विशेष है। मांड और मेवाड़ा तो वहां की प्रचलित धुन है। लोकगीतों में इसका प्रचार विशेष है।* अतः, कीर्तन में इनका प्रयोग किया जाना अधिक संभव जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न ऋतु एवं अवसरों पर गाए जानेवाले लोकगीतों की धुन जैसे—'होली', 'कजरी', सावन, आदि को भी अपनाया होगा। व्यक्तिगत रूपसे स्वयं अपने गाने के लिये संभवतः उन्होंने अपने भावोंके अनुकूल कुछ राग रागिनियों का व्यवहार किया हो। रिषभ, धैवत, मध्यम की कोमलता एवं तीव्रता विभिन्न वृत्तियां

---

* (आल इण्डिया रेडियो के सङ्गीत विभाग के पण्डित श्री बाबूलाल चतुर्वदी एम० ए० ने मेवाड़ धुन की सूचना देने की कृपा की)।

एवं मनोदशाओं का संकेत करती हैं। कोमल रिषभ ('रे')से वैराग्य की ध्वनि फूटती है। कोमल धैवत ('ध') से करुणा का बोध होता है। तीव्र मध्यम (म) हृदय की अभिलाषाओं की तीव्रता की ओर संकेत करता है। अतः रे, ध, म, प्रयोग जिन राग रागिनियोंमें होता होगा, उनका वे विशेष प्रयोग करती होंगी। भैरवी के सारे कोमल स्वरोंने, संभवतः उन्हें आकृष्ट किया हो। पीलू में आतुरता और व्याकुलता ध्वनित होती है। वेदना के अश्रु उसमें झरते से प्रतीत होते हैं। वागेश्वरी में करुणा और आश्वासन का बोध होता है। इसी प्रकार सोरठ, मलार,[१] विहाग, देश के स्वरोंमें मीरा ने पदों को गाकर अपने को अभिव्यक्त किया होगा।

उनके पदों को विविध रागिनियों के अन्तर्गत रखने के पहले उनकी संभावना पर विचार कर लेना अच्छा होगा। यों तो अनेकों रागिनियोंकी कल्पना की जा सकती है। पर उनकी विचारधारा, मनोदशा आदिके अनुकूल यदि रागिनियों की कल्पना की जाय तो अधिक उचित होगा। मीरा के पदों के प्राप्य विविध संकलनों में अनेकों रागिनियों का उल्लेख मिलता है। किन्तु, किन्हीं दो संकलन में साम्य नहीं है। अतः स्पष्ट प्रतीत होता है, संकलन कर्ता अपनी इच्छानुसार अथवा विभिन्न गायकजनों के द्वारा गाई गई रागिनियों के अन्तर्गत पदों को मान लेते हैं। एक संकलन में मीरा का एक पद दरबारी कान्हड़ा के अन्तर्गत रखा गया है। दरबारी कान्हड़ा के लिए प्रसिद्ध है कि तानसेन ने इसकी योजना की थी और अकबार को भेंट की थी। मीरा का समय तानसेन के पूर्व का है। अत: मीरा ने दरबारी कान्हड़ा का प्रयोग कहां से किया यह स्पष्ट नहीं होता। मीरा के भजन में व्यवहृत ताल अवश्य ही शरल तथा छोटे विभाजन के रहे होंगे। ६, ७, ८, मात्राओंके ताल जैसे दादरा, रूपक, कहरवा का प्रयोग ही विशेष किया गया होगा।

---

१. 'मीरा की मलार' की सूचना मिलती है। यथार्थ में मीरा ने इसे आयोजित किया था अथवा नहीं यह संदिग्ध है।

मीरा के पदों की शुद्धता की कसौटी संगीत भी हो सकती है। गेय पद बड़े बड़े नहीं होते हैं। प्रथम चरण ऐसा होता है कि वह अनायास ही क्रम में पुनरावृत्ति में भी प्रयुक्त हो सके। उसे टेक कहते हैं। अतः लम्बे लम्बे वाक्यपूर्ण अथवा बड़े बड़े अनेक चरणों के पद उनके नहीं रहे होंगे। गीतिमत्ता उनके पदों की विशेषता है। कान्तभाव की तीव्र अनुभूति, पूर्ण अभिव्यक्ति मीरा के पदों का अपूर्व तत्व है। हिन्दी की राजस्थानी बोली भी उनके पदों की शुद्धता जांचने का अच्छा मापदण्ड है। इस प्रकार मीरा के नाम से प्रचलित प्रक्षिप्त एवं शुद्ध पदों का विवेचन अनायास हो सकता है। हिन्दी की गेय पद परम्परा में मीरा की देन अपने ही ढंग की है। भावपूर्ण पदों में संगीत का आयोजन कर स्वयं उसे गाकर रूप प्रदान करना निस्सन्देह हिन्दी साहित्य भांडार को समृद्ध करना है।

कृष्ण-भक्ति परम्परा और मीरा

आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग वास्तव में मानवता के पुनर्जागरण का प्रभात था। भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं से अनभिज्ञ विदेशी विद्वान् डा० सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'माडर्न वरनाक्युलर' लिटरेचर आफ हिन्दोस्तान' में लिख दिया कि 'मध्ययुगीन उत्तर भारत का भक्तिरसपूर्ण साहित्य पददलित भारतीय जाति के नैराश्यपूर्ण जीवन का प्रतिबिम्ब था।" उनके बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास की आलोचना करनेवाले हमारे भारतीय मेधावी विद्वानों ने भी प्रायः यही राग अलापा। एक या दो ने नहीं वरन् अब तक के इतिहास लेखकों में से प्रायः सभी ने। गुलामी किसी जाति के लिए बहुत बड़ा अभिशाप हुआ करती है। किन्तु इस सीमा

तक मेधावी जनों का विवेकस्खलन दयनीयता की पराकाष्ठा का परिचायक है। एक विदेशी की नासमझी तो समझ में आ सकती है किन्तु इसी देश की परम्पराओं के अधिकारी प्रसिद्ध विद्वान इतने गुमराह हो जायें यह आश्चर्य का ही विषय है।

इन्हें भी क्या बताना होगा कि भक्तिमार्ग केवल मध्ययुग की ही उपज नहीं। 'नारदीय पंचरात्र' और 'शाण्डिल्य सूत्र' * के द्वारा निर्धारित आध्यात्म का यह मार्ग अपनी प्राचीनता का दावा पुष्ट आधारों पर उस समय से करता है जब ईसाई और इस्लाम धर्म अपनी शैशवावस्था में शायद पालनों में ही क्रीड़ा कर रहे थे। 'पदानुरक्तिरीश्वरे' के पावन सिद्धान्त पर निर्धारित भक्ति की यह परम्परा जिसके—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पाद सेवनम्'।
अर्चनं बन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम् ।
(भागवत पुराण)

नौ साधन मानव हृदय के कलुष को क्षार कर देनेवाले सिद्ध प्रयोग हों; उसमें रत व्यक्ति नैराश्य, आशंका या किसी प्रकार की भीरुता का शिकार हो ही कैसे सकता है? जिन प्रसिद्ध भक्तों के नाम हमें इतिहास में प्राप्त होते हैं, जिनकी कीर्ति अजर और अमर है, जिनकी वाणी साहित्य की अमर वाणी है उनके जीवन में क्षुद्र लौकिक नैराश्य की झाँई देखना अपनी विवेक बुद्धिका का परिहास है।

इसी स्थल पर एक दूसरे प्रचलित भ्रम की ओर संकेत कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है। हमारा आलोचक बृन्द शायद

---

* यद्यपि मानयर विलियम्स इत्यादि पाश्चात्य विद्वान उपर्युक्त कृतियों को नवीं से बारहवीं की मानते हैं, किन्तु भारतीय विशिष्ट विद्वानों की राय में ये रचनाएं अत्याधिक प्राचीन हैं।

आज तक निर्णय नहीं कर सका कि हिन्दी की मध्यकालीन कबीर, मीरा, सूर, तुलसी इत्यादि महान आत्माओं में अवतरित होनेवाली ये विभूतियां किस कोटि की थीं? अनुपम काव्य उनकी वाणी में प्रवाहित अवश्य हुआ किन्तु उनकी साधना क्या काव्य-साधना थी? ये प्रश्न आवश्यक इसलिए हो जाते हैं कि हमारे अधिकांश आलोचक इनकी कृतियों में उत्कृष्ट काव्य के चमत्कार को देखकर इनकी गणना कवियों की कोटि में ही कर बैठते हैं। यों तो इस ओर शायद कोई विशेष आपत्ति न होती किन्तु दृष्टिकोण की वास्तविकता भ्रमात्मक होने के कारण उपर्युक्त आलोचकों का वृन्द न केवल इनके व्यक्तित्व के विषय में ही गलतफ़हमी पैदा कर देता है वरन् इनकी कृतियों के अब तक के अनिश्चित रूप को सुनिश्चित करने के महान् कार्य में भी बाधक सिद्ध होता है। केवल इतना ही नहीं वरन् इसी भ्रमपूर्ण धारणा का 'ही परिणाम है कि विदेशी और देशी प्रसिद्ध विद्वान उत्तर-भारत के मध्यकालीन साहित्य को नैराश्यपूर्ण जीवन का प्रतिबिम्ब समझ बैठे। अपने इस परम पाण्डित्यपूर्ण निष्कर्ष तक पहुंचने में उन्होंने देश की राजनीतिक पराधीनता के दर्दनाक पन्नों को उलटने में और भारतीय जनता की गुलामी की यातना की नाप-तौल करने में घड़ों पसीना बहा दिया। कवि और काव्य परम्पराओं की छानबीन भी कम नहीं की गयी और तब पहुँचे उपर्युक्त परम पाण्डित्यपूर्ण निष्कर्ष पर। इस परम प्रसिद्ध या बुरी तरह बदनाम निष्कर्ष को केवल गलत कह कर छोड़ देने से ही काम न चलेगा। देखना होगा कि यह इतना बड़ा कलंक हमारे साहित्य के परम पुनीत और समुज्वल युग पर आखिर लगा ही क्यों? भ्रम का मूल समझने के लिए शायद कहीं दूर न जाना पड़ेगा।

देश और विदेश के समुन्नत साहित्य की यह एक प्रसिद्ध मान्यता है कि असाधारण साहित्यिक विभूतियां और विशेषकर

कवि अपने युग-प्रवाह की उपज हुआ करते हैं। यह मान्यता गलत भी नहीं क्योंकि भारत के विश्व-विख्यात कालिदास माघ, और दण्डी अंग्रेजी के शेक्सपीयर, मिल्टन वर्डस्वर्थ, कीट्स, शेली इत्यादि और हिन्दी के भी केशव, देव, बिहारी, मतिराम और न जाने कितने अन्य पुराने और नये कवि भी युग प्रवाह के सांचे में ही ढले थे और आज भी ढलते हैं। किन्तु यहां ध्यान रखना होगा कि इस मान्यता की सीमा है केवल साहित्य, और यह लागू होती है कवि कोटि पर। इसे अधिक खींच कर इसकी व्यापकता बढ़ाने की चेष्टा रबर के गुब्बारे को फुलाकर उसके भीतर पृथ्वी को भर देने का बचकाना स्वप्न है। यह ठीक है कि पराधीनता के जो कुछ भी दुष्परिणाम सम्भव थे भारत की साधारण जनता उनका शिकार थी। उनकी आह, या उनकी वाह का प्रतिबिम्ब युग के निर्मित काव्य साधकों पर अवश्य पड़ा होगा और पड़ना भी चाहिए था। कदाचित हमारे देशी और विदेशी साहित्यिक जो इन विभूतियों को भी कवि समझ बैठे थे इसी भ्रम के शिकार हो गये। वे जन-साधारण की अन्तर्भावना का प्रतिबिम्ब इन विभूतियों की कृतियों में भी देखने की चेष्टा में थे; किन्तु वे यह न समझ पाये कि हमारे मध्यकालीन साहित्य की उपर्युक्त विभूतियां उस समय के युग-प्रवाह की उपज नहीं थीं वरन् उनका निर्माण उन प्राचीनतम भारतीय परिवर्द्धनशील दार्शनिक परम्पराओं की ही सुदृढ़ भित्ति पर हुआ था जो न कभी बंधी थी उत्तर, दक्षिण, पूरब या पश्चिम की भौगोलिक परिधि में और न कभी म्लान या पल्लवित हुई थी किसी राजसत्ता विशेष के बनने या बिगड़े से। गहराई तक पैठ कर यदि देखा जाय तो इनका यह सन्देश भी किसी जाति या देश विशेष के ही लिये नहीं था वरन् वह था देश देशान्तर-व्यापी मानव कल्याण के लिये। क्षुद्र संकीणताओं से उन्मुक्त मानवता का यह सन्देश प्राचीनतम परम्परागत सतत उन्नतिशील मानव-जागरण के आन्दोलन की एक महा प्रबल लहर थी। इसकी चेतना फूंकने वालों में मध्ययुग की

इन विभूतियों काबहुत बड़ा अवदान रहा है। अब शायद और अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता न होगी कि मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य बहुत अंशों में काव्य-साधना के लिये नहीं वरन् पतित मानवता को दैवी संदेश सुनाने के लिये रचा गया था। काव्य-साधना साधन मात्र थी, उसमें प्राप्त काव्य चमत्कार अनायास है। इस अमर साहित्य के विविध रच-यिता अपने-अपने क्षेत्र के देवदूत थे; उनकी वाणी अपने इष्ट के द्वारा प्रदत्त वरदान से सिद्धवाणी थी।

आज का साहित्य-जगत यह कहते नहीं थकता कि इन महात्माओं की कृतियां कुछ ऐसी उलझी हुई हैं कि उनका सुलझा लेना एक सर दर्द मोल लेना है। इस शिकायत का आधार उसका उपर्युक्त भ्रामक दृष्टिकोण है। यदि इन विचारों के दृष्टिकोण को भलीभांति समझकर इनकी प्राप्त कृतियों का अध्ययन किया जाय तो वहां स्वयं ऐसी कसौटी हाथ आजायगी कि असमंजस और भिन्न मत के लिये सम्भावना ही नहीं रहेगी।

यह कौन नहीं जानता कि कर्मकांड से ओतप्रोत ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध क्रान्ति के रूप में ही बौद्ध और जैन धर्म की स्थापना हुई थी। मानवता की सहज प्रेरणा को नव चेतनता प्रदान करता हुआ बौद्ध-धर्म अपने चिर विकास की सीमा को देखते-देखते पहुंच गया और केवल भारत में ही नहीं संसार के कोने-कोने में इसकी दुन्दुभी बज उठी। मनुष्य को इसमें सब कुछ मिला किन्तु 'क्या' और 'क्यों' का उसका वह अनादि प्रश्न जो कवि के शब्दों में 'जो हल हुआ न होगा वह है सवाल तेरा'—इंगित किया गया है—आज भी अपने उत्तर की प्रतीक्षा ही कर रहा था और क्रान्तिकारी बौद्ध धर्म भी इस ओर मौन था। सदियाँ बीत गयीं, मनुष्य का हृदय अपनी चिर जिज्ञासा को लिये बैठा ही था। इस 'क्या' और 'क्यों' के अनेक उत्तर वेद और उपनिषदों ने दे डाले थे। विविध प्रकार के कर्म-कांडों का विधान इन्हीं 'क्या' और 'क्यों' के प्रश्नों को प्रत्यक्ष

करने की चेष्टा सी थी किन्तु उन कर्मकांडों की व्यापक निष्फलता ने ही मनुष्य को एक नवीन आशा के साथ इस नव क्रान्ति की ओर उन्मुख किया था। इसमें परिवर्तनजन्य थोड़ी सी शान्ति के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगते देख आज का मानव फिर नवीन उत्तर की खोज में व्यस्त था। इसी समय शकंराचार्य 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' की घोषणा करते हुए 'अहं ब्रह्मास्मि' का चकाचौंध करने वाला सन्देश लेकर प्रगट हुए। 'क्या' और 'क्यों' के प्रश्नों में इस समय तक एक तीसरा प्रश्न भी जुड़ चुका था 'कैसे'। बिना इस तीसरे प्रश्न के उत्तर दिये किसी मसीहा को सिद्धि नहीं मिल सकती थी। दिव्यदृष्टि जगद्गुरु शंकराचार्य ने अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय राजयोग के अपने नव निर्धारण में इस सिद्धि के साथ दिया कि परम लोकप्रिय बौद्ध-धर्म को भारत से विदा लेनी पड़ी। वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् भी नये साँचों में ढलने लगे। ब्रह्म-जिज्ञसा का यह नव वसंत अनायास ही देश भर पर छा गया।

यहाँ सहसा एक प्रश्न उठता है कि मानवता को नव चेतना प्रदान करनेवाला बौद्ध धर्म जिस प्रकार और जिस तीव्रता से विदेशों में भी फैल गया था, शंकर का यह ब्रह्मवाद् अधिक प्रबल होता हुआ भी भारत के बाहर क्यों न फैल सका? शायद् इसका एक ही उत्तर है कि इस ब्रह्मवाद् की मूल चेतना उपनिषदों में निर्धारित 'आत्मतत्व' के सिद्धान्तों के आधार पर थी। किन्तु बौद्ध-धर्म का आधार मानव-सदाचार के उन विश्वव्यापी सिद्धान्तों पर था जो किसी देश या जाति की सीमा में नहीं बनते; विचार और परम्परागत संस्कार भी जिसमें अपेक्षित नहीं होते। इसीलिये देश और जाति की सीमाओं को लांघकर बौद्ध-धर्म का प्रभाव विश्वव्यापी हो सका किन्तु शंकर की ब्रह्म-जिज्ञासा भारतीय परम्पराओं के अधिकारियों को छोड़कर दूसरों तक न पहुँच सकी।

इस ओर कुछ विचारकों का मत है कि शंकर के ब्रह्मवाद् को विदेशों

में प्रचारित करने वाले अशोक जैसे समर्थ सम्राट या चीनी यात्रियों जैसे पटु प्रचारक नहीं मिले थे; जो बौद्ध धर्म को अनायास मिल गये थे। सम्भव है कि इस तर्क में कुछ थोड़ा सा सार हो किन्तु अधिक नहीं। क्योंकि इतिहास साक्षी है कि शंकर के जीवन काल में ही उत्तर भारत के अनेक प्रबल शासक जैसे मगध, मिथिला, अयोध्या और विदर्भ के प्रबल और प्रतापी सम्राट शंकर की शिष्यता ग्रहण कर चुके थे। इस समय तक भारत की ज्ञान गुरुता न केवल चीन के ही वरन ईरान, तुरान, अरब और ग्रीस के जिज्ञासुओं के एक-एक दो-दो नहीं दल के दलों को आकृष्ट करने लगी थी। वे तमाशबीन की तरह यहां नहीं आते थे वरन् यहां की ज्ञान राशि का प्रसाद लेकर अपने को धन्य मानते हुए अपने अपने देशों में वापस जाते थे। विद्वानों की कमी नहीं जो शंकर के ब्रह्मवाद की गहरी छाप अरब और विशेषकर ईरान के सूफी सिद्धान्त पर देखते हैं। इसकी आलोचना यहां अभीष्ट नहीं किन्तु इन आधारों से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि राज्य शक्ति और विदेशी ज्ञान जिज्ञासा का बल शंकर और उनके ब्रह्मवाद को बुद्ध या बौद्ध सिद्धान्त से कम नहीं प्राप्त था; वरन् जहां बुद्ध के सन्देश को विदेशों में फैलाने के लिये दूतों की ज़रूरत पड़ी थी वहीं शंकर का सन्देश अपने आप बाहर जा रहा था। किन्तु फिर भी, उसका आकर्षण अन्य देशों में साधक जनों को छोड़कर जन-साधारण के लिये नहीं था। विदेशों में इसका प्रभाव सूफ़ी मत पर ही माना जाता है और शायद पड़ा भी हो। यह इसलिये सम्भव हुआ होगा कि उपनिषदों में निर्धारित परम आत्मतत्व की चेतना से भिन्न होता हुआ भी सूफ़ी मत साधना पक्ष में भारतीय परम्पराओं से कुछ-कुछ मिलता-जुलता तो अवश्य ही है; अतः प्रबल राज्य-शक्ति के समर्थन या प्रचार चेष्टा की कमी का तर्क कोई विशेष महत्व नहीं रखता।

किन्तु परमज्ञानोन्मुख शंकर का यह ब्रह्मवाद भी अधिक समय

तक यहां के भी साधारण जनों को तुष्ट न कर सका और मानव-जिज्ञासा की अतृप्त चेतना फिर एक बार प्रबल हो उठी। शंकर की ही परम्परा में दीक्षित पाचवीं पीढ़ी वाले रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त को प्रतिपादित करके एक नये दृष्टिकोण की स्थापना की।

सैकड़ों वर्ष पहले जैसा ऊपर कहा जा चुका है ईश्वर के विष्णु रूप की स्थापना उत्तर भारत में हो चुकी थी और 'शांडिल्य सूत्र' पर आधारित भक्तिमार्ग भी उत्तर भारत में लक्षित हो चुका था। किन्तु विविध प्रबल धार्मिक क्रान्तियों के कारण उत्तर भारत का विचलित वातावरण उनके अनुकूल न था और जैसा प्रायः माना जाता है, अगस्त्य मुनि के द्वारा दक्षिण में ले जायी गयी उपर्युक्त परम्पराएं वहीं विविध रूपों में कालक्षेप सा करती रहीं। जनसाधारण में धीरे धीरे इनकी लोकप्रियता भी बढ़ चुकी थी। रामानुजाचार्य के द्वारा संशोधित शंकर का ब्रह्मवाद इन्हीं परम्पराओं के सहारे अविलम्ब एक नया रूप धारण कर चला। निम्बार्क, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी देखते-देखते अपने-अपने सिद्धान्तों को लेकर सामने आ गये। परम सत्ता के विष्णु रूप ने राम और कृष्ण के अवतार धारण कर के कर्मकाण्ड से दूर किन्तु भक्ति की प्रेरणा से आकृष्ट एवं दयार्द्र होकर भक्तों के सामने कभी मर्यादा पुरुषोत्तम का रूप उपस्थित किया तो कभी वृज वनिताओं के साथ क्रीड़ा की लीला का चित्ताकर्षक रूप धारण किया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वैष्णव-धर्म और भक्ति-मार्ग का संदेश उत्तर से दक्षिण में जाकर वहां के शान्त वातावरण में धीरे-धीरे वहीं पल्लवित हुआ था और इन विविध प्रसिद्ध आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों के पूर्ण प्रतिपादित होने तक धीरे धीरे मनुष्य के आत्मा और परमात्मा विषयक पारस्परिक सम्बन्ध में नयी चेतना सन्निविष्ट कर चुका था। जहां शंकर के ब्रह्मवाद ने 'अहम् ब्रह्मास्मि' वाले सिद्धान्त को प्रतिपादित करके द्वैतता को समूल ही विनष्ट कर डाला था, वहीं अब इस समय तक भक्ति-प्रेरित द्वैतता इतनी स्थापित हो चुकी थी और भक्तजन ब्रह्म के

साथ पूर्ण एकता प्राप्ति की मृगतृष्णा को छोड़ कर यहां तक कहने लगा था,—

'न धर्मतिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी,
न भक्ति मांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनन्योन्यगतिः शरण्यं,
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥
('तत्वत्रय', यामुनाचार्य)।

भागवत पुराण में नवधाभक्ति का जो निरूपण किया गया है 'श्रवणं कीर्त्तनं' इत्यादि कहकर इसका अर्थ नौ प्रकार की भक्ति नहीं जैसा प्राय लोग समझ लिया करते हैं; वरन् ये भक्ति के मार्ग से चरम सिद्धि प्राप्त करने के नौ सोपान हैं जिनकी पहली सीढ़ी श्रवण है, दूसरी कथन, तीसरी अध्ययन, चौथी कीर्त्तन और वन्दन, पाँचवीं स्मरण, छठवीं अर्चन, सातवीं दास्य, आठवीं सख्य और नौवीं आत्म-निवेदन। 'स्वप्नेश्वर' ने भी इन्हें नौ प्रकार न मान कर भक्ति का नौ अंग माना है। ज़रा ध्यान से देखने से ही समझने में देर न लगेगी कि उक्त निर्धारण पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक है, कदाचित इसी ओर संकेत करते हुए भक्ति के लिये 'स्वप्नेश्वर' ने कहा था 'अन्तःकरण वृत्तिः विशेषः' और शायद किसी ऐसी ही अपेक्षित चेतना की ओर बौद्ध साहित्य में इसका 'सिद्धिन्द्रिय' कह कर संकेत किया गया था। जैसा ऊपर एक स्थल पर कहा जा चुका है, भक्ति मार्ग का चरम लक्ष्य था मनुष्य के आन्तरिक संस्कारजन्य कलुष को धोकर साफ कर देना और उसके हृदय को निर्मलता की शुद्धि से युक्त कर देना। मनोविकारों से मुक्त मानव फिर और चाहेगा ही क्या ?

"धर्मार्थ काम मोक्षाणां ज्ञान वैराग्ययोरपि।
अन्तःकरण शुद्धेश्च भक्तिर्परम साधनम्॥

भक्तिमार्ग की अन्तिम सीढ़ी मानी गयी है 'आत्म-निवेदन'। इसी का संकेत गीता में मिलता है यह कहकर कि—

"कारपण्य दोषोपहत स्वभावः
पृच्छामित्वां धर्मसमूढ़ चेताः
प्रच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रुहितन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्॥"

हृदय की शुद्ध-चेतना से प्रेरित मानव जिस समय आत्म-निवेदन की तन्मयता प्राप्त कर सकेगा उस समय सचमुच में ही जीवन का चरम लक्ष्य उससे दूर नहीं रह सकता। किन्तु यह स्मरण रहे कि भक्ति मार्ग के ये विविध प्रयोग अपने पथ में पग-पग पर लिखो साकार रूप की अपेक्षा करते हैं। संस्कार मुक्त होकर शुद्ध विवेक की सीमा उपलब्ध करके भक्त ईश्वर की सहज निराकारता की अनुभूति भले ही करने लगे किन्तु नितान्त निर्गुणता न उसे प्रेरित कर सकेगी और न कभी उसे अग्रसर कर सकेगी। 'शाण्डिल्य सूत्र' में दी गयी भक्ति की परिभाषा 'परानुरक्तिरीश्वरे' कह कर की गयी है। इसमें प्रयुक्त अनुरक्ति शब्द 'राग' का द्योतक है। रागजन्य अनुरक्ति अपने नैसर्गिक अर्थ और अपनी भावना से ही किसी उपादान या आधार की अपेक्षा करती है। यह आधार भक्त का इष्ट है; चाहे वह किसी रूप-विशेष की मूर्त्ति की सीमा में बद्ध हो या चाहे असीम निराकार की भावना व्याप्त हो। निराकारता और निर्गुणता में मूल भेद है। योगमार्ग का पथिक निर्गुण चेतना को यदि छोड़ दे तो पथ-भ्रष्ट हो जाये; उसी प्रकार यदि भक्ति मार्ग का अनुसरण करने वाला निर्गुण रूप चेतना का सहारा लेना चाहे तो गुमराह हो जायगा। यही अन्तर है भक्त और साधक के जीवन लक्ष्य और उनके पथ पालन का।

यामुनाचार्य ने 'न धर्मनिष्ठोऽस्मि' इत्यादि कह कर भक्ति के चरम लक्ष्य को निर्धारित किया है। इसकी प्राप्ति के लिये नितान्त आवश्यकता

थी इष्ट के किसी ऐसे रूप की जो साधारण-जन को ऐसी सात्विक प्रेरणा दे सके कि वह अनायास भक्तिमार्ग द्वारा निर्धारित विविध सोपानों पर उत्तरोत्तर बढ़ता चला जाय। 'सनक सम्प्रदाय' के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने ही शायद सबसे पहले इष्ट के एक ऐसे विशिष्ट रूप की मूर्ति भक्त के सामने उपस्थित की थी जो सत्-चित् और आनन्द के चरम तत्वों को साकारता प्रदान करती हुई मनुष्य को स्वभावजन्य निर्बलताओं से ऊपर उठा कर परम तत्व की अपेक्षित सन्निकटता उपलब्ध करा सकती थी—

"स्वभातोऽपास्त समस्तदोषम्
अशेष कल्याण गुणैकराशिम्।
व्युहाङ्गिनम् ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥"

(दशश्लोकी-४.)

इस विशिष्ट रूप वाले ईश की भक्ति तो सम्भव हो सकती है किन्तु इसके साथ कमजोरियों का पुतला मानव-भक्त 'पूर्ण एकाकार' की कल्पना भी कैसे कर सकता? और क्यों करें उसके लिए तो अपने इष्ट का 'सान्निध्य' ही पर्याप्त है। परम विश्वासजन्य अपनी भक्ति के द्वारा प्राप्त उसका 'ईश्वर संगत्व' स्वयं ही मुक्ति और अमरता का वरदान है। 'ब्रह्मसंस्थोमृततत्वम्' (छान्दोग्य ३०, ११।२३, २) इसी का प्रतिपादन तैत्तरीय उपनिषद् में 'रसम् हैवायामूलब्ध्वानदि भवति' वाक्य में स्पष्ट किया गया है। और निस्संदेह भक्त हृदय की यही चिर साध घोषित हो उठी होगी तुलसी के कण्ठ से जिस समय उन्होंने कहा था कि—

"धर्म न अर्थ न काम रुचि गात न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म रति राम पद, यह वरदान न आन्॥

(अयोध्याकाण्ड)

ज्ञानमार्गियों और भक्तों का पारस्परिक द्वन्द्व इतिहास प्रसिद्ध है। वेदों ने जिसे 'नेति नेति' कहा, 'बृहदारण्यक' ने जिसकी सत्ता का संकेत 'यतोवाचोनिर्वन्तने अप्राप्य मनसा सह' कहकर किया उस अनन्त अनामय अगोचर के भक्त के प्राप्त करने के दावे को ज्ञानमार्गी स्वीकार ही कैसे करते। किन्तु काश्यप और बादरायण के सारे तर्क-वितर्कों के बावजूद भी शाण्डिल्य, भागवत पुराण, विष्णु पुराण इत्यादि में बारम्बार भक्ति की चेतना को उकसा कर सिद्धान्तो और तर्कों से नही वरन् हाड़ मांस के कितने ही पुतलों को भक्तिरस के रंग से रंजित करके उन्हें केवल ईश्वर दर्शन ही नहीं प्राप्त कराये वरन् उनके इशारों पर उस परम सत्ताको जो अनादि, अनामय अगोचर है उन्होंने नचाकर भी दिखा दिया।

भक्ति का यह सिद्ध नुस्खा आखिर कैसे कारगर हुआ यह शंका किसी के भी मन में उठना स्वभाविक है। किन्तु इसका भेद अधिक जटिल नहीं। ईश्वर विषयक परम अनुराग ही तो भक्ति है और अनुराग का आधार प्रेम-तत्व है; जो मानवता का सबसे बड़ा वरदान और उसकी सिद्धि का सबसे बड़ा साधन रहा है। लेकिन मानवता का यही अमोघ शस्त्र यदि चूक गया तो सबसे बड़ा अभिशाप ही सिद्ध हुआ है। इसके उदाहरण न इतिहास के पन्नों में कम हैं और न दैनिक जीवन में; न नित्यप्रति होनेवाली घटनाओं में ही इसकी कमी है। ढाई अक्षरों का यह छोटा सा शब्द जो मनुष्य अनादि काल से मन्त्र की भांति जपता रहा है, जिसकी दुहाई देता वह आज भी नहीं थका है, जिसका महत्व भी उसने जाना है और जिसकी पीड़ा भी उसने अनुभव की है उसका रहस्य क्या है इसकी क्रिया और प्रतिक्रिया कहां, कैसे और क्यों होती है इसकी मीमांसा न जाने कितनी हो चुकी होगी और अभी कितनी होनी बाकी है। जिस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र-वेत्ताओं ने सौन्दर्य को अपरिभाषेय मानकर छोड़ दिया उसी प्रकार मनोविज्ञान के आचार्यों ने प्रायः

इस छोटे से ढाई अक्षरों के तत्व की भी परिभाषा देने से इन्कार कर दिया। पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित परम्पराओं का सहारा और उनका निर्वाह अध्ययन, मनन और चिन्तन के क्षेत्र में परम सहायक होता है, किन्तु मनुष्य यदि उन्हीं में उलझा रह जाय या उनको सीमा को ही अपनी सीमा मान ले तो उसका ऐसा आचरण अनन्त ज्ञान की नैसर्गिक असीमता में सीमा का पूर्ण-विराम लगाने की व्यर्थ चेष्टा होगी। इसी निमित्त सार्थक या निरर्थक यदि इस अपरिभाषित प्रेम को किसी परिभाषा में बाँधने की चेष्टा की जाय तो बुरा ही क्या होगा ?

जीवन व्यापारों में जिन स्थलों पर प्रेम की सत्ता मानी जाती है वे प्रायः दो प्रकारों के हुआ करते हैं (१) शृङ्गारजन्य और (२) वात्सल्यमूलक। पति और पत्नी का, प्रेमी और प्रेमिका का पारस्परिक व्यापार विशेष जब विविध-क्रियाओं के फलस्वरूप हर्ष और विषाद का अनुभव करता है तो वहाँ प्रेम की सत्ता मानी जाती है और यह प्रेम अपने स्वभाव में शृङ्गारजन्य होता है, किन्तु माता, पिता, पुत्र, पुत्री अथवा मित्र का पारस्परिक भावनाविशेष-मूलक व्यवहार ममत्व और सौहार्द्र की कोमल प्रेरणा से अनुप्राणित वात्सल्य की कोटि का होता है।

शृङ्गारजन्य प्रेम की पहली क्रिया आकर्षण है- जो शरीर से प्रारम्भ होकर मन, बुद्धि और आत्मा तक जा सकती है। यही आकर्षण की क्रिया धीरे-धीरे सराहना और प्रशंसा में परिणत हो जाती है। इनका रंग जितना अधिक गहरा होता जायगा प्रेम उतना ही निखरता चला जायगा, किन्तु इस ओर अग्रसर होते ही विकारों की आशङ्का कम नहीं होती। उनसे बचने का केवल एक ही उपाय है और वह है विशुद्धता की भित्ति का। यदि दृष्टि की विशुद्धता नष्ट हो गयी किसी भी असावधानी से, तो सराहना और प्रशंसा का रंग देखते देखते विविध मानसिक विकारों में बदल जायगा और असुन्दरता उत्पन्न हो जायगी। प्रेम की असीमता अपनी सात्विकता को खोकर क्षुद्र संकीर्णताओं में बँध जायगी। अवांछित विकार की पहली कमजोरी हो सकती है शरीर सीमा। यदि सराहना

का दायरा शरीर के आकर्षण तक ही पहुंच कर रह गया तो प्रेम का सात्विक रूप वासना की विभीषिका में परिणत हो जायगा। इससे बच कर यदि मन और बुद्धि तक पहुंच गया और अपनी दूसरी मञ्जिल के विकारों से न बच सका तो प्रेम की अपार सत्ता मोह में बंध कर रह जायगी, किन्तु इससे भी बचकर यदि आकर्षण की प्रेरणा आत्मा तक पहुंच कर भी विकारों का शिकार हो गयी तो भी प्रेम का अलौकिक तत्व अपनी उत्कृष्टता को प्राप्त न करके दास्यभाव की भक्ति का रूप धारण कर लेगा। दृष्टिकोण की विशुद्धता जो प्रेम साधन की परम अभीप्सित है, प्रायः नष्ट होती है स्वार्थ और भय के कारण।

अब यदि वात्सल्यमूलक प्रेम की समीक्षा की जाय तो अपनी विविध समानताओं के बावजूद भी वह शृङ्गारजन्य प्रेम से -प्रेम कहलाता हुआ भी मूलतः भिन्न है। वात्सल्यमूलक प्रेम की क्रिया आकर्षण से नहीं, ममत्व की भावना से प्रेरित हुआ करती है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई इसकी भावना स्नेह के रंग में रंगती चली जाती है और प्रेम-तत्व इसी में निखरता चला जाता है। दृष्टिकोण की विमलता वात्सल्य-प्रेम का 'सहज' साथी है। इसलिए इस प्रेम के इस रूप की साधना में विकारों का उतना भय तो नहीं रहता जितना शृङ्गारजन्य प्रेम में होता है; किन्तु स्वार्थजन्य कमजोरी यहाँ का सबसे बड़ा खतरा है। यदि सावधानी के साथ इससे प्रेम के इस कोमल पौधे की रक्षा न की गयी तो यहाँ भी उसका स्खलन अवश्यम्भावी हो जाता है; जो उसकी नैसर्गिक असीमता को अवांछित सीमा में बांधकर भ्रष्ट कर डालता है। माना कि इसकी साधना अधिक सुलभ होती है किन्तु पूर्ण हो जाने के बाद भी अभीष्ट सिद्धि में इसका वरदान अत्यधिक ऊंचा नहीं हो पाता क्योंकि इसके माध्यम से 'परम अद्वैतता' का 'आनन्द' सुलभ नहीं। सारी मीमांसा के बाद यदि हम प्रेम को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विमल 'सराहना-जन्य आकर्षण (Understanding) कहें तो कदाचित प्रेम की परिभाषा अधूरी न रह जायगी।

मानव-हृदय के इस परम तत्व (प्रेम) का विवेचन और अधिक आवश्यक इसलिये हो जाता है कि भक्ति-पथ की साधना का यह प्रधान आधार है। एक बार फिर शाण्डिल्य की दी हुई भक्ति की परिभाषा पर विचार करना होगा। उसमें कहा गया है कि ईश्वर में 'परानुरक्ति' की चिर सीमा को प्राप्त करना ही भक्त का परम कर्त्तव्य है। अनुरक्ति का आधार प्रेम युक्त रति ही है; इसका प्रतिपादन स्थल-स्थल पर गीता और भागतत में भी किया गया है। प्रेम और रति से समन्वित यह अनुरक्ति भक्त की पूर्ण साधना के लिये 'परा', भी होनी चाहिये। 'परा' की शर्त्त है प्रमुखता की, गौणता की नहीं। इसी परा पर अधिक जोर देते हुए और उसे अधिक स्पष्ट करते हुए 'तुलसी ने कहा था—

"श्रुति सम्मत हरि भक्ति पद, संजुत विरति विवेक।
तेहि परिहरहिं विमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥"

यहां 'विरति और विवेक' की शर्त को जोड़कर जहां पराभक्ति का धर्म स्थिर किया गया है वहीं 'कल्पहिं पंथ अनेक' कहकर अपरा का निषेध भी स्पष्ट हैं। गौण भक्ति अपरा कहलाती है। जहां परा भक्ति का सम्पुट परम तत्व ईश्वर को अर्पित होता है वहीं लौकिक अनुरागजन्य अपराभक्ति देवर्पित मानी गयी है। क्योंकि विविध देवताओं की पूजा मनुष्य लौकिक आकांक्षाओं की पूर्ति के निमित्त ही करता है। यह तुलसी की 'बुझै न काम अगिन कहुं सीचें, विषय वासना घीतें' वाली उक्ति के अनुसार दूषित मार्ग माना गया है क्योंकि यह मनुष्य को सत्पथ से विमुख करनेवाला है। इसी की ओर सकेत करते हुए गीता में उल्लेख है।

'देवान् देवयजोयान्ति मद्भक्तायान्ति मामपि'।
(गीता, अध्याय ७, श्लोक २३)

गीता के इस वाक्य में 'अपराभक्ति' का निषेध स्पष्ट है किन्तु 'वृहदारायक' तो इससे भी दस कदम आगे चला जाता है जब वहां कहा गया है कि 'जो परम ईश्वर को छोड़कर अन्य देवताओं की पूजा करता है वह बलि-

पशु से कुछ भिन्न नहीं।' आखिर 'परानुरक्ति' पर ही इतना जोर क्यों दिया गया है ? कारण स्पष्ट है। भक्ति-मार्ग के जिन नौ सोपानों का उल्लेख बारम्बार किया जा चुका है उनपर सिद्धिपूर्वक अग्रसर होनेके लिये तथा अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये भक्त की एकान्तिकता नितान्त आवश्यक मानी गयी है। क्योंकि, प्रेम और रति से युक्त यह अनुरक्ति अपनी साधना के लिये मानव भावना की दृढ़ता का ही अवलम्ब ग्रहण करती है। इसकी प्राप्ति तबतक सम्भव नहीं जबतक कि समस्त मानव चेतना किसी भावना विशेष की अनुरक्ति में केन्द्रित न हो जाय। उपासना पद्धति जो भक्ति मार्ग की एक प्रधान परिपाटी मानी जाती है, उसकी स्थापना करते हुए रामानुजाचार्य ने पांच सोपानों का निर्देश किया था। पहला था अभिशमन, जो भक्त के इष्ट सान्निध्य का प्रतिपादन करता है। दूसरा था उपादान, जिसके द्वारा भक्त के आत्मसमर्पण की योग्यता स्थिर की गयी है। तीसरा था इज्या, जो भक्त के द्वारा इष्ट के चरणों में सर्वस्व समर्पण का निर्धारण है। चौथा था स्वाध्याय, जिसमें भक्त के चिन्तन और मननयुक्त मानसिक स्तर के चरम उन्नत केन्द्रीकरण का निर्धारण है और पांचवां था योग, जो भक्त की इष्ट के प्रति एकाग्र संलग्नता प्रतिपादित करता है।

इसी प्रकार—

"ज्ञान स्वरूपं च हरेरधीनं
शरीर संयोग वियोग योग्यम्
अणुं हि जीवं प्रतिदेह भिन्नं
ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः"
(दश श्लोकी—१)

—कहकर द्वैताद्वैतवाद के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने भी निर्धारित किया था कि भक्ति-मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति को संकल्पमूलक विश्वास रखना ही चाहिये कि (१) परब्रह्म सच्चिदानन्द दिव्य स्वरूप है (२) उसका धाम व्रज है। (३) उसका व्यक्त रूप कृष्ण है (४) जिसकी भक्ति साफल्य में आत्मसमर्पण अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। 'स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषम्' इत्यादि

की घोषणा करनेवाले निम्बार्काचार्य का कृष्ण-भक्ति का उपर्युक्त समर्थन उपयुक्त ही था।

विविध आचार्यों के भक्ति विषयक विविध निर्धारण, अपनी अपनी पद्धतिमूलक भिन्नताओं के बावजूद भी शाण्डिल्य प्रतिपादित भक्ति की मीमांसा के मूल-तत्वों के एक ही से समर्थक थे। उन तत्वों के आधार पर भक्ति पांच प्रकार की मानी गयी है। (१) सौम्य, (२) दास्य, (३) सख्य (४) वात्सल्य और (५) कान्त। पहले प्रकार के प्रतीक नारद और सत्नकुमार माने गये हैं दूसरे के हनूमान, तीसरे के उद्धव, चौथे के नन्द और यशोदा और पांचवें की प्रतीक मानी गयी हैं राधा।

यों तो भक्ति का इतिहास तथा उसकी मीमांसा बहुत लम्बी है, उसका विस्तृत विवेचन भी शायद यहाँ अभीष्ट नहीं, किन्तु इस 'श्रुति सम्मत' हरि भक्ति के अन्तर्निहित मूल-तत्वों का थोड़ा सा विश्लेषण अनिवार्य है। प्रेम की उपर्युक्त विस्तृत मनोवैज्ञानिक मीमांसा से स्पष्ट हो चुका है कि प्रेम विशेष का नाम ही अनुराग है और यही परम अनुराग जब ईश्वरोन्मुख होता है तो भक्ति की संज्ञा से विभूषित होता है। अनुराग स्नेहजन्य है। इसकी क्रिया और प्रतिक्रिया जिन दो व्यक्तियों में स्थिर होती है उनका पारस्परिक स्तर तीन ही प्रकार का सम्भव हो सकता है; (१) समान, (२) उत्कृष्ट और (३) निकृष्ट। जब स्नेहयुक्त अनुराग की क्रिया और प्रतिक्रिया के आधार दो व्यक्ति समान स्तरवाले होते हैं वहाँ वह रूप मैत्री या सख्य का है। निकृष्ट में 'दया' का और उत्कृष्ट में 'भक्ति' का। शायद इसी का संकेत करते हुए कुछ आचार्यों द्वारा कहा गया है कि "गुरुत्व बुद्धि से सम्वलित स्नेह ही 'भक्ति' शब्द वाच्य है"। इसे भी मान लेने में भक्ति की मीमांसा में कोई विपर्यय नहीं होता। भक्ति के पाँच प्रकारों में सनत्कुमार और नारद की भक्ति को सौम्य रूपिणी माना गया है। क्योंकि इन दोनों आदि महर्षियों की जिज्ञासाजन्य चेतना ने भक्ति के पथ से 'परमतत्व' का 'दर्शन' जिस समय प्राप्त किया होगा उस समय की इनकी वह आदिकालीन दार्शनिक चेतना अपनी अनिर्वचनीयता के कारण 'सौम्य'

को छोड़कर अन्य किसी शब्द के द्वारा शायद व्यक्त ही नहीं की जा सकती थी; और बरबस फिर शायद कह ही देना पड़ता होगा कि वह 'परमतत्व' निश्चय ही ऐसा ही है जिसके लिये वृहदारण्यक कहता है—'यतोवाचोनिवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'। उस सत्ता के असीम तत्व से पराभूत होकर मानव की उसके प्रति आदि चेतना गुरुत्व संयुक्त हो, यह क्रम स्वाभाविक है। दास्यभाव की इस अनुरक्ति के प्रतीक हनूमान हैं, जिनका पावन चरित्र पग-पग पर एकनिष्ठ स्वामी सेवा का अद्वितीय आदर्श उपस्थित करता है उस 'तत्व' के साथ भक्तिमार्ग द्वारा निर्धारित पारस्परिक घनिष्ठता का क्रमिक विकास पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है और समानभावा मैत्रीजन्य उसके साथ भक्ति का सम्बन्ध, द्वापर में उद्धव के प्रतीक से देखने को मिलता है। मित्र या सखा तो अर्जुन भी थे और अनेक ग्वाल बाल भी थे, किन्तु वह मित्रता लौकिक व्यावहारिकता की सीमा के बाहर न निकल सकी। उनका स्नेह और अनुराग, शारीरिक और मानसिक स्तर से ऊपर न उठ पाया। किन्तु प्रेम की मीमांसा में पहले उल्लेख किया जा चुका है कि यह सम्बन्ध सर्वाङ्गीन तभी होता है जब इसका क्षेत्र अपनी व्यापकता में शरीर, मन-बुद्धि और आत्मा तीनों तक पहुंच जाये। पहुंच कर भी सर्वाङ्गीत तो हो जायगा किन्तु सिद्धि की यहाँ भी कोई 'गैरन्टी' नहीं; जब तक कि वह स्वार्थजन्य विविध परम सम्भाव्य विकारों से अछूता न रक्खा जाय। विविध चरित्रों से स्पष्ट हो जायगा कि उद्धव को छोड़कर अन्यत्र मैत्री का यह सम्बन्ध विविध विकारजन्य कलुषों से निर्लिप्त नहीं था।

इसके उपरान्त प्रेमयुक्त अनुराग में भक्ति की भावना ने एक नयी कोटि की स्थापना कर दी; वह थी वात्सल्यमूलक। पुराणाधारित आख्यानों के अनुसार इस नयी कोटि की स्थापना 'सत और अनुरूपा' के आख्यान में ही हो चुकी थी। कौशल्या की कोख से राम का अवतार इसका प्रारम्भ था। किन्तु इसकी चरम पूर्ति उसमें न हो सकी क्योंकि वाल्मीकि की तो बात ही क्या परमसिद्ध भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसी

दास जी द्वारा वर्णित कौशल्या का पुनीत और असाधारण गौरवयुक्त चरित्र वात्सल्य-भक्ति की कोमलतम चेतना से प्रारम्भ तो होता है किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ कर काव्यगत वात्सल्य-रस का प्रतीक ही बन कर रह जाता है क्योंकि वहाँ भी उसकी पहुंच तुलसी जैसे परम सिद्ध भक्त के हाथों भी 'आत्म-तत्व' तक न हो पायी और कौशल्या का वात्सल्य लौकिक सीमा में ही बंधा रह कर काव्यानुगत वात्सल्य रस की सीमा को ही छूकर रह गया। द्वापर में आकर नन्द और यशोदा के बीच यह वात्सल्य की चेतना भक्तिमूलक हो उठी और कदम-कदम पर विविध विकारों से बाल-बाल बचती हुई अभीप्सित भक्ति की सीमा तक पहुंच गयी। भले ही कृष्ण ने जन्म वसुदेव और देवकी के गर्भ से लिया हो किन्तु इस रूप की सार्थकता का क्षेत्र नन्द और यशोदा का क्रोड़ ही रहा। जाने को वे ब्रज से मथुरा और मथुरा से द्वारका चले भी गये। राम तो बनवास के बाद अयोध्या लौटे भी थे किन्तु कृष्ण ब्रज से जाकर फिर कभी नहीं लौटे। किन्तु इससे क्या? नन्द और यशोदा की वात्सल्यमूलक भक्ति चेतना उनके बाल रूप को लेकर जिस प्रकार आरम्भ हुई थी अन्त तक अपरिवर्तित रूप में निभती चली गयी। परम प्रतापी दिग्विजयी महाराज कृष्ण भी उनके लिये गोपाल और कान्हा ही रहे। वात्सल्य-भाव की इस भक्ति की इस सिद्धि का रहस्य यही था कि वह शरीर मन और आत्मा तीनों ही पर छायी हुई थी और विविध अग्नि-परीक्षाओं के बावजूद भी विमल और विकार-रहित रह सकी थी।

वात्सल्यमूलक 'प्रेमतत्त्व' का विवेचन स्पष्ट किया जा चुका है। क्या भक्ति-क्षेत्र और क्या लौकिक-क्षेत्र, दोनों ही में जहाँ इसकी साधना अधिक बाधा रहित होती है वहीं इसकी सिद्धि भी सीमित ही रहती है। क्योंकि इसकी चरम सिद्धि के उपरान्त भी परम अद्वैतताजन्य 'आनन्द' की अनुभूति सम्भव नहीं। क्योंकि आन्तरिक द्वैत-भाव का आभास इसकी नैसर्गिकता है। सौम्य, दास्य और सख्य भी इसी प्रकार भक्ति क्षेत्र में सिद्धि की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने के बावजूद भी आन्तरिक द्वैतभाव से

उन्मुक्त नहीं हो पाते। यह भी एक कारण है कि उपर्युक्त विविध कोटियों की भक्ति अधिक अंशों परसंवेद्य (objective) ही रह जाती है यदा-कदा स्वसंवेद्यता (subjectivity) की थोड़ी बहुत चेतना देख भले ही पड़े, किन्तु सधती नहीं। रति या अनुराग-जन्य प्रेम का लौकिक और पारलौकिक दोनों ही क्षेत्रों में अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये विशुद्ध विमलता, घनिष्ट आत्मीयता और नैसर्गिक सारल्य की अनिवार्य अपेक्षा करता है। यह लौकिक या पारलौकिक क्षेत्र में यदि एक ओर ममत्व की भावना से उद्भूत होकर वात्सल्य की चेतना जागृत करता है तो दूसरी ओर आकर्षण चेतना से उद्भूत होकर माधुर्य्य या शृङ्गार की चेतना भी धारण कर सकता है। यह चेतना जब ईश्वरोन्मुख होती है तो इसे माधुर्य्य भाव की भक्ति अथवा कान्त-भक्ति की संज्ञा प्राप्त होती है। 'भक्ति-दर्शन' और भक्तों के इतिहास में इसका स्थान बहुत उच्च माना गया है। क्योंकि इसी की सिद्धि एकान्तिक 'अद्वैतता के आनन्द' का अनुभव प्राप्त करा सकती है। भक्ति की इस कोटि की प्रतीक राधा मानी गयी हैं।

भारतवर्ष में ईश्वर प्राप्ति के अनेकानेक प्रसिद्ध साधनों, पंथों और मार्गों में भक्ति-मार्ग का इतिहास अति प्राचीन है और रोचक भी रहा है। अन्य साधनों और मार्गों की अपेक्षा शायद इसकी लोक-प्रियता भी बहुत अधिक रही है। इसका यही कारण हो सकता है कि इसका मूल-आधार मानव-हृदय की नैसर्गिक भावनाओं पर केन्द्रित है। इस पथ के अनुसरण करने वालों के लिये सांसारिक जीवन से बहुत दूर जा पड़ने की कोई पाबंदी नहीं और इससे भी बढ़ कर एक कारण और है कि इस साधना के इष्ट हैं विष्णु या हरि के अवतार राम या कृष्ण, जिनका रूप 'स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषं, अशेष कल्याण गुणैक राशिम्'—कह कर उपस्थित किया गया है। इस उक्ति में यद्यपि निम्बार्क ने 'ध्यायेम् कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्' कहा है किन्तु कृष्ण नाम राम में भी यदि बदल दिया जाय तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। कृष्ण और राम दोनों ही भक्तों के आराध्य रहे हैं और रहेंगे।

यद्यपि दोनों चरित्रों के आधार और आदर्श मूलतः भिन्न हैं। देश की सारी धार्मिक चेतना का इतिहास पुराणों के पन्नों में भरा पड़ा है। विष्णु-पुराण, ब्रह्म वैवर्त्त पुराण और भागवत पुराण वैष्णव धर्म के सर्व विदित आधार हैं। इनमें विष्णु ही प्रधान देवता माने गये हैं और ब्रह्म वैवर्त्त और भागवत पुराण में तो विष्णु के अवतार कृष्ण के चरित्र का ही सबसे अधिक महत्व है। कृष्ण का इतिहास स्वयं ही एक बहुत उलझी हुई गुत्थी है। यों तो कृष्ण नाम 'ऋगवेद संहिता' में भी पाया जाता है। ब्राह्मण और उपनिषद् भी कृष्ण के नाम को अपने वक्ष पर आदरपूर्वक अङ्कित किये देखे जाते हैं। महाभारत और उपर्युक्त तीनों पुराण कृष्ण-चर्चा से आद्योपान्त भरे पड़े है। मध्यकालीन विविध भाषाओं में व्यक्त अमर भक्तों की उक्तियों से लेकर रीतिकालीन काव्याचार्यों की अगणित रचनाओं में तथा आधुनिक युग के कोने-कोने में मुखरित लोक-गीतों तक में कृष्ण की छाप अमिट रूप से लगी मिलती है। कहीं कृष्ण परब्रह्म की साकार प्रतिमा हैं तो कहीं गोप ललनाओं से विविध प्रकार की छेड़छाड़ करने वाले नटखट बालक। कहीं जटिल धर्म-तत्व के प्रकाण्ड आचार्य हैं तो कहीं परम माया रूप राजनीति के अखाड़े के सिद्ध खिलाड़ी। कहीं मदनमोहन रसिक शिरोमणि नटनागर हैं तो कहीं भयङ्कर योद्धा और रणछोड़ भी हैं। उनकी विविध लीलाएं भक्त जनों की कृतियों में शायद कुछ इतनी ही अति विस्तृत, अति विविध और असीम है जितनी उनकी वैष्णवी-सत्ता। इस सारे विस्तार और इतनी व्यापक विविधता के पीछे हो सकता है कि 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत देखी तिन तैसी' वाला सिद्धान्त बहुत अंशों में काम कर रहा हो। लेकिन केवल इतने से ही इस तत्व के विवेचन का समाधान नहीं होता। जगत का इतिहास और अनुभव असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित कर चुका है कि विश्व में कारण रहित कुछ नहीं। विष्णु के अस्तित्व का स्वयं तो ब्रह्म-लीला कह कर कारण बता दिया गया है तब अवतार इत्यादि की अलौकिक सत्ता होते हुए भी उनका प्रादुर्भाव बिना कारण कैसे हो सकता है? इसी के निमित्त गीता ने

घोषणा की कि 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्थानम्-धर्माय तदात्मानं सृजाम्यहम्'। अलौकिक आत्म-सृजन का कारण यहाँ स्पष्ट है।

भले ही डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् कह दें कि 'आक्रान्त तर्क विश्वास की आड़ लेता है' (भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग २ पृ० १६)। किन्तु विश्वासतत्व की यह आलोचना बड़ी छिछली है। यहां प्रसिद्ध दर्शन शास्त्रवेत्ता डा० राधाकृष्णन् शायद एक क्षण के लिए यह भूल गये कि तर्क क्रिया है बुद्धि की, किन्तु विश्वास प्रतिक्रिया है आत्मचेतना की। 'परम तत्व' की अनुभूति बुद्धिगम्य नहीं हुआ करती, वह शरीर और मनस्तत्व की चेतना से परे आत्मा का ही व्यापार रहा है। उसीके चैतन्य को शरीर और मनस्जन्य चैतन्य से पृथक करते हुए महर्षियों ने 'विद्या' और 'अविद्या' का भेद व्यक्त किया था। इसी प्रकार के मानसिक असमंजस का जिक्र एक बार पहले ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का विवेचन करते समय किया जा चुका है कि ज्ञानमार्गी जहां समझने में असमर्थ रहता है कि वह असीम अगोचर सत्ता भी किसी प्रकार साकारता के दायरे में सीमित होकर प्रादुर्भूत हो सकती है वहीं उसके भ्रम के निवारणार्थ ब्रह्म की विरुद्ध-धर्मता की याद ज्ञानमार्गी को यह कह कर दिलाई गयी थी कि—

'अणोरणीयान् महतो महीयान्
आत्मागुहायां निहितोऽस्यजन्तोः।'

कदाचित ज्ञानमार्ग के बुद्धि प्रधान भ्रामक दृष्टिकोण को सत् पथ पर लाने के लिये ही भागवत् पुराण में उद्धव से वृन्दावन की यात्रा करायी गयी थी। सूर और नन्ददास ने भी अपने-अपने भ्रमर-गीत लिखे और एक या दो ने नहीं अगणित भक्त जनों ने—जिनकी ईमानदारी पर संदेह की गुंजाइश नहीं,—राम, कृष्ण, शिव इत्यादि को लेकर न जाने कितनी अपनी ऐसी अनुभूतियों का उल्लेख

किया है जिनमें ईश्वर के साकार दर्शन के प्रबल प्रमाण मिलते हैं, आण्डाल का जगलों में गायें चराते हुए गोपाल कृष्ण के साथ प्रेमालाप, सूर का अपने इष्ट से 'हिरदय ते जब जाओगे सबल बखानौं तोय' वाला उपालम्भ, चित्रकूट में तुलसी के ललाट पर 'तिलक देत रघुबीर' की प्रसिद्ध साखी सरलता से अविश्वास की वस्तु नहीं। सिद्ध नुस्खा है 'विश्वासोफलदायक'। एकान्तिक विश्वास की साधना स्वयं एक महान तपस्या है। रसखान की गली गली की खोज पूर्ण हो जाती है, जब वह भक्ति के रंग से शराबोर अपनी उमंग में कह बैठता है 'देख्यों पलोटत राधिका पायन'। सचमुच ये सारे अनुभव बुद्धि और तर्क से समझने की चीज नहीं। क्योंकि बुद्धि और तर्क की संकीर्ण परिधि है इन्द्रियगोचरता। अतीन्द्रिय, अनिर्वचनीय, अगोचर की अनुभूति आत्मजन्य है। भक्तों के जीवन में और उनके अनुभवों में कृष्ण के विविधरूपों का अलौकिक आविर्भाव उनको साधनाजन्य परम विश्वास के कल्पतरु का फल है, जो बौद्धिक तर्क के साधारण पौधों में नहीं लगा करता।

कुछ इसी तरह या इससे भी अधिक साहित्यानुरागियों या भक्तों के लिये नहीं—वरन् साहित्य समीक्षकों और इतिहास मर्मज्ञों के लिये कृष्ण के साथ जुड़ी हुई राधा की समस्या भी कम जटिल नहीं। कोई इसे पूर्ण रूप से काल्पनिक कहकर टाल देता है तो कोई दर्शिनिक-चेतना का माधुर्य-पूर्ण मानवीकरण या मूर्त्त रूप कहकर इसकी मीमांसा करना चाहता है। बहुतों के लिये राधा का यह चरित्र तेरहवीं शताब्दी के उपरान्त की कवि-कल्पना है। क्योंकि उनका कहना यह है कि विष्णु-पुराण या भागवत् में राधा नाम कहीं नहीं आता। भागवत् के दशम स्कन्ध में इस नाम से मिलता जुलता यदि कोई शब्द प्रयुक्त हुआ है तो वह केवल निम्नलिखित श्लोक में है—

अनयाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरीरीश्वर:।
यन्नोविहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद् रह:॥

(श्री मद्भागवत् १०।३०।२२)

सच तो यह है कि इस तत्व की विस्तृत ऐतिहासिक या गूढ़ दार्शनिक खोज उस स्थल पर कदाचित अप्रासङ्गिक होगी। लेकिन फिर भी कृष्ण भक्ति में राधा का स्थान बहुत प्रमुख है। इसलिये इस तत्व की संक्षिप्त मीमांसा अनुपयुक्त न होगी।

कम से कम हिन्दी के मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-प्रधान काव्य में राधा का स्थान बहुत प्रमुख रहा है। उन्हें केवल 'राधा' कहकर ही नहीं पुकारा गया है वरन् अगणित स्थलों पर 'किशोरी', 'वृष भानुसुता' 'वृष भानुकुमारी', तथा अन्य अनेक नामों से भी पेश किया गया है। प्राचीनतम विविध आर्य जातियों का जो इतिहास हमें ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक में बिछा हुआ मिलता है उसमें आभीर जाति का इतिहास अपनी अनेक विशेषताओं के कारण पर्याप्त विस्तार के साथ प्राप्त होता है। यादव और वृष्णि तथा अन्य वंश भी इसी जाति में थे। इनकी शाखा चन्द्रवंशीय थी। बसुदेव और कंस भी इसी जाति के थे। इन्ही के समसामयिक एक शाखा की सत्ता वृन्दावन अंचल में थी। यद्यपि यह कुल भी कंस का आधिपत्य स्वीकार कर चुका था, किन्तु इसका अपना पृथक अस्तित्व समाप्त नहीं हो गया था। The Aryan tribes के विद्वान लेखक डा० ऐन्डरसन (Dr. Anderson) ने इस उपकुल इतिहास लिखते हुए कहा है कि वृषभानु इस शाखा के प्रतापी शासक थे। यद्यपि इनका राज्य-विस्तार अधिक नहीं था किन्तु अपने बल, पौरुष और सदाचार से इन्होंने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी कि कंस जैसा प्रबल, प्रतापी और आततायी भी इनके राज्य को हड़प न सका। वृज और उसके आसपास इनकी सत्ता क़ायम ही रही। विविध पुराणों में भी वृषभानु का नाम उल्लिखित है। इन्हीं की पुत्री थीं राधिका। इसमें किसी आश्चर्य की आशंका तो नहीं। क्योंकि वृषभानुकुमारी के नाम से उनका उल्लेख एक नहीं अनेक स्थलों पर मिलता है। तब ऐतिहासिक आधार में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं। इसी प्रकार 'किशोरी' कहकर जो उल्लेख इनका

किया गया है, वह भी पर्याप्त रूप में सिद्ध कर देता है कि वे आजन्म अविवाहिता ही रही। कृष्ण के समय का वृज के वातावरण का जो चित्र हमें विविध पुराणों में मिलता है उससे यह समझने में कठिनाई नहीं हो सकती कि कृष्ण का परम मोहक व्यक्तित्व, उनका असाधारण बल और पराक्रम, आततायी सत्ता के विरुद्ध उनके द्वारा की गयी विविध क्रान्तियां यदि वहां के नर नारियों को आकृष्ट और प्रभावित करती रही है तो आश्चर्य ही क्या? उन्हीं में वृषभानु की कन्या भी यदि एक रहीं हों या इनका स्थान राजकुमारी होने के नाते अधिक ख्याति पा गया हो तो इसमें भी क्या आश्चर्य है? केवल भारतके इतिहास में ही, नही संसार के इतिहास में किसी व्यक्ति विशेष के असाधारण गुणों पर किसी राजकुमारी के रीझ जाने की कथायें न जाने कितनी मिल सकती हैं। प्रश्न उठता है कि जब कृष्ण ने एक नहीं अनेक विवाह किये तो राधा से भी विवाह कर सकते थे, उन्हें पटरानी भी बना सकते थे किन्तु यह क्यों नहीं किया गया? उत्तर ढूंढने दूर न जाना पड़ेगा। इतिहास के जिन पन्नों में राजा वृषभानु का नाम मिलता है, उन्हींमें यह प्रसंग भी स्थान-स्थान पर प्राप्त है कि उस समय की साधारण गतिविधि के अनुसार और प्रचलित परम्पराओं के अनुसार भी वैध विवाह बन्धन में कुल-मर्यादा की समानता अनिवार्य रूप से पाली जाती थी। कृष्ण भी राज परिवार के थे यह राज़ नन्द और यशोदा को छोड़ कर कंस के भय से अन्य व्रजवासियों से गुप्त ही रक्खा गया होगा। वहां तो कृष्ण साधारण रूप से बली और पराक्रमी होते हुए भी प्रख्यात थे केवल नन्द और यशोदा के पोष्य पुत्र के रूप में। राधा उनपर रीझी हुई थीं और व्रज में ऐसा था ही कौन नर या नारी, जो उन पर रीझा न रहा हो। किन्तु यह रीझ या खीझ व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित होती है। समाज की रूढ़ियां और परम्पराएं व्यक्तिगत भावनाओं का बहुत मूल्य न कभी आंकती थीं और न आज आंकती हैं।

हो सकता है यही कारण माना जाय जीवन में प्रतिदिन घटनेवाली अगणित दुखद घटनाओं का। किन्तु समाज इनका लेखा-जोखा नहीं लेता। राजा वृषभानु की पुत्री साधारण कुल के व्यक्ति के साथ विवाह बन्धन में बांधी ही कैसे जा सकती थीं। उस समय का साधारण जीवन बहुत से रूपों में सुख, समृद्धि और शान्ति का रहा होगा। इसका रहस्य यही हो सकता है कि उस समय का मनुष्य अपनी प्रकृति में सरल और सहज विश्वासी रहा होगा। यदि आज की सी कुटिलता का प्राधान्य जीवन में होता तो सुख और शान्ति के दर्शन दुर्लभ हो जाते। ऐसा व्यक्ति जो सरलता और विश्वास का पुतला हो अनायास ही प्रचलित परम्पराओं में दृढ़ आस्था रखनेवाला होता है; भले ही आज का मानव उसे रूढ़िवादी कहे। यह सरलता और विश्वास राजा और रंक दोनों ही में समान रूप से रहे होंगे। इसका एक और प्रबल प्रमाण है। विविध कारणों से कन्याओं का अपहरण करके विवाह करने की प्रथा उस समय थी अवश्य क्योंकि इसके उदाहरणों से उस समय का इतिहास भरा पड़ा है। लेकिन जरा बारीकी से देखने से ज्ञात हो जायगा कि इस प्रकार के अपहरणों के पीछे लम्पटता की भावना नहीं थी वरन शौर्य्य-प्रदर्शन और विशुद्ध प्रणय-रक्षा ही इसका कारण मिलता है। लेकिन अपहरणों की अगणित प्राप्त कथाओं से भी सामाजिक मर्यादा की रक्षा अनिवार्य रूप से अपेक्षित थी। अपहरणों के उदाहरण राजों और राजकुमारों के द्वारा की गयी राजकुमारियों के ही प्राप्त हैं। हो सकता है यह प्रथा इतर जनों में भी प्रचलित रही हो किन्तु यह विशेष रूप से देखा जाता है कि किसी राजकुमारी का अपहरण किसी राजकुमार या राजा को छोड़कर किसी साधारण जन द्वारा शायद कभी नहीं किया गया। सम्भवतः प्रबल परम्पराओं की मान्यता ने ही जहां कृष्ण से रुक्मिणी हरण करवा डाला, वहीं राधिका-हरण सम्भव न हो सका।

यहीं एक और नया प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि राजपुत्र घोषित हो जाने के बाद उन्होंने राधा से विवाह वैधरूप से या हरण करके ही क्यों नहीं किया और यहां शायद एक बार फिर रुक्मिणिहरण के प्रसंग की याद दिलाई जा सकती है। किन्तु देखना होगा कि रुक्मिणि-हरण कृष्ण ने किन परिस्थितियो में किया था। जैसा प्रसिद्ध है रूक्मिणि कृष्ण के पराक्रम और गुणों पर मुग्ध होकर अपने हृदय में उन्हें पति मान चुकी थीं किन्तु उनके भाई रुक्म हठपूर्वक उनका विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहते थे। रुक्मिणि के पवित्र संकल्प के सन्देश को सुनकर प्रणय रक्षा के निमित्त उनका हरण करने के लिए कृष्ण वाध्य हो गये थे। किन्तु राधा के प्रसंग में परिस्थिति नितान्त भिन्न थी जहां तक प्रमाण उपलब्ध हैं बृन्दावन से कृष्ण के पर्यवसान के बाद पहले तो कृष्ण बृन्दावन की ओर वापस जा ही न सके, दूसरे शायद किसी प्रमाण के आधार पर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि राधा के सामने भी किसी अन्य के साथ विवाह कर लेने का असमंजस उपस्थित हुआ हो जिसके संकट से बचने के लिये वे कृष्ण को संदेश भेजतीं। बहुत सम्भव तो यह है जो पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक भी है कि कृष्ण के सहवास से कुमारी राधा के हृदय में भक्ति की चेतना इतनी प्रौढ़ता और शायद पूर्णता को भी प्राप्त कर चुकी होगी कि सांसारिक जीवन के प्रति उनका वैराग्य अनायास सध चुका होगा। ऐसी परिस्थिति में उनके लिए वैज्ञानिक सम्बन्ध जैसा लौकिक व्यवहार अनावश्यक हो चुका था। अब उस वैराग्यपूर्ण मानसिक स्थितिको प्राप्त कर लेनेके बाद किसी भी लौकिक सम्बन्ध का उनके जीवन में मूल्य ही क्या हो सकता था। किन्तु यदि दार्शनिक पक्ष को छोड़कर विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही इस समस्या की समीक्षा की जाय तो भी समझा जा सकता है कि मानव-हृदय का यह प्रेम-बन्धन संसार के द्वारा भले ही कमजोरी कहकर पुकारा जाय—इतना प्रबल और

हठी होता है कि उससे जकड़ा हुआ व्यक्ति त्याग की किसी सीमा तक जा सकता है। एक राजकुमारी का आजन्म अविवाहित रह जाना असम्भव घटना नहीं।

अब यदि दार्शनिक दृष्टिकोण से भी कृष्ण भक्तिमें राधा की समीक्षा की जाय तो भी किसी विशेष उलझन के लिये स्थान नहीं रह जाता। उपर्युक्त विविध प्रसंगों में बारम्बार उल्लेख किया जा चुका है कि 'पराभक्ति' का दृढ़ आधार ईश्वरोन्मुख रति और अनुराग हुआ करता है। प्रेमके विविध रूपों में भी उसका माधुर्य-प्रधान रूप ही इस ओर की चरम-सिद्धि का श्रेष्ठ साधन माना गया है। भक्ति-मार्ग के इष्ट राम और कृष्ण दोनों ही हैं; किन्तु माधुर्य-भाव राम के चरित्र में सम्भव ही नहीं और कृष्ण के चरित्र में इसकी अभिव्यक्ति की सम्भावना असीम है। इसीलिये कृष्णोपासना और कृष्ण-भक्ति की परम साधिका होनेके नाते भक्त-जनों ने यदि राधा को माधुर्य-रस की साधना का अप्रतिम प्रतीक माना तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? पौराणिक और धार्मिक साहित्य में जहां कहीं राधा का उल्लेख है वह आदर्श भक्त के ही रूप में है और भक्त भगवान् से विलग नहीं, इसी विश्वास ने कदाचित राधा को कृष्ण का अविच्छिन्न अंग ही मान लिया। यह मान्यता नयी नहीं। यदि शिव-भक्ति—जिसके विषय में डा० भण्डारकर प्रभृति अनेक प्रसिद्ध विद्वानों का कहना है कि वह वैष्णव-भक्ति से अधिक प्राचीन है—की परम्परा का एक अध्ययन किया जाय तो दक्षिण और उत्तर भारत में प्रचलित आख्यानों में यह सूचना प्राप्त होती है कि शंकर की प्रिया कुमारिका कन्या के रूप में पहले प्रगट होकर सती और अन्त में पार्वती तक पहुंचीं और फिर तो शंकर की अर्धांगिनी ही बन गयीं, और शंकर 'अर्धनारीश्वर' कहलाए। अतः यह प्रत्यक्ष है कि राधा का कृष्ण का अविच्छिन्न अंग बन जाना परम्परागत समर्थन से रिक्त नहीं। उनके ऐतिहासिक रूपसे परिचित हो जाने के बाद अब दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्र में उनकी स्थिति और रूप का पर्यवेक्षण अधिक जटिल न होगा। हमारे देश के विविध अंचलों में क्या पहले और क्या आज विविध प्रकार की धार्मिक साधनाओं के विविध रूप देखने में

आते हैं। चरम लक्ष्य तो सबका प्रायः एक होता है और चरम सिद्धिके उप-रान्त प्राप्त फल में तो किसी प्रकार के भेद की सम्भावना ही नहीं। लेकिन फिर भी साधन पथों में भेद देखे हो जाते हैं। साधन पथ के विविध भेदों को केवल दृष्टिकोण की विभिन्नता कहकर समझ लेना गलत है। वास्तव में जीवकी संस्कार-बद्धता इन भेदों का कारण है। जीव की आन्त-रिक ईश्वरोन्मुखता उसकी सहज निश्चित एवं अनिवार्य प्रेरणा है। किन्तु संस्कार भेद के कारण प्रत्येक जीव इस ओर एक ही मार्ग से जाने में असमर्थ हुआ करता है। यद्यपि शरीर और मन के सदाचरण के द्वारा शुद्धि सभी मार्गों में एक सी ही अपेक्षित है, किन्तु इस के परे 'आत्मक्षेत्र' में प्रवेश करते ही उसके चैतन्य करने के विविध प्रयोगों में से अपने अनुकूल जीव को किसी एक का अवलम्बन करना पड़ता है और यही मूल है विविध पथों या मार्गों की पारस्परिक विभिन्नता का।

वैष्णवी-भक्ति का रूप उत्तर मध्य, पूर्व और दक्षिण भारत में अनेक प्रकारोंका रहा है। पूर्वीय अंचल में इस भक्ति को गौड़ीय वैष्णवी रूप कहा गया है। इसके अनुसार विष्णु की 'शक्ति' और उनकी 'विभूति' में अन्तर माना गया है। ईश का सत्, चित और आनन्द धर्म उनकी विभूति के रूप में स्वीकृत है और राधा 'आनन्द' की व्यक्त रूप हैं जिसे 'आल्हादिनी शक्ति' के 'विग्रह रूप' की संज्ञा दी गयी है।

मध्यदेश में वल्लभाचार्य ने तो शायद राधा के विशेष अस्तित्व को माना ही नहीं था किन्तु उनके पुत्र विट्ठलनाथ ने इसे स्वीकार करके भी राधा को 'शक्ति' की ही संज्ञा दी थी। दक्षिण के विष्णुस्वामी और निम्बार्क भी इन्हें कृष्ण की 'शक्ति' के ही रूपमें मानते थे। परम वैष्णव कृष्ण-भक्त सूरदास भी इनकी प्रतिष्ठा ब्रह्म की 'प्रकृति' या 'शक्ति' के ही रूप में कर गये हैं—

'द्वै तनु जीव एक हम तुम दोउ सुख कारण उपाजाये'

परम कृष्ण-भक्त सूर ने 'सुख कारण' कहकर स्पष्ट कर दिया है कि राधा का निमित्त ब्रह्म के 'आनन्द-धर्म' से ही है। 'सत' 'चित' और 'आनन्द' जिस क्रम से स्थापित हैं उसकी स्पष्ट व्यंजना है कि इसकी अनुभूति भक्त की या

साधक की ही, सिद्धि का चरम अभीष्ट है। अन्य मार्गों में इस अभीष्ट सिद्धि के जहां अनेक साधनों का निर्देश किया गया है वहीं भक्ति मार्ग में 'परा', 'रति' और अनुराग की साधना का निर्देश भी किया गया है। इस मार्ग से परम आनन्द की उपलब्धि या अनुभूति अपने स्वभाव से ही प्रेमाधारित होनेके कारण जिस सीमा तक माधुर्यभाव से सम्भव है, उतनी अन्य किसी से नहीं, इसीलिये इस मार्ग में माधुर्य का इतना प्राधान्य हैं। और यही रहस्य है राधा के उत्कर्ष का।

'पंचमुखी भक्ति' के सर्वांगीन विवेचन के बाद विविध कोटि के अगणित भक्तजनोंकी विविध प्रकार की साधनाओं के रूपोंका रहस्य अपने आप खुल जाता है। अब देखना होगा कि भक्त-कुल-भूषण मीरा जिनका यश और जिनकी अमर कीर्ति विश्व-विश्रुत है, जिनकी सिद्धि अनुपम और भक्तों के विस्तृत इतिहास में भी अप्रतिम और अद्वितीय है, वे अपनी सिद्धि की चरम सीमा को किस प्रकार प्राप्त कर सकीं। इनका परिचय देते हुए भक्तप्रवर श्री नाभादासजी कहते हैं—

"सहज गोपिका प्रेम प्रगटि कलजुगहिं दिखायो।
निर अंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो।

** ** **

लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी॥'

इन पंक्तियों में साधारणतया मीराबाई के जीवन सम्बन्धी, तथा उनके स्वभाव विषयक पक्ष पर ही व्यास स्तुति द्वारा प्रकाश डाला गया सा माना जाता है। किन्तु इन में यदि इतना सा ही कुछ देखकर सन्तोष कर लिया गया, तो शायद मानना पड़ेगा कि न न्याय किया गया मीरा के साथ, और न सार्थक हुई भक्त-प्रवर नाभादास जैसे भक्त-पारखी की वाणी। स्मरण रहे नाभादास ने भक्तमाल की रचना केवल भक्तों के नाम गिनाने के लिये या उनके यश कीर्तन के लिये या भक्तों के जीवन-वृत्त लिखने के लिये ही नहीं की थी।

नाभादास जी जैसे उच्चकोटि के भक्त के पास काव्य-कला-साधना या किसी के भी प्रशस्ति -गान जैसे लौकिक उपयोगिता के व्यापार के लिये समय ही कहां था? भक्तमाल के मिस वे तो भक्त नामावली की वह सिद्ध माला जपना चाहते थे, जिसकी एक एक 'मनका' या 'गुरिया' मन्त्र-पूत सिद्धि-दायक 'अमोघ कवच' सी थी। उपर्युक्त पंक्तियों में, नपे तुले शब्दों में सिद्ध-भक्त नाभा ने केवल संकेत ही नहीं, वरन् वज्रांकित कर दिया कि मीराबाई इस कलिकाल में पुराण प्रसिद्ध 'गोपिका' प्रेम को स्थापित करने के लिये अवतरित हुई थीं।

इस छप्पय की तथा मीराबाई की प्रसिद्ध भक्ति की, प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा लिखी गयी अनेक समीक्षाएं देखने में आयीं और आश्चर्य हुआ कि 'सदृश गोपिका प्रेम प्रगटि कलिजुगहिं दिखयो' का अर्थ प्रायः सभी स्थलों पर किया गया है, कि 'मीरा ने व्रज की 'गोपिकाओं' के पुराण वर्णित प्रेम लीला की ही पुनरावृत्ति की है।' दुख है, मैं अपने विविध परम पण्डित आलोचक-मित्रों से सहमत नहीं। इस पंक्ति में गोपिका शब्द प्रत्यक्ष एक वचन का प्रयोग है, बहुवचन का नहीं। इसे समूहवाचक संज्ञा समझ बैठना भ्रमात्मक है। नाभादास जैसा क़लम का धनी शब्दों के लिये मोहताज कभी नहीं हो सकता था। यह प्रयोग विशुद्ध रूप में एक वचन का है और इसके द्वारा स्पष्ट संकेत नाभादास ने उस गोपी विशेष का दिया है जिसके लिये प्रसिद्ध है, कि पति के द्वारा कृष्ण-मिलन में बाधा उपस्थित होते देख, उसने शरीर ही छोड़ दिया था। यह कौन नहीं जानता कि भक्त शिरोमणि मीरा ने भी तो रणछोड़ के सम्भावित वियोग से त्रस्त होकर वहीं अपना शरीर त्याग कर दिया था? उस गोपी विशेष को छोड़ कर अन्य गोपबालाओं के विषय में तो ऐसी कोई प्रसिद्धि नहीं है। अब यदि अन्य गोपियों के पुराण वर्णित प्रेम को लेकर ही मीरा के कृष्ण-प्रेम पर घटाया जाय, तो यहां भी स्मरण रखना होगा कि रास-लीला करते समय बीच में ही जब कृष्ण अन्तर्धान हो गये

थे और पुनर्मिलन के बाद अपने इस आचरण की जब उनसे क़ैफियत तलब की गयी थी, तो उन्होंने गोप-ललनाओं को स्पष्ट आदेश दिया था कि गोपिकाओं का आचरण आसक्तिजन्य क्रीड़ा का विशेष था, लीला का कम। अतः इस ताड़ना के द्वारा उन्हें आत्म-शुद्धि का पुनः अवसर देनेके लिये और सचेत करने के लिये ही कृष्ण ने अन्तर्ध्यान होकर शुद्ध-चेतना का संकेत किया था। किन्तु मीरा की कृष्ण-भक्ति में गाये गये उनके विविध पदों में निर्मल और परम पवित्र आकर्षणजन्य ईशानुराग के अतिरिक्त आसक्ति या वासना की झलक ही कहां देख पड़ती है। अतः इनके प्रेम की तुलना अन्य ब्रज वनिताओं के प्रेम से की ही कैसे जा सकती है?

द्वितीय पंक्ति में नाभादास जी कहते हैं—

'निर अंकुस अति निडर रसिक जस रसना गाई'

इन इने गिने शब्दों में ही भक्त-पारखी नाभा की पैनी दृष्टि ने के के किस रहस्य को नहीं देख डाला और उसकी सिद्ध बाणी ने क्या नहीं कह डाला। यदि सच कहा जाय तो इन आठ छोटे-छोटे से शब्दों में भक्त-प्रवर नाभा ने न केवल भक्ति-पथ की साधना का मूल-मन्त्र ही दे डाला हैं, वरन् मीरा की वन्दना करते हुए, भक्तों को उनके कर्त्तव्य का पूर्ण आदेश देते हुए, सिद्धि-पथ की दृढ़ता का वरदान भी दे डाला है। नाभा कहते है मीरा अपने पथ पर अग्रसर हुईं (१) पूर्ण रूपसे 'निर अंकुश' होकर (२) निडरता के साथ और (३) परम रसिक (कृष्ण) के 'जस' की रसना द्वारा रसिकता से ओत-प्रोत गान करती हुईं। भक्तिमार्ग का पथिक यदि लौकिक अंकुश से मुक्त नहीं, तो साधना क्या करेगा, खाक? निडरता उसका प्रथम स्वभाव है। यदि अपने इष्ट और अपने पथ की शुद्धता और सत्यता में उसे विश्वास है तो फिर उसे डर किसका और यदि डर है तो स्पष्ट है कि वह मार्ग का सच्चा

पथिक नहीं। तब उसकी सफलता की आशा ही क्या? 'संशयात्मा विनश्यति' का महावाक्य क्या निष्प्रयोजन ही कहा गया था? निर-अंकुशता और निडरता जन्य दृढ़ता तो रहे, किन्तु परम-रस के प्रवाह की मृदुलता के साथ। केवल दृढ़ता के अनुपात में ही नहीं, वरन उससे कहीं ज्यादा। अन्यथा दृढ़ता की यह साधना परम रस-जन्य मृदुलता से विहीन होकर या उससे अधिक प्रबल होकर रजोगुण की प्रवृत्ति को प्रश्रय दे बैठेगी, या शायद तमोगुण की विभीषिका भी उत्पन्न कर दे। किन्तु भक्त की साधना है 'सत'। रहने को तीनों ही गुण रहें और जीव के लौकिक अस्तित्व में तीनों रहेंगे भी; किन्तु उनके बावजूद भी भक्त रत होता है सतोगुण की साधना में। 'परम रसिक' के 'जस' का रसपूर्ण गान उस साधना का एक सिद्ध नुस्खा है। यही गूढ़तम रहस्य भक्त प्रवर नाभा-दास ने मीरा-यश-वर्णन के माध्यम से घोषित किये हैं। मीरा की अभीष्ट सिद्धि को लक्षित करते हुए, अन्तिम चरण में नाभा ने कहा 'लोक-लाज-कुल-शृंखला तजि मीरा गिरधर भजी'। साधारण बुद्धि इन शब्दों का जो अर्थ चाहे समझे किन्तु विवेकी जनों के लिये नाभा ने सन्देश दे डाला कि 'भव बन्धन' की शृंखला की (१) लोक और (२) लाज और (३) कुल-की तीन कड़ियां बहुत प्रबल हैं। यही साधना पथ की बहुत बड़ी बाधाएं हैं। यदि इनसे मुक्ति मिल सके तो परम मुक्ति फिर कितनी दूर है? मीरा इनसे मुक्ति पा सकी और तभी गिरधर के प्रति उनकी भक्ति अविकार सध सकी इसी पंक्ति में नाभा की प्रखर लेखनी ने अपने कौशल की सीमा पार कर दी जहां उत्कृष्ट व्यंजना से उसने दे डाला सन्देश मीरा की सिद्धि का। इस अन्तिम चरण के अन्त में नाभा कहते हैं 'मीरा गिरिधर भजी' सम्भव है समीक्षक जन इन तीन शब्दों में पढ़ते होंगे यह अर्थ कि नाभा ने मीराबाई के गिरिधर-भजन की सूचना दी है। और उन्हें जिज्ञासा रहती होगी जानने की, कि आखिर अन्त में

उन्हें मिला क्या ? इस जिज्ञासा का लौकिक दृष्टिकोण स्पष्ट है, किन्तु वे शायद समझ नहीं सकते कि इन शब्दों में मीरा ने क्या किया, की सूचना नहीं है, वरन् इसमें घोषणा है कि मीरा ने क्या पाया ? शायद एक बार फिर दुहराना पड़ेगा तुलसी का प्रसिद्ध वाक्य कि 'जन्म जन्म रति राम पद यह बरदान न 'आन'। मीरा भी भक्त तो निस्संदेह थी ही फिर वे 'गिरिधर भजन' के साफल्य के अतिरिक्त और वरदान चाहतीं भी क्या ? नाभा ने सिद्धि के रहस्य का उद्घाटन भी कर डाला, कि मीरा सिद्ध तभी हो सकीं, जब 'शृंखला' मुक्त हो चुकी थीं। उनकी आन्तरिक दृढ़ता ने सम्भावित विविध बन्धनों की मजबूत से मजबूत कड़ियों को भी छिन्न-भिन्न कर डाला था। मीरा ने अपने इस प्रयोग में 'रज' और शायद 'तम' के भी अन्तरभूत बलों को परम रसिक के 'जस' के रसयुक्त गान की प्रणाली से परम 'सत' की मृदुल लहरों में विकसित कर दिया था। और तभी गिरिधर का भजन निर्विघ्न सध सका था। यही थी भक्त की चिर अभिलाषा और यही था उसका वरदान।

अब यहीं प्रश्न अपने आप उपस्थित हो जाता है कि कृष्ण भक्ति की परम्परागत अविकल विविधता जो उनके बालकृष्ण के रूप से लेकर अलौकिक विभूतियों से युक्त विविध वैष्णव पन्थों में विविध कोटि के भक्तों के सामने युगों से उपस्थित हो चुकी थी, उसमें से मीरा के इस कृष्ण का कौन सा रूप था। 'पंचमुखी भक्ति' का सिद्धान्त स्थिर करता है कि भक्त अपनी भावना के अनुकूल अपने इष्ट का रूप अपने लिये स्वयं स्थापित कर लेता है और तभी उसके प्रति उसकी एकान्तिक भक्ति की साधना होती है। भक्ति परम्परा में माधुर्य भक्ति की प्रधानता क्यों और कैसे मानी गयी इसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। इसी की प्रतिष्ठा के निमित्त वैष्णव सम्प्रदाय का परम प्रसिद्ध और पुनीत भागवत् पुराण भक्तों के सामने आदर्श रूप में उपस्थित किया गया था। इसकी असीम लोकप्रियता

ने वैष्णवी भक्ति के सन्देश को असीम लोकप्रियता प्रदान की थी। इसके द्वारा कितने अगणित जनों का कल्याण हुआ होगा यह कौन कह सकता है? कितने आध्यात्म तत्व के जिज्ञासुओं की तृष्णा तृप्त हुई होगी इसकी गणना असम्भव है। जहाँ कोटि कोटि जनों की सात्विक चेतना को भागवत-पुराण के द्वारा 'सत्पथ' के प्रदर्शन का संकेत मिला था, वहीं मनुष्य की नैसर्गिक निम्नगामिनी प्रवृत्ति भी इसमें अपने लिये गुंजाइश पा गयी थी। मध्ययुग में सामाजिक अव्यवस्था के कारण कुछ ऐसी परिस्थित उत्पन्न हो गयी थी कि जिस उन्नत आचरण की दृढ़ता के बन्धन अनायास ढीले पड़ते जा रहे थे। मनुष्य के चारित्रिक बल का स्तर ऊपर उठने के बदले नीचे ही खिसकता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में भागवत् के द्वारा दिये गये पावन सन्देश की मन्दाकिनी में सामाजिक गन्दगी के नाले बरबस मिलते जा रहे थे और यह सब हो रहा था धर्म के नाम पर। यह विषम परिस्थिति निश्चय ही केवल धार्मिक क्षेत्र की नहीं वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को एक भयंकर व्याधि थी। इसका अविलम्ब उपचार किसी धन्वतरि की अपेक्षा कर रहा था। इसी समय वल्लभाचार्य ने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया। वे केवल दार्शनिक ही नहीं थे वरन् मानवता के एक प्रहरी भी थे। समझने में देर न लगी कि दुर्बल चरित्रवाले व्यक्ति को केवल दार्शनिक उपदेशों से ही ऊपर नहीं उठाया जा सकता। परमार्थ के मार्ग में सदाचार और चारित्रिक बल की पृष्टभूमि अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इस महारोग का निदान करने में अग्रसर होते ही उन्हें देखने में देर न लगी कि इस रोगने अपनी जड़ पकड़ी है और भक्ति के माधुर्य प्रधान उपदेश के विकृत रूप के आधार पर। अतः उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि कृष्ण भक्ति का प्रचार करते हुए भी वे जनता के इष्ट कृष्ण के ऐसे रूप की स्थापना करें जिसमें किसी प्रकार की कलुषित भावना को जड़ पकड़ने का अवसर ही न मिले। यही रहस्य था, उनके बालकृष्ण के रूप के निदर्शन का। वल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण की उपासना का ही इष्ट है। इसी रूप के द्वारा उन्होंने मनुष्य के हृदय में वात्सल्य-प्रेम की स्फूर्ति

भरने की चेष्टा की थी। कृष्ण के चरित्र के श्रृंगार पक्ष को भी उन्होंने बाल-लीला का रूप देकर सात्विक रङ्ग में रङ्ग डाला था और उन्हें सहारा भी मिल गया था भागवत पुराण के ही वाक्य में जिसने ईश लाला की मर्यादा को घोषित किया था यह कहकर कि श्रृंगारिक अवसरों पर भी कृष्ण का आचरण लीला-युक्त ही था।

'रमे रमेशा वृजसुन्दरी भिर्यथार्भकः स्वप्रति विम्बविभ्रमः'।

पुष्टि मार्ग की यह नव चेतना निस्सन्देह ही बड़ी मोहक थी और धर्म के आवरण में फैली हुई वासना का मूलोच्छेद कर डालने में वल्लभाचार्य का यह नुस्खा बड़ा कारगर हुआ। इसने वात्सल्य रसमयी भक्ति की धारा को इस वेगसे प्रवाहित किया कि उत्तर भारत का विस्तृत वैष्णव सम्प्रदाय गोप सखाओं और गोप सखियों की बाल्यभाव की क्रीड़ा से ओत-प्रोत हो गया। यद्यपि परमआनन्द की साधिका—माधुर्यभक्ति—इसके द्वारा कुछ मन्द अवश्य पड़ गयी परन्तु भक्ति की परम साधना की यह थोड़ी सी न्यूनता धार्मिक सदाचार के कलुष नाश की दृष्टि से अधिक खटकनेवाली नहीं थी। यह समय रोगग्रस्त समाज के उपचार का था इसलिये कुछ कालतक माधुर्य-भाव की अपेक्षित गौणता सहन कर ली गयी। किन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। प्रत्यक्ष प्रमाण इसका यही है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में हो दीक्षित और उसके दृढ़ समर्थक स्वयं सूर और नन्ददास वल्लभ द्वारा वर्जित राधा से अधिक कालतक विरक्त न रह सके और उनकी रसमयी वाणी ने राधा के सरल गीत गाये थे। इसे सम्प्रदाय-मर्यादा की उपेक्षा नहीं कहा जा सकता। माधुर्य-भाव की चेतना मानव-हृदय की तो अनिवार्य सहज प्रवृत्ति है ही किन्तु भक्ति-मार्ग के पथिक के लिये भी एक सीमा तक पहुंच जाने के बाद वह बरबस अनिवार्य हो जाती है। अपने पथ की अग्रगति ही तो भक्त का जीवन है। परम आनन्द की अनुभूति की उसकी पिपासा भी अनिवार्य है, वही उसका चरम लक्ष्य भी है। निश्चित उद्देश्य के साथ चलने वाले किसी पथिक से जिस प्रकार यह आशा नहीं की जा सकती कि वह मार्ग के किसी पड़ाव पर ही पड़ा रह कर उसे अपना गन्तव्य स्थान समझ

लेगा; उसी प्रकार भक्ति-मार्ग के किसी सच्चे पथिक से भी यह आशा करना व्यर्थ है कि वह परमानन्द अनुभूति के अपने चरम लक्ष्य से विचलित होकर रास्ते में ही कहीं अनन्तकाल तक रह जानेकी सोच सकता है।

इतिहास-सिद्ध मीरा का जीवन-वृत्त प्रत्यक्ष कर देता है कि प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल की कन्या होते हुए भी पितृकुल में ही उन्हें कृष्ण-भक्तिकी दीक्षा मिल चुकी थी। उनके पितामह राव दूदा जी प्रसिद्ध वैष्णव कवि थे। उनकी माता भी वैष्णव भक्तों के कुल से ही आयी थीं। उनके कुटुम्ब का वातावरण कृष्ण, भक्ति से ओत-प्रोत था। अपने शैशवकाल में वे कृष्ण की भक्ति से रंग चुकी थीं और फिर जैसा बारम्बार उन्होंने स्वयं कहा है।

'म्हारो जणम जणम रो साथी'

या उनके पदों में निरन्तर टेर सुनी जाती है।

'म्हारी प्रीत पुराणी', जणम जणम री क्वाँरी'। इत्यादि

उपर्युक्त उल्लेख निस्सन्देह सिद्ध कर देते हैं कि उनकी कृष्णा रति केवल कुल परम्परा अथवा वहां के वैष्णवीय वातावरण से ही जगी थी वरन वह थी जन्म-जन्मान्तर की संस्कारगत कृष्ण-भक्ति की लगन। भले ही विविध आलोचक मनमानी खींचतान करके उनका नाता निर्गुण पन्थ से, राम से, रमैया से या कृष्ण के ही बाल रूप से जोड़ने की चेष्टा करें किन्तु उनके अमर पदों में उनकी घोषणा पग-पग पर फूटी पड़ती है कि उनके इष्ट थे कृष्ण और नट नागर कृष्ण।

इनकी भक्ति की एक और अपनी विशेषता थी जो इन्हें अन्य अगणित प्रसिद्ध भक्तों की कोटि से बिलकुल भिन्न कर देती है। अन्य भक्तजनों की साधना का इतिहास बताता है कि अपनी प्राप्त सिद्धि तक पहुंचने के लिये प्रायः सभी ने 'श्रवण' कीर्तन' इत्यादि भक्ति साधना के नौ सोपानों पर चढ़ना पहली सीढ़ी से ही प्रारम्भ किया था। इतर भक्तों को यदि छोड़ भी दें तो सूर और तुलसी जैसे भक्तों की कृतियों में भी हमें यही मिलता है कि 'आत्म निवेदन' के अन्तिम सोपान तक पहुंचने के

पहले उन्होंने अन्य सोपानों की साधना की थी। प्रायः सभी की कृतियों में उनके इष्ट की विविध लीलाओंका विस्तृत वर्णन मिलता है और उन्हीं स्थलों में बीच बीच में उनकी भक्तिरस पूर्ण तन्मयता की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। किन्तु मीरा बाई द्वारा गाये गये जो कुछ आधार युक्त पद प्राप्त होते हैं उनका अवलोकन स्पष्ट सिद्ध करता है कि शायद जन्म जन्मान्तर की साधना के कारण अपने इस रूप में उन्हें भक्ति के प्रथम आठ सोपानों की साधना की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। आदि से अन्त तक उनका एक एक शब्द असीम आत्म निवेदन की छाप से विभूषित है। यद्यपि यत्र तत्र उन पदों में 'अजामेल' 'गणका' 'गजराज' 'प्रहल्लाद' इत्यादि प्रसाद-प्राप्त भक्तों की सूचनाएं अवश्य मिलती हैं किन्तु लीला-कीर्तन के रूप में नहीं। प्रायः हर स्थल पर इन सूचनाओं से मीरा का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वे अपने इष्ट को उसकी 'पैज' का स्मरण दिला कर उसकी दयार्द्रता को प्रेरित करें। अन्य प्रसिद्ध भक्तों द्वारा वर्णित विविध लीलाओं के निमित्त में और इनके निमित्त में मूल अन्तर है। भक्ति के आत्मसंवेद्य (subjective) और परसंवेद्य (objective) तत्व का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। प्रायः प्रत्येक भक्त अपने पथ में आत्म-निवेदन के सोपान तक पहुंचने के पहले परसंवेद्य (objective) दृष्टिकोण को लेकर ही अग्रसर हुआ है। केवल अन्तिम सोपान—'आत्म-निवेदन' को छूकर ही उसकी स्वसंवेद्य प्रवृत्ति सामने आ सकी है। किन्तु मीरा की भक्ति आदि से अन्त तक निर्मल स्वसंवेद्य की प्रवृत्ति से ही युक्त है।

कुछ आलोचक इसे मानते हुये भी इसकी कैफियत इस तरह देते हैं कि इस ओर उनकी नारी योनि उनकी सहायक हुई। यह धारणा बहुत अंशों में मान्य नहीं ठहरती, क्योंकि प्रसिद्ध 'भक्त-नामावली' में भक्ति-पथ की अनुगामिनी नारी केवल मीरा ही नहीं थी। 'सहजो', 'दया', 'जना' और न जाने कितने अनेक नाम स्त्री-भक्तों के प्रसिद्धि पा चुके हैं। उनकी विविध कृतियां भी सामने आ चुकी हैं किन्तु नितान्त स्वसंवेद्यता के दर्शन तो उनमें नहीं मिलते। कारण स्पष्ट है कि मीरा बाई की भक्ति संस्कार-

जन्य युग-युगान्तर की थी। डाकोर की प्रति में जो निम्नलिखित पद प्राप्त हुआ है—

'कांई म्हारो जणम बारम्बार।
पुरबलां कांई पुन्न खूट्यां मानसा अवतार।'

(यह पद अन्य संकलनों में भी अपने अनेक विकृत रूपों में मिलता है) स्वयं उलझी हुई समस्या का हल प्रस्तुत कर देता है। इसी पद के उत्तरार्द्ध में (जिसके विषय में मेरा व्यक्तिगत अनुमान है कि पूर्वार्द्ध में किये गये मीरा के प्रश्न का उनकी सखी या सहचरी ललिता ने उत्तर दिया है) पंक्ति है 'रास पूणो जणमियां माइ राधिका अवतार'। इसका आशय स्पष्ट है कि मीरा प्रस्तुत रूप में राधिका का अवतार थीं। अनेक आलोचकों ने भी इनके किसी न किसी विभूति के अवतार होने की बात लिखी है। सुनने में इस जमाने के किसी व्यक्ति को शायद इसमें सन्निहित अलौकिकता का आभास कुछ खटके। इसकी विवेचना यहाँ अभीष्ट नहीं। हाँ, इतना कहना असंगत न होगा कि इस प्रकार की मान्यताएँ भारतीय साहित्य में नवीन नहीं। स्वयं नाभादास ने तुलसी को वाल्मीकि का अवतार कहा है। लौकिक और अलौकिक तत्व के विवाद में न पड़कर ही यदि आधुनिकतम तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मीरा की दृढ़ और अडिग भक्ति की समीक्षा की जाय तो भी उनकी असाधारणता पूछ ही बैठेगी कि उस अप्रतिम साधना की सिद्धि का आखिर क्या रहस्य था? और आज के वैज्ञानिक-युग की दुहाई देनेवाले को या तो रह जाना पड़ेगा मौन, या उसे शरण लेनी पड़ेगी प्रबल संस्कारों के सिद्धान्त की। इन्ही दृढ़ संस्कार संयुक्त असाधारण व्यक्तित्वधारी विभूतियों को अवतार की संज्ञा दी जाती है।

उनकी उक्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन एक और प्रश्न उपस्थित कर देता है कि आदि से अन्त तक उनका एक-एक शब्द विरह-जन्य वेदना का चीत्कार है। आखिर वह कौनसी अन्तरपीड़ा थी जो इन्हें इतना

बेचैन किये हुए थी ? उन्हें कवि कोटि में रखने वाला कोई आलोचक शायद यह कहते न हिचकेगा कि उनका यह विरहोन्माद कवियोचित विप्रलब्ध-श्रृङ्गार वर्णन की परम्परा का रसयुक्त निर्वाह है और अपने समर्थन में शायद वह उल्लेख कर बैठेगा—

'बरसां री बदरियां सावण री
सावण री मण भावण री
सावणमां उमंग्यां म्हारो मण री
भणक सुण्या हरि आवण री'

या गाने लगेगा झूम-झूम कर—

'होड़ी पिया विण म्हारो णा भावां
घर आंगणां णा सुहावां
दीपां जोवां चोक पुरावां
हे ली पिया परदेस सजावां
सुणी सेजां व्याड़ बुझावां
जागां रैण बितावां
नींद णैण णा आवां।

अथवा शायद अधिक आगे बढ़कर मीरा के पीछे पीछे ज्योतिषी के घर तक चला जाय और मीरा के द्वारा शुभ सन्देश सुनाने के लिये ज्योतिषी को जो बधाई मिली थी उसका उल्लेख करता हुआ कह डाले।

'जोसीड़ा ने लाख बधायां रे आस्या म्हारो स्याम'।

किन्तु काव कोटि के कलाकारों ने जिस किसी साहित्य में इस प्रकार के विप्रलब्ध श्रृंगार के वर्णन किये हैं वहां उनका काव्य चमत्कार—जो उनकी साधना थी—उत्कर्ष पर पहुंच सका केवल दो माध्यमों से—(१) या तो प्रीतम से मिलन हो गया और विरह का अन्त, और मिलन की सुखद घड़ियों का चित्रण, प्रेमी और प्रेमिका के मानसिक सुख का मार्मिक वर्णन कवि की कला को ऊपर उठा सका

या (२) विरह की पीड़ा प्रीतम के मिलनाभाव से और भी अधिक उभड़ उठी और अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर या तो उसने विरहिणी के प्राण ही ले डाले या उसका कातर उपालम्भ रसिक काव्य प्रेमियों के हृदय को झकझोर कर चला गया। इन दोनों ही परिस्थितियों के सफल चित्रण में कुशल कवि अपने काव्य कौशल का प्रदर्शन कर सका। किन्तु मीरा के पदों में किस आलोचक ने, कहां ऐसा कुछ देखा? सावन आया, मीरा ने श्याम आगमन की 'भणक' अवश्य सुनी, किन्तु श्याम तो न आये। लेकिन फिर भी, मीरा ने क्या कहा—

'बीजां बूंदा मेहां वरसां सीतड़ पवण सुहावण री।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेड़ा मंगड़ गावण री।

यहां उपालम्भ कहां, निराशा कहां, म्लानतायुक्त पीड़ा ही कहां? मीरा ने कह डाला स्पष्ट शब्दों में कि यह सावन की सुखद घड़ी अपनी पूर्ण माधुरी के साथ आई और श्याम के आगमन का अर्थात उनकी सन्निकटता प्रत्यक्ष आभास भी लेकर आई। अतः यह शुभ घड़ी तो गिरधर के सहवास जन्य सुख के गीत गाने की और भी अधिक प्रेरणा देने वाली है। मीरा उसका स्वागत करती हैं। होली ही के अवसर पर श्याम की अनुपस्थिति खली और बुरी तरह खली। उसने मीरा से कहला डाला—

'सुणी सेजां ब्याड़ बुझावां जागां रैण बितावां
नीद णैणा णाहीं आवां।'

यह सब कुछ सही, श्याम तो नहीं आये लेकिन यहां भी उपालम्भ कहां, निराशा कहां? कहती हैं—

'देख्या णा कांई परम सणेही म्हारो सन्देसा लावां
वां बिरयां कब होसी म्हांकूँ हंस पिय कंठ लगावां।
मीरां मिड़ होड़ी गावां।'

यहां भी निराशा नहीं चिर-प्रतीक्षा है। और उस शुभ घड़ी की पूर्ण आशा है कि मीरा श्याम के साथ मिलकर होली गायेंगी।

ज्योतिषी ने भविष्य वाणी की कि प्रियतम आ रहे हैं। प्रेयसी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा यह सोचकर कि 'म्हारे आणंद उंमगि भयांरी जीव लह्यां शुखधाम। बिसर जवां दुख निरखां पियांरी सुफड़ मणोरथ काम।' और इसी उत्साह में ज्योतिषी लाख लाख बधाइयां पाकर पुरस्कृत हो गया; लेकिन श्याम तो नहीं आये। तो क्या मीरा ने ज्योतिषी से उसकी मिथ्या भविष्य वाणी के लिये कभी कोई शिकायत की? उन्होंने तो केवल यही कहा 'मीरा रे सुख सागर श्वामी भवण पधारयो स्याम'। केवल आग्रहपूर्ण अपने श्याम से अनुरोध ही है कि अवश्य आवें।

इतर काव्य साधकों के द्वारा—क्या देशी और क्या विदेशी जितनी विरह वेदना चित्रित की गयी है क्या कहीं एक रत्ती भर भी वह मीरा के पदों में ओत-प्रोत वेदना की पीड़ा से बढ़ी हुई देख पड़ती है? किन्तु कवियों द्वारा चित्रित विरहिणियों की मर्म-स्पर्शिणी वेदना का चरम अवसान देख पड़ा केवल उनके उपालम्भ-जन्य चीत्कारों में। यहां मीरा में वेदना की परम असीमता भी डिगा न सकी चिर-विरहिणी मीरा के आत्म-विश्वास को। जहां संसार के साहित्य की कवि-चित्रित प्रसिद्ध विरहिणियां विलीन हो गयीं आर्तनाद में, वहीं मीरा के असीम और अपरिमेय विरह ने उसे कठोर तपजन्य वरदान के स्वरूप में प्राप्त करा दिया इष्ट का वह चिर-संयोग जो साधना रही है विश्व के बड़े से बड़े तपस्वियों और योगियों की। यही मूल भेद है कवि-कौशल के लौकिक प्रेम चित्रण का और भक्तिरस की पुनीत मन्दाकिनी में प्रवाहित होनेवाली 'ईश परानुरक्ति' जन्य भक्त हृदय में उमड़नेवाले विशुद्ध माधुर्य रस का।

काव्य मर्मज्ञों की समीक्षा तो हो चुकी। किन्तु भक्त तो शायद नहीं, हां भक्तिपथ के सिद्ध आलोचकों की एक दुखद समीक्षा

अभी बाकी है केवल हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं वरन् बंगला, गुजराती और मराठी साहित्य के भी पन्ने के पन्ने इन भक्ति समीक्षकों की लेखनी ने रंग डाले हैं। क्योंकि राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रवाह केवल हिन्दी के ही क्षेत्र को आप्लावित नहीं करता वरन् वह तो उत्तर से दक्षिण तक अपार सागर की तरह उमड़ता रहा है। दक्षिण में भक्ति समीक्षकों ने क्या कहा इसका पता नहीं इस लिये वहां की चर्चा न करना ही ठीक होगा। हां, उत्तर की भाषाओं में जो कुछ कहा गया वह जरूर देखने में आया और उसे भरसक समझाने की चेष्टा भी की गयी। राधा और कृष्ण की प्रसिद्ध प्रेम लीला में समय समय पर इन भक्ति-समीक्षकों ने तरह-तरह के दार्शनिक और अति-दार्शनिक अर्थ देखे। बंगाल में दृष्टिकोण 'शक्ति-प्रधान' होने के कारण वैष्णवीय क्षेत्र में राधा को अधिक महत्व भी दे डाला गया। मध्यभारत में भी कुछ ऐसे ही महत्व भावना की प्रेरणा से राधा-वल्लभी सम्प्रदाय भी स्थापित हो गया। किन्तु इन सारी भक्तिपूर्ण भावनाओं के पीछे भी एक विशेष प्रवृत्ति प्राचीन समय से अब तक काम करती रही और इस प्रवृत्ति ने अनावश्यक ढङ्ग से एक निरर्थक सी समस्या भी उपस्थित कर दी। पहले उल्लेख किया जा चुका है राधा के सम्बन्ध में कि वे आजीवन अविवाहिता ही रहीं। यथाशक्ति इस प्रश्न का विवेचन भी वहीं किया जा चुका है। इसी उनकी अविवाहित स्थिति को लेकर भक्ति पथ में 'स्वकीयत्व' और 'परकीयत्व' की प्रेममय भक्ति की कोटि स्थापित कर डाली गयी। क्या उत्तर में और क्या पूर्व में बंगाल तो यहां तक बढ़ गया कि इसी अनावश्यक भ्रम-भावना में कई शताब्दी पूर्व 'सहजिया सम्प्रदाय' मान बैठा। वह शायद आज तक प्रतिष्ठित रूप से माना ही जाता है और इसके सांचे में ढलकर न जाने कितनी राधिकाएं संसार के रंगमंच पर आकर चली गयीं और न जाने अभी कितनी और ढलेंगी। इसी भ्रमात्मक भावना

से प्रेरित होकर भक्ति के समीक्षकों ने बारम्बार मीरा की माधुर्य-प्रधान भक्ति में 'परकीयत्व' के कलंक को इन्दु-सुषमा मानकर पूजने और पुजवाने की चेष्टा की।

यह ठीक है कि माधुर्य-भक्ति की राधा प्रतीक थीं; वे अविवाहिता भी थीं। उन्हीं के सदृश मीरा ने भी न जाने कितने स्थलों पर अपनी प्रीति की दृढ़ता को स्पष्ट करते हुए 'जणम जणम री क्वांरी' की घोषणा की है। देखना होगा कि राधिका पर परकीयत्व के आरोप की सार्थकता क्या है? 'स्वकीया' और 'परकीया' शब्द अपने अभिधामूलक अर्थ में स्पष्ट व्यक्त करते हैं कि वह नारी जिसका प्रेम-बन्धन अक्षुण्ण रूप से अपने इष्ट के लिये हो वही 'स्वकीया' है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि इस प्रकार के प्रेम की अक्षुण्णता केवल एक के लिये होने की अनिवार्य पाबंदी है। इसी प्रकार अभिधामूलक अर्थ में ही परकीया शब्द अभिव्यंजित करता है—स्वकीया के विपरीत—कि यह प्रेम अपनी अक्षुण्णता को खो चुका। शायद पहले किसी और के लिये था, बाद किसी कारण-विशेष से वह प्रेम दूसरी ओर मुड़ गया। यही उसकी अवैधता है। स्वकीया और परकीया का भेद 'लौकिक' वैवाहिक बन्धन के आधार पर भक्ति से अलौकिक क्षेत्र में आरोपित करना न केवल भक्ति-पथ की अपेक्षित सहज पावनता को ही दूषित करना है वरन् यह भ्रामक दृष्टिकोण लौकिक परम्परा की गुलामी में जकड़े हुए दुर्बल मन की अक्षम्य कुचेष्टा है। यदि उपर्युक्त अभिधामूलक अर्थ गलत नहीं और जब तक यह न सिद्ध कर दिया जाय कि राधा का प्रेम कृष्ण को छोड़ कर और भी कभी किसी के लिये हुआ था—पहले या बाद—या वे किसी भी अर्थ में किसी दूसरे की हुई या कहलायीं तब तक उनके जाह्नवी जल के समान पवित्र प्रेम में 'परकीयत्व' का कलुष देखना क्या अर्थ रखता है?

इसी आधार पर पूछना होगा, मीरा के प्रेम के उस पटु पारखी समुदाय से जो अपनी गुमराहियत में मीरा के पावन प्रेम प्रवाह में 'परकीयत्व' का कलंक लगा कर उसे आँखों के काजल की तरह सुन्दर देखना चाहते हैं

और उसकी प्रशंसा के गीत भी गाना चाहते हैं। मध्यकाल की जटिल सामाजिक परिस्थिति और विवेकशून्य लौकिकता की प्रधानता ने बरबस मीरा को उदयपूर के राणा के साथ विवाह-बन्धन में बाँध तो अवश्य दिया। किन्तु क्या यह लौकिक परम्परा अपनी प्रबलतम विभीषिकापूर्ण सामर्थ्य के बावजूद भी उस राणा विशेष के साथ मीरा के मन को भी बाँध सकी? सहज सुकुमार वह नारी अपनी सच्ची प्रीति के पौधे को हृदय में लिये हुए विश्व-विख्यात सिसौदिया-कुल की प्रखर तलवार और भयंकर हसोड़ समाज को चुनौती देकर चली गयी। और लौकिक बन्धनों की निस्सारता अपना ही उपहास कराती रह गयी। वासनापूर्ण लौकिक आसक्ति—जिसे लोग भ्रमवश प्रेम का पवित्र नाम दे दिया करते हैं, वह जरूर लोकापवाद और प्राण संकट के भयके सामने कातर हो जाता है। किन्तु अपने इष्ट की 'परानुरक्ति' वाला प्रेम तो भक्त को वह अमोघ शक्ति दे देता है कि जिसके सामने क्षुद्र लौकिक जीवों की तो बात ही क्या स्वयं ईश्वर का आसन डिग जाता है।

प्रसिद्ध है कि मीरा की भक्ति कान्त या मधुर भाव की थी। किन्तु,

> 'मण रे परसि हरि रे चरण।
> सुभग सीतड़ कवंड़ कोवंड़ त्रिविध ज्वाड़ा हरण।
> ... ...
> दासी मीरां ड़ाड़ गिरधर अगम तारण तरण।

या,—

> 'भज मण चरण कंवड़ अविणाशी
> ... ...

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर'—इत्यादि पदों का अवलोकन करने के पश्चात् कुछ आश्चर्य होने लगता है कि उपर्युक्त भावना

दास्य प्रधान है अतः माधुर्य-रस के साथ इसकी संगति कैसी ? किन्तु इस प्रकार का असमंजस भी निराधार है।

भक्ति के विविध अंग और उपांगों के विस्तृत विवेचन में पहले लिखा जाचुका है कि भक्ति की साधना में माधुर्य का प्राधान्य इसलिये माना गया है कि केवल इसीके द्वारा 'परम आनन्दतत्व' की उपलब्धि तथा अनुभूति होती है। क्योंकि माधुर्य की भावना में अनायास ही दास्य, सख्य और वात्सल्य की भावनाएं सन्निविष्ट रहती हैं। किन्तु दास्य, सख्य या वात्सल्य में माधुर्य का सन्निवेश सम्भव नहीं। भक्ति की साधना के इस परम तत्त्व का राज़ जिस खूबी के साथ मीरा के पदों में दृष्टिगोचर होता है उतना कदाचित अन्यत्र नहीं। इसी की साधना के निमित्त मीरा के इष्टदेव थे कृष्ण और नटनागर कृष्ण—उनका अन्य कोई रूप नहीं—

"णिपट बंकट छब अटके म्हारे णैणा।
देख्यां रूप मदण मोहण रो पियतां पियूख ण मटके।

... ...

टेढ्या कट टेढ्हे कर मुरड़ी टेढ्यां पाग ड़ड़ ड़टके।
मीरां रे प्रभु रूप लुभाणी गिरधर णागर णटके॥"

"णैणां डौभां अटक्यां शक्याणां फिर आय।
रूम रूम णख शिख लख्यां ड़ड़क ड़ड़क अकुड़ाय।

× × × ×

भड़ो कह्यां कोई कह्या बुरो सब ड़्यां शीश चढ़ाये।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर थे बिण रह्यां णा जाय॥"

"म्हारां जणम जणम रो साथी थाणे णा बसस्यां दिणराती।
थ्यां देख्यां बिण कड़ णां पडतां जाणे म्हारी छाती।
पड़ पड़ थारां रूप निहारां णिरख णिरख मदमाती।

उपर्युक्त पदों का एक एक शब्द अविकल भाव से मीरा के उपास्य कृष्ण के नागर रूप की दुहाई देता है और सन्देह के लिये कहीं गुंजाइश नहीं रह जाती कि मीरा के इष्ट नटनागर कृष्ण को छोड़ कर और भी कोई हो सकते हैं। बालकृष्ण को न लेकर नटनागर की यह साधना इसीलिये थी कि माधुर्य-रस का परिपाक केवल इसी रूप में सम्भव हो सकता है। इसकी विशुद्ध साधना नीति कुशल सम्राट कृष्ण में भी सम्भव नहीं।

'कमड़ दड़ लोचणां थे णाथ्या काड़ भुजंग' स्पष्ट, प्रेम के सख्य-मूलक वात्सल्य की पराकाष्ठा, कर देता है। भक्तप्रवर सूर, नन्ददास और न जाने कितने प्रसिद्ध और सिद्ध कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण के चरित्र की इस घटना का वर्णन अलौकिक लीला की स्थापना के मिस किया है और सफल भी हुए हैं। किन्तु परम नैकट्य की मीरा की प्रेमानुभूति उपर्युक्त पंक्ति में मीरा के हृदय की छिपी हुई संकटापन्न व्याकुलता को प्रत्यक्ष कर डालता है। यह भावना वात्सल्यजन्य आत्मीयता की चरम सीमा की अभिव्यक्ति है।

"भुवणपति थें घर आज्यो जी
बिथा लगां तण जारां जीवण तपतां बिरह बुझाज्यो जी"

यहां 'भुवन पति' का सम्बोधन जिस समादर भाव को लेकर किया गया है वह न इष्ट की अलौकिक दैवी शक्तियों का संकेत करता है और न भक्त की साधारण 'आर्ति' को व्यक्त करता है वरन् इस प्रकार का यह सम्बोधन प्रत्यक्ष उस कोटि का है जो प्राचीन आर्य वंश परम्परा के अनुसार राजकुल की महिलाएं अपने पति के लिये किया करती थीं। यह निर्विवाद मीरा की उत्कृष्ट कोटि की दाम्पत्य भावना की अभिव्यक्ति है और 'परकीयत्व' के कलुषित दृष्टिकोण का प्रबल नकारात्मक उत्तर है।

माधुर्य-भाव की साधना में प्रेम-जन्य विविध मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का होना नैसर्गिक है। दृढ़तापूर्वक प्रेम प्रकाश, मिलन

की उत्सुकता, प्रेमी के स्वागत और आतिथ्य की तैयारी, प्रतीक्षा की कड़ी असहनीय वेदना यही तो प्रेम-क्षेत्र की क्रिया और प्रतिक्रियाएं हैं। अब यदि मीरा के प्रेम प्रकाश की दृढ़ता की जांच की जाय तो वह अतुलनीय है।

"स्याम सुंदर पर वारां जीवड़ा डारां।
थारे कारण जग जण त्यागां लोक लाज कुल डारां।
थें देख्या बिण कड़ णा पड़तां णैणा चड़ता धारां।
मीरां रे प्रभु दरसण दीस्यो थें चरणां आधारां॥"

या—

"पग बाँध घुँघरियां नाच्या री।
लोग कह्यां मीरां बावड़ी री शाशू कह्या कुड़ णाश्यां।
विषरों प्याड़ो राणां भेज्यां पीवां मीरां हाश्यां।
तण मण वार्यां हरि चरणां मा दरसण इमरत पाश्यां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थारी शरणां आश्यां॥"

संसार के साहित्य में प्रेम-चित्रण न जाने कितने किये गये होंगे। सिद्ध कलाकारों ने इस प्रकार के सजीव चित्र खींच-खींच कर न जाने कै बार अपनी तुलिका की अमरता सिद्ध कर डाली होगी किन्तु प्रेम प्रकाश की कसौटी पर बारम्बार कसी गयी मीरा की यह दृढ़ता क्या अन्यत्र भी कहीं देखने को मिलती है।

"सुण्या री म्हाणे हरि आवांगा आज।
म्हैला चढ चढ जोवां सजणी कब आवां महाराज।
दादुर मोर पपैया बोल्यां कोइड़ मधुरां साज।
उमग्या इंद चहुं दिस बरसां दामण छाड्यां ड़ाज।
धरती रूप नवां नवां धरया इंद मिलण रे काज।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर कब मिड़श्यो महाराज॥"

उपर्युक्त पंक्तियां उत्सुकता से ओत-प्रोत मीरा की आखों और अधीर मन का सजीव चित्रण है। जब से 'हरि आवांगा आज' उन्होंने सुन लिया, जहां तक उनकी दृष्टि जाती है, प्रकृति का कण-कण, उसकी प्रत्येक छटा, उसके प्रत्येक जीव मीरा के कानों में 'हरि आवांगा आज' 'हरि आवांगा आज' का सन्देश चुपचाप सुनाते से देख पड़ते हैं। 'म्हैला चढ चढ' उत्सुकता से बाट जोहती हैं। संसार के कब और किस कलाकार ने किस विरहिणी की उत्सुकता का चित्र इससे अधिक सजीव चित्रित किया है।

आज न जाने क्यों मीरा को पूर्ण विश्वास है कि उसके प्रभु 'हरि अविनाशी' अवश्य पधारेंगे उनसे मिलने, और उनके आतिथ्य की तैयारी में वह इतनी व्यस्त हैं कि समझ नहीं पातीं क्या तैयारी करें। वह, उनका प्रभु 'हरि अविनाशी' कोई लौकिक व्यक्ति तो नहीं, जिसके आतिथ्य का सामान लौकिक पदार्थों को लेकर किसी सन्तोष के साथ भी किया जा सके? वह 'हरि अविनाशी' अलौकिक पदार्थों से असम्भव हैं और प्रेयसी मीरा उसी अविनाशी की चिर सहचरी प्रकृति का ही आह्वान करती है कि वह स्वयं आकर उस अविनाशी का आतिथ्य करे। किन्तु मीरा अपने प्रेम की शक्ति को भरपूर जानती हैं उन्हें उस पर नाज़ है और गर्व भी है। वह प्रकृति की दया की भिक्षा नहीं मांगती उसे आदेश देती हैं कि वह आतिथ्य करे किन्तु उनके आदेशानुसार और उनकी रुचि के अनुसार कहती है—

"बादड़ा रे थे जड़ भरां आज्यो।
झर झर बूंदा बरसां आली कोयड़ सबद सुणाज्यो।
गाज्यां बाज्यां पवण मधुरयों अंबर बदरां छाज्यो।
सेज संवारयां पिव घर आश्यां सखियां मंगड़ गाश्यो।
मीरां रे प्रभु हरि अविनाशी भाग भड्या जिण पाश्यो।"

सिद्ध काव्य चित्रिता कितनी ही विरहणियों ने प्रियतम-मिलन

की प्रतीक्षा की घड़ियों में न जाने कितने रसीले और मधुरतम गीत गाये हैं। कितनी हृदय-ग्राहिणी मनुहारें की हैं! आतिथ्य की तैयारियां राजकुमारियों से लेकर साधारण कोटि की प्रेमिकाओं ने लौकिक और प्राकृतिक सभी प्रकार की सामग्रियों को लेकर मुग्धकारिणी कला के साथ की। ऐसे अवसरों पर प्रकृति का आह्वान केवल मीरा ने ही नहीं किया है। शकुन्तला, मिरान्डा और न जाने कितनी अन्य अमर प्रेमिकाओं ने भी किया है। विद्यापति की राधा भी इस प्रकार की तैयारी में व्यस्त देखी गयी हैं, किन्तु सभी स्थलों पर इन अमर काव्यों की प्रेमिकाएं दीनभाव से प्रकृत की भिक्षा ही मांगती हैं। प्रकृति का यह शासन और उस पर आधिपत्य मीरा की ही सामर्थ्य थी। क्यों न होती? अन्यत्र प्रेम-चित्रण लौकिकता के वातावरण का है नायक और नायिका संसार के ही स्त्री और पुरुष हैं। उनके अमर चित्रकार संसार के ही काव्य साधक हैं। उनमें वह अलौकिकता जिससे मीरा का शब्द-शब्द झंकृत है आ ही कैसे सकती थी। न मीरा इस संसार की थीं न उनका प्रेमी ही, जो उनका 'जणम जणम रो साथी' कह कर सम्बोधित किया गया है और न था उनका प्रेम ही इस लौकिक स्तर का।

प्रेम के मार्ग में विरह उसकी सच्ची कसौटी है और विरह जन्य वेदना उसका परम वरदान है यह यदि प्राप्त न हुआ तो प्रेम की वह गीत कोरी कवि-कल्पना है। साहित्य में वर्णित शायद एक भी प्रेमोपाख्यान तब तक पूर्ण न हुआ जब तक विरह और वेदना का पुट उसमें भरपूर न भरा गया। इसका चित्रण यदि इस सफलता से न हुआ कि रसिक जनों के हृदयों को मथ कर फेंक दें तो कलाकार की सिद्धि क्या। मीरा भी तो इसी मार्ग की पथिक थीं। बिना विरह और वेदना की कसौटी पर सच्ची उतरे, प्रेम के इस महायज्ञ की पूर्णाहुती ही क्या होती और कहां से आती?

म्हारा पार निकल गया तीर।
... ... ब्याकुड़ म्हारा सरीर।
चंचड़ चित्त चाड्या णा चड्या बांध्या प्रेम जंजीर।
क्या जाणां म्हारा प्रियतम प्यारो क्या जाणूं म्हां पीर।
म्हारा कांई णा बस सजणी णैण झरयां दोउ णीर।
मीरां री प्रभु थे मिड्यां बिण प्राण धरत णा धीर।
... ...
दरश बिण दूखां म्हारां णैण।
... ...
विरह बिथा क्या सूं कहियां पैठां करवत पेण।
कड़ णा पडतां मग हरि जोवां भयां छमाशी रैण।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगां दुख मेटण सुख दैण।

इन पंक्तियों में विरह की वेदना जिस सीमा तक पहुँचती है और जिस तीखेपन के साथ वह सरस हृदय को केवल मथ कर ही नहीं छोड़ती वरन बेधकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालती है। यही वेदना अपनी चरम सीमा को पहुंचकर असह्य हो उठती हैं; किन्तु इष्ट के प्रति 'परानुरक्ति' है न—इसीलिये कितनी ही पैनी क्यों न हो जाय, मर्यादा से बाहर जाने की इसकी भी सामर्थ्य नहीं

"हेरीं म्हां तो दरद दिवाणी म्हारो दरद णा जाण्या कोय।
घायड़ री गत घायड़ जाण्यां हिवडो अगण संजोय।
... ...
दरद की मारया दर दर डोड्यां बैद मिड़या णा कोय।
मीरां री प्रभु पीर मिट्यां जद बैद सांवरो होय।"

यहां विरहजन्य वेदना असीम है और असह्य भी; शायद ऐसी भी कि जिसकी अनुभूति कोई अन्य भी कर सकेगा, विरहिणी की कल्पना से बाहर है। लेकिन वह इस पीड़ा के भी हरने वाले चतुर वैद्य से परिचित है। उसे विश्वास भी है कि वह वैद्य मिलकर ही

रहेगा और पीड़ा मिटकर ही रहेगी। शेली ने saddest songs को sweetest कहा था!

भवभूति ने भी शायद् इसी आवेश में कह डाला था—"एको रसः करुण एव निमित्त भेदात" और आलोचक समुदाय को चुनौती देता हुआ भी करुण-रस की साधना में मग्न रहा। सब कुछ सही किन्तु दरद् दिवाणी के दर्द से भी बढ़कर क्या कहीं अन्यत्र वेदना की अनुभूति हुई! और इस मर्यादा के साथ, उदाहरण ढूंढ़ना कठिन हो जायगा।

यदि माधुर्य भक्ति पथ साधना की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है तो निश्चय ही इस साधना की परीक्षा भी कठोर और प्रबल होनी चाहिये। योगियों के मार्ग में भले ही ऋद्धियों और सिद्धियों के आकर्षण जन्य सुखप्रद रोड़े आते हों, किन्तु माधुर्य की कसौटी सुखद नहीं। वह तो मर्मान्तक वेदना की वह टीस होती है जिस पर खरा उतर जाना खेल नहीं। इसका दिग्दर्शन मीरा की वेदना में प्रत्यक्ष देखा जा चुका है। जिस प्रकार योगी और तपस्वी अपनी परीक्षा के क्षणों में केवल परमात्म बल से ही पार उतरते हैं उसी प्रकार भक्ति पथ का पथिक भी अपने ईश में अविकल आत्म-समर्पण करके ही कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। एक नहीं अनेक भक्तों ने इस सत्य की साख भरी है।

'म्हां तो दरद् दिवाणी' कहनेवाली मीरा भी परम भक्तिजन्य मर्मान्तक पीड़ा और वेदना की कसौटी पर अवश्य ही कसी गयी थीं। जहांतक उल्लिखित प्रमाणों का सम्बन्ध है, अन्य योगी, तपस्वी और भक्तोंने अपनी-अपनी कठिन से कठिन परीक्षा का उल्लेख केवल एक ही जन्म का किया। किन्तु बारम्बार 'जणम जणम री क्वांरी', 'म्हारो जणम जणम रो साथी', 'पुरब जणम रो कोड़' को अगणित बार दुहाई देनेवाली मीरा स्पष्ट कहती हैं कि उनकी यह परीक्षा औरों से शायद् बहुत अधिक कठिन थी क्योंकि उन्हें एकबार नहीं अनेक बार कसौटी पर कसा जाना पड़ा और खरा उतरना पड़ा। कदाचित अन्य जन्मों में तपस्या पूर्ण न हुई होगी। किन्तु निस्सन्देह मीरा के इस रूप में उनकी परीक्षा अवश्य पूर्ण हो गयी और

उनकी सिद्धि भी जो उन्हें प्राप्त हुई, इतनी कड़ी परीक्षा के बाद फिर वह थी भी, इस दर्जे की, कि जो शायद अन्य किसी भी ज्ञात-भक्त के पल्ले नहीं पड़ी। जितने भक्तों का इतिहास और जीवनवृत्त हमें प्राप्त है, किसी के विषय में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर यह माना जा सके कि मीरा को छोड़ कर अन्य किसी को भी सदेह-मुक्ति प्राप्त हुई थी। यह तो केवल मीरा का ही भाग्य था और उन्हीं की यह सिद्धि थी कि रणछोड़ के मन्दिर में अपने इष्ट की वन्दना करते हुए ही इष्ट ने उन्हें साक्षात दर्शन देकर अपना अङ्ग बना लिया था।

इस चरम सिद्धि का आखिर क्या रहस्य हो सकता है? 'आत्म-निवेदन' और 'आत्म-समर्पण' से ओत-प्रोत तुलसी और सूर के विनय क पद भरे पड़े हैं। उन्होंने क्या नहीं कह डाला, लेकिन फिर भी मीरा का आत्मसमर्पण अपना स्थान अलग रखता है।

"स्याम म्हारी बाहड़ियां जी गह्यां।
भोसागर मंझधार बूड्यां थारी सरण ड़ह्यां।
म्हारे अवगुण घार अपारां थे बिण कोण सह्यां।
मीरां रे प्रभु हरि अविणाशी ड़ाज बिरद री गह्यां॥"

"छोड़ मत जाज्यो जी महाराज।
अबड़ा म्ह बड़ थारो मुरारी थे म्हारो सिरताज।
म्हा गुणहीण गुणागर णागर थे राख्यां गजराज।
हाथ बिक्यां म्हा गिरधर सागर अरप्यां आपां आज।
मीरां रे प्रभु ओर णा कांई राख्यां अब री ड़ाज॥"

भक्त की यह आर्त-पुकार दया और अदया से युक्त मानव हृदय को तो झकझोर ही देती है फिर वह ईश जो दया-सागर प्रख्यात है और जिसमें अदया का लेश भी नहीं उसमें यह हिलोरें न उठा दे, यह कैसे सम्भव है। प्रसिद्ध है कि अपने अन्तिम क्षणों में रणछोड़ के सामने उन्होंने तीन पद गाये थे जिनमें आत्म-समर्पण और आत्म-निवेदन से ओतप्रोत यह

पहला पद था कि—

"अब तो निबाह्यां बांह गह्यां री ड़ाज।
असरण सरण कह्यां गिरधारी पतित उधारण पाज।
भोसागर मंझधार अधारां राख्यां घणों णेवाज।
जुग जुग भीर हरां भगतां री दीस्यां मोच्छ अकाज।
मीरां सरण गह्यां चरणां री ड़ाज राख्यां महाराज॥"

और इसी पद की ध्वनि से रणछोड़ के मन्दिर की ईंट-ईंट हिल गयी। भक्त-जनों का वह वृहद् समुदाय जो नित्य-प्रति प्रातःकाल मीरा के कीर्तन में सम्मिलित हुआ करता था उसने आश्चर्यभरी आँखों से देखा था कि उस दिन मूर्त्ति की सजीवता अनोखी थी। मीरा भी स्वर-लहरी में बहती हुई अचेत-सी गाती चली जाती थीं। देखते-देखते पहले मन्दिर का वातावरण कुछ श्याम हुआ, सहसा पूर्ण अन्धकार छा गया। भक्त-समुदाय कुछ भीतसा हो उठा और अन्तिम पद की केवल ध्वनि ही कर्ण-कुहरों में गूंज रही थी—

"हरि थे हरयां जण री भीर।
द्रोपदा री ड़ाज राख्यां थे बढ्यायां चीर।
भगत कारण रूप नरहरि धरयां आप सरीर।
हिरणकस्यप थे संघारयां धरयां णा हिण धीर।
बूडतां गजराज राख्यां कढ्यां कुंजर पीर।
दासि मीरां ड़ाड़ गिरधर हरां म्हारी पीर॥"

नेत्र देखने में असमर्थ थे, जब सहसा फिर प्रकाश उस मन्दिर में आलोकित हो उठा तो देखा गया मीरा का शरीर शून्य-सा पड़ा था। यही थी मीरा की साधना की चरम सिद्धि और जन्म-जन्मान्तर की उनकी कृष्ण-भक्ति की पूर्ण साधना।

मीरा की रसानुभूति

डाक्टर विपिन बिहारी त्रिवेदी एम. ए., डि. फिल.

राजस्थान की भक्त कवियित्री मीराँ के पद साकार श्रीकृष्णोपासना के प्रतीक हैं। इन्हीं पदों में कतिपय पद निराकारोपासना और योग विषयक भी हैं यथा—

(१) सुरत निरत का दि्वला संजोया मनसा की कर ली बाती।
अगम घाणि को तेल सिंचायो बाल रही दिन राती॥

(२) फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै अणहद की झूणकार रे।
बिनि सुर राग छतीसूं गावै रोम रोम रंग सार रे॥

(३) मैंने सारा जंगल ढूंढ़ा रे, जोगीड़ा न पाया।
कान बिच कुंडल, गले बिच सेली, घर घर अलख जगाया रे।
अगर चंदन की जोगी धूणी धरवाई अङ्ग बीच भभूत लगाया रे।
बाई मीरां के प्रभु गिरिधर नागर शबद का ध्यान लगाया रे॥

(४) वाको नाम सुरत की डोरी जाको प्रेम चढ़ाऊं।
प्रेम को ढोल बन्यो अति भारी मगन होय गुण गाऊं।
तन करूं ताल करूं मन मोरचंग सोती सुरत जगाऊं॥

(५) नैनन बनज बसाऊं री जो मैं साहिब पाऊं।
इन नैनन मेरा साहिब बसता डरती पलक न लाऊं री।
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहां से झांकी लगाऊं री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊं सुख की सेज बिछाऊं री।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊं री॥

इन पदों से ऐसा निष्कर्ष निकाल लेना कि मीरां योग साधिका थीं वस्तुतः अनुचित होगा। निर्गुणवादी संतों की वाणी का उनके काल में

पर्याप्त प्रभाव था और कवियित्री के सम्पर्क भी उन अनेक विचारकों से निश्चित रूप से हुए होंगे। संतों की वाणियां योग तथा निराकार वर्णन से ओत प्रोत हैं। इन वर्णनों से उनको योगी उपाधि से विभूषित करना साहस मात्र है। अपने उपदेशों को चमत्कारिक ढंग द्वारा आकर्षक बनाने के लिये ही ये संत बहुधा योगिक मुद्राओं, शरीरस्थित चक्रों, त्रिपुटी, अनाहत नाद, नाड़ियों आदि की चर्चा करते रहते थे। और उनके ऐसे उल्लेखों को चाहे वे संत सम्राट कबीर के ही क्यों न हों मौलिक कहना, पूर्वकाल से चली आती हुई और पृष्ठभूमि के रूप में वर्तमान, एक सुनिश्चित साहित्यिक परम्परा की उपेक्षा करना है।

मीराँ प्रधानतः साकारोपासक थीं, न तो वे योग साधिका थीं और न थीं निराकार उपासिका। निर्गुण उपासना और योग संबंधी शब्दावली का उनकी रचनाओं में पाया जाना लोक प्रचलित एक साहित्यिक प्रणाली का निर्वाह मात्र है।

उपर्युक्त प्रकार के पदों को यदि मीरा के ही पद मान भी लिया जाय तब भी उनकी रसानुभूति की समीक्षा के लिये उन्हें (पदों को) छोड़ ही देना पड़ेगा। क्योंकि निर्गुण भावना के ये पद या तो राम के रूप का संकेत करते हैं या इनमें प्रयोग किया गया है रमैया शब्द का—लेकिन यह राम या रमैया दशरथ सुत रघुबीर नहीं हैं। इनका रूप कबीर के राम का है और उपर्युक्त पदों में इनके साथ और जो उपादान चित्रित हैं वे सब भी निर्गुण पन्थियों द्वारा अनेक बार वर्णित उसी साधना से सम्बन्ध रखनेवाले हैं। इसकी अभिव्यक्ति के लिये न ये पद लिखे गये थे और न इनके आधार पर मीरा की रसानुभूति की समीक्षा ही की जा सकती है।

रस समीक्षा के लिये उनके ऐसे पदों को लेना होगा जो कृष्ण को सम्बोधित करके गाये गये थे। कृष्ण का रूप और उनकी लीला-माधुरी स्वभाव से ही—विविध रसों की खान है। संस्कृत साहित्य में भी कृष्ण चरित्र को लेकर न जाने कितनी अलौकिक रस की साधना कवियों ने की है। हिन्दी में भी भक्ति और रीतिकाल के साहित्य में कृष्ण चरित्र ने

स्थल-स्थल पर विविध रसों की धारा प्रवाहित कर दी है। मीरा की रसानुभूति भी कृष्ण को लेकर जितनी व्यक्त हुई है वह सर्वथा अतुलनीय है।

कृष्ण सम्बन्धी मीरा के पद प्रधान रूप से माधुर्य रस से भरे पड़े हैं। इस साधना का विस्तृत शास्त्रीय विवेचन भारतीय काव्य साहित्य की अमूल्य निधि है। इसमें रस को जितनी प्रधानता दे दी गयी है उतनी कदाचित संसार के किसी साहित्य में भी नहीं देखी जाती। प्रसिद्ध काव्यालोचक विश्वनाथ, काव्य की परिभाषा ही रस को उसका प्राण मान कर करते हैं। यथा—'वाक्यं रसात्मक काव्यं'। मम्मट और दण्डी इत्यादि भी यद्यपि अपनी अपनी काव्य परिभाषा में रस शब्द का प्रयोग नहीं करते किन्तु काव्य के रस तत्व पर ही उनका भी आधार है। इसलिये मीरा के जगत-प्रसिद्ध और घर-घर गाये जाने वाले पदों की यदि रस समीक्षा की जाय तो अप्रासङ्गिक नहीं।

मीरां की समस्त पदावली का पर्यवेक्षण कर लेने के बाद असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उनमें केवल दो ही रस प्रधान रूप से मिलते है; (१) शृंगार और (२) शान्त। अनेक स्थलों पर करुण रस की अभिव्यक्ति अत्यन्त कोमल भाव लिये हुये देख पड़ती हैं किन्तु यह वियुक्त शृंगारजन्य करुणा है। केवल दो ही एक पदों में अद्भुत रस की भी झाईं देख पड़ती हैं। वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स का इनके पदों में कोई स्थान नहीं क्योंकि इन्होंने अपने पदों को भक्ति की प्रेरणा से गाया था और शुद्ध मनोभावना के बल से। उपर्युक्त अनुपस्थित रस भक्त के जीवन में स्थान ही कहाँ होता है इसलिये उन रसों का यहां अभाव स्वाभाविक ही है।

शृंगाररस का आधार प्रणय और रति है। रसविवेचन में कहा गया है कि किसी रस की निष्पत्ति के लिये उद्दीपन सामग्री पहले अपेक्षित है उसके उपरान्त आलम्बन में विभाव और अनुभाव विविध संचारियों के माध्यम से व्यक्त होते हैं। मीरां भक्त थीं। परम रसिक कृष्ण उनके इष्टदेव थे। उन्हीं के प्रति उनकी प्रेमजन्य अनुरक्ति थी।

अतः मीरां और रसिक कृष्ण की प्रेम-लीला श्रृंगार रस की निष्पत्ति का श्रेष्ठतम माध्यम ठहरता है। वर्षा, होगी और सावन सम्बन्धी पदों को छोड़कर अन्यत्र श्रृंगार रस का परिपाक मीरा के पदों में भरपूर होते हुये भी उद्दीपन चित्रण के बिना ही है। यों तो किसी साधारण कवि के हाथों बिना उद्दीपन स्थापना के रस स्थापना किसी सिद्धि के साथ असम्भव सी होती है; किन्तु वह मीरा की ही विशेषता थी कि बिना उद्दीपन स्थापना के भी रसाभिव्यक्ति में वे पूर्ण उतरती हैं। इसका कारण यही सम्भव हो सकता है कि आदि से अन्त तक उनका कृष्ण के प्रति प्रेम अगाध और असीम होता हुआ भी वियुक्त श्रृंगार की अनुभूति है।

केवल श्रावण, वर्षा और होली के अवसरों पर उद्दीपन के माध्यम से उनका चित्रण किया गया है। मनोवैज्ञानिक आधार पर ऐसा माना जाता है कि यह विशिष्ट अवसर श्रृंगाररस के स्वाभाविक बने-बनाये उद्दीपन हुआ करते हैं। मीरां के जीवन में भी यह स्थल आये और उद्दीपन, उद्दीपन का कार्य करके व्यतीत हो गये। मीरां की प्रेम-भावना अपने इष्ट के प्रति अधिक प्रबल और चैतन्य हो उठी। उनका विरह तीव्रतर हो गया क्योंकि अपने प्रेमी नागर कृष्ण से उनका मिलन जीवन में कभी सम्भव न हुआ। ऐसी परिस्थिति में संयुक्त श्रृंगार वर्णन का प्रश्न ही कहां? चिर विरहिणी मीरां माधुर्य रस के माध्यम से ही भक्ति साधना कर रही थीं। इसमें विशेषकर भक्तजनों का विरह लौकिक प्रेम के विरह मूलतः भिन्न होता है। किन्तु लौकिक प्रेम में विरह निराशमूलक होता है। विरहीभक्त वेदना की कड़ी से कड़ी यातना को झेलता हुआभी आशा युक्त ही रहता है। यही उसकी साधना का बल है और यह मीरां के पदों में भी स्थल-स्थल पर देखा जा सकता है।

मीरां के पदों का एक-एक शब्द करुण की गहरी छाप लिये पाठकजनों के हृदय को हिला देता है। किन्तु यह करुण वियुक्त

शृंगार की करुणा है। मीरां का यह कारुणिक उच्छ्वास अपने इष्ट के प्रति कहीं-कहीं शिकायत के रूप में प्रगट ज़रूर होता है किन्तु उसका गूढ़ रहस्य उपालम्भ नहीं। वह तो ईश से की गयी विनय है। उसमें करुणा का पुट उसकी दयार्द्रता को प्रेरित करने के लिये है।

राम और कृष्ण के अवतारों में विविध अवतारों पर प्रदर्शित भक्त वत्सलता गज, गणिका, अजामील अहिल्या और कालीदह-लीला इत्यादि के उल्लेख गौणरूप से अद्भुत रस की सृष्टि करते हैं। किन्तु यहां भी रसाभिव्यक्ति के विविध अंग और उपांगों के चित्रण अनुपस्थित ही हैं। कारण स्पष्ट है कि उपर्युक्त उल्लेख न तो विस्तृत लीला वर्णन के निमित्त किये गये थे और न किसी काव्य साधक कवि के द्वारा रस साधना के निमित्त ही। इन विविध उल्लेखों की तह में भी मीरा की भावना अपने इष्ट को उसकी जगत प्रसिद्ध "पैज" की याद दिलाकर ईश की दया को प्रेरित करना ही था।

इस प्रकार मीरां के पदों में प्रधानता वियुक्त शृंगार, शान्त तथा विरह जन्य करुणरस की ही है। अन्य रस गौण रूप से केवल संकेत रूप में ही हैं। भक्तिरस से ओतप्रोत मीरां के पदों में अन्य रसों की अभिव्यक्ति का स्थान ही क्या हो सकता है?

संतमत और मीरा की भक्ति

प्रो० तारक नाथ अग्रवाल एम० ए०

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं:—

"नाहं वसामि वैकुंठे न योगिनां हृदयेन च।
मद्भक्त्वा यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि पार्थवः॥"

भगवान भक्त के वश में हैं। प्रह्लाद, ध्रुव आदि ने अपनी परम भक्ति से ही भगवान को अपने वश में कर रखा था। मीरा भी अपनी परा-भक्ति द्वारा ही भगवान में तिरोहित हो गयी थीं। भक्त के शरीर को राणा जैसे पाखंडी स्पर्श करें यह गिरधर लाल स्वीकार नहीं कर सकते थे। यह भी भक्ति का ही प्रसाद था कि विषका प्याला अमृत हो गया और सांप की डाली फूलों से भर गयी। सच तो यह है कि हिरण्यकश्यप और प्रह्लाद की पुरानी कथा को कलियुग में मीरा ने नया जीवन दे दिया। ऐसे भक्त की मधुर स्वर-लहरी का संग्रह भी सौभाग्यवश हिन्दी साहित्य का ही भूषण है। सचमुच में मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का इतिहास सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों तथा कबीर रैदास, दादू, सुन्दरदास आदि संतों जैसे साधकों की कृतियों द्वारा ही संसार के साहित्य में गौरव प्राप्त करता है। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं सदी की भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय भारत में प्रधानतः तीन प्रकार की विचार धाराएं प्रबल वेग से प्रवाहित हो रही थीं। (१) ज्ञानयोग की धारा—जिसका चरम लक्ष्य था मनःशुद्धि अथवा चित्त वृत्तियों के निरोध द्वारा परम तत्व की साधना। इस विचारधारा के मनीषियों ने 'हठयोग' का मार्ग अवलम्बन कर अद्वैतता की साधना की थी। परम्परा से चली आती हुई इस विचार-धारा से कबीर आदि संतोंने सर्वोपांग अवगाहन किया। (२) प्रेमानुबंध

धारा—जिसका अन्तिम ध्येय था परमात्मा के साथ नैसर्गिक (प्रीयतम) भाव का बोध करते हुए उससे तादात्म्य लाभ करना। जायसी, कुतबन, मंझन आदि कवियों ने इसी आदर्श का पालन करते हुए अपनी प्रेम गाथाओं की रचना की। (३) भक्तिभाव की धारा—जिसमें भक्त परमात्मा के प्रति पूर्ण श्रद्धा के भाव को जागृत रखते हुए उसे अपना स्वामी, सखा तथा कांत आदि समझ कर उस तक पहुंचने का प्रयत्न नवधा भक्ति द्वारा करता है। इस धारा में निमज्जन किया परमभक्त सूर और तुलसी ने तथा सरा-बोर हो गयीं मीरा। यह कहने में भी अत्युक्ति न होगी कि इस धारा ने सारे भारतवर्ष को आप्लावित कर दिया था। पूर्व के बंगाल प्रांत में श्री चैतन्यदेव इन्हीं भक्तों के समकालीन थे और इनका प्रभाव एक ओर उत्कल प्रांत से लेकर दूसरी ओर व्रजमंडल तक था। इसी प्रकार गुजरात में भक्त नरसी ने अपना प्रभाव स्थापित कर रखा था। स्वामी रामानन्द एवम् महाप्रभु बल्लभाचार्य ने जिस भक्ति के वृक्ष को रोपा था उसमें अब मीठे फल लग रहे थे।

यद्यपि ये तीनों विचार धाराएं भारतमें प्रायः एक ही समय प्रवाहित हो रहा थी तथापि मीरा भक्ति भाव को धारा से अधिक प्रभावित हुईं। भक्ति के इस वातावरण में रह कर मीरा के लिये अन्य किसी मार्ग का अवलम्बन करना सम्भव ही नहीं था। लेकिन कुछ समालोचक गण जिसमें श्री परशुराम जी चतुर्वेदी प्रमुख हैं भक्तिभाव की धारा तथा ज्ञानयोग की धारा में [१] कोई भेद नहीं देखते और हठयोगी कबीर आदि संतों तथा भक्त मीरा को एक ही श्रेणी में रखते हैं। इसका अर्थ तो यही हुआ कि

---

१ "हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत उक्त तीसरी अर्थात् भक्तिभाव की धारा का प्रवाह कुछ पीछे जाकर लक्षित हुआ। इस विचार-धारा वाली हिन्दी कविता के नमूने हमें सर्व प्रथम, नामदेव के उपलब्ध पदों में मिलते हैं और उसके अनन्तर कबीर साहब एवम् रैदास व नानकदेव प्रभृति निर्गुणोपासक संतों की रचनाओंमें हम इसे, बहुत कुछ, प्रचुर मात्रा में भी पाने लगते हैं।"

मीराबाई की पदावली भूमिका पृ० ४

भक्त और संत में कोई अन्तर नहीं। लेकिन सिद्धान्ततः भक्तों और संतों के साधना पन्थों में मूल अन्तर है। इस अन्तर को समझने के लिये यह आवश्यक होगा कि सर्वप्रथम भक्त और सन्त के अर्थ को हम समझ लें।

मोनियर विलियम साहब 'संत' और 'भक्त' का अर्थ बतलाते हुए कहते हैं:—

"सन्त—Santa, M. =Samha—tala, L. ; N. of a son of Satya.

भक्त—Bhakta—Infn. Distributed, assigned, alloted R. V. etc. etc[१]".

अभिधान राजेन्द्रः में कहा गया है किः—

संत—शांत—त्रि०। क्रोधाद्य बाधिते, थी. वि.। क्रोध विकार रहिते, द्वा० २० द्वा०। ज्ञा०। उत्त०। पं० व०। अन्तर्वृत्या। कल्प० १ अधि० ६ क्षण) उपशमवति "न यत्र दुःखं न सुखं न रागो न द्वेष मोहौ न च काचिदिक्षा। रसः स शान्तो विहितो मुनिनांनोइन्द्रियैशमं प्राप्ते।"[३]

"भत्त—भक्त—पुं०। न०। 'भज' सेवायाम्, क्तः। दश. १. अ। भक्त प्रत्याख्याने, कल्प० २ अधि० ८ क्षण। भक्तियुक्ते तदात्म के विभक्ते च। त्रि०। वाच०।"[४]

शब्दकल्पद्रुमः के सम्पादकों ने संत और भक्त की परिभाषा को लिखते हुए विभिन्न प्रकार के भक्तों तथा उनके लक्षणोंका भी उल्लेख किया हैः—

"सन्तः—पु० संहतलः। इति शब्द चन्द्रिका। सच्छब्दस्य प्रथमा बहुवचनान्त रूपञ्च॥ (यथा रघुः।१।१०।)

तं संतः श्रोतुमर्हन्ति सद सद्व्यक्ति हेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापिवा॥

---

[1] Sanskrit English Dictionary (1899)—Monier Williams.

३. अभिधान राजेन्द्रः १२८ (सप्तमो भागः) ४ अभिधान राजेन्द्रः १३२४ (पञ्चमो भागः)

भक्तः —त्रि, (भजतेस्येति । भजसेवायां+क्तः ।) तत्परः इति हेमचन्द्रः ॥ यथा महाभारते । १।१७३।१४ ।

न त्वां दृष्ट्वा पुनरन्यां द्रष्टुं कल्याणी ! रोचये ।
प्रसीद वशगोऽहन्ते भक्तं मां भज भाविनी ॥

पूज्य बिषयकानुरागो भक्तिस्तद्वांश्च । अथ श्री भगवद्भक्त लक्षणानि, लिंग पुराणे ।

"व्रत कर्म्म गुणज्ञान भोग जन्मादिमत्स्व पि ।
शैवेष्वपि च कृष्णस्य भक्ताः सन्ति तथा तथा ॥"

श्री भागवते एकादश स्कन्धे । उत्तम भक्ता यथाः—

"ज्ञात्वा ज्ञात्वाय ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनेन भावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥"

मध्यम भक्तो यथाः—

"ईश्वरे तदधीने वा बालिशेषु द्विषत् सुच ।
प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा य करोति स मध्यमः ॥"

प्राकृत भक्तो यथाः—

अर्च्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धये हते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥"

भक्तस्य लक्षणान्तरं यथाः—

"प्रेमणा संजातया भक्त्या तनुमुत् पुलाकाञ्जनः ।
विभर्त्य लौकिकं भक्तो वदेदुच्छ्वसति नृत्यति ॥
परमानन्द युक्तोऽसौ क्वस्वद्गायति नन्दति ।
क्रन्दत्यच्युत भावेन गद्गदन पुनः पुनः ॥
अनुशीलयति भजेत् गोविन्द मनुमोदते ।
तरै देवं विष्णु मायां दुस्तरां मुनि मोहिनीम् ॥

सर्व्वत्रेश्वर बुद्ध्या यों भजेदीशं सनातनम्।
स तत्ववादी भक्तश्च: सर्व्वभूत सुहृत्तमः ॥"
(पद्मोत्तर खण्डे १०१ अध्याय)

हिन्दी शब्द सागर कहता है:—

"संत—संज्ञा पु० [सं० सत्] १ साधु, सन्यासी, विरक्त या त्यागी पुरुष।

उ०—"या जग जीवन है यहै फल छाँडि भजै रघुराई।
शोधि के संत महंत न हूं पद्माकर बात यहै ठहराई॥"

भक्त—वि० [सं०] अनुयायी, सेवा करनेवाला, भजन करनेवाला, भक्ति करनेवाला। सेवा पूजा करनेवाला पुरुष। उपासक—

विशेष—भगवद्गीता के अनुसार (१) आर्त (२) जिज्ञासु (३) अर्थार्थी और (४) ज्ञानी चार प्रकार के भक्त तथा भागवत के अनुसार नवधाभक्ति के भेद से नौ प्रकार के भक्त माने गये हैं।"[६]

इस उल्लेख के अनुसार 'नवधाभक्ति का अर्थ नौ प्रकार की भक्ति माना गया है। किन्तु भक्ति की परिभाषा 'अन्तः करणांवृत्ति विशेषः'—देते हुए उद्भट विद्वान स्वप्नेश्वर, भागवत वर्णित नवधा भक्ति के स्वरूप को नौ प्रकार का न मान कर भक्ति के नौ अङ्ग मानते हैं। तुलसी जैसे परम भक्त ने भी नवधा भक्ति का वर्णन करते हुए इसी अर्थ का समर्थन किया है।

"नवधा भगति कहऊं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरहु मनमाहीं।
प्रथम भक्ति संतन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भक्ति मम गुनगन, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
छठ दम सील विरती बहु कर्मा। निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥

---

५ शब्द कल्पद्रुमः

६ हिन्दी शब्द सागर

सतम सब मोहिमय जग देखै । मोते संत अधिक करि लेखै ॥
अष्टम जथा लाभ संतोषा । सपनेहु नहिं देखै परदोषा ॥
नवम सरल सब सौं छलहीना । मम भरोस जिय हरषन दीना ॥"

(मानस तृतीय सोपान)

आचार्य ललिताप्रसाद जी सुकुल ने भी इसी अर्थ का समर्थन किया है ।+

डाक्टर पिताम्बड़ दत्त वर्थवाल के अनुसार "The word 'Santa may have two probable derivations It may be derived from the word Santa (शांत) as in Pali, meaning a quietist or it may be plural form of the word Sat (सत्) used as singular in Hindi meaning one who believes in or has realised the only Reality."*

शब्दार्थ दोनों के भिन्न हैं तथा दोनों शब्दों की उत्पत्ति भी भिन्न भिन्न क्रियाओं से हुई है यह तो उपर्युक्त कथन ही सिद्ध करता है। लेकिन अर्थों की भिन्नता के साथ साथ इन दोनों प्रकार के साधकों के पथ परमात्मा तक पहुंचने के भी भिन्न हैं। दोनों की साधना अलग अलग है। दोनों अपने इष्ट के रूप को अपने प्रतिपादित पथ या मार्ग के अनुरूप ही स्वीकार करते हैं। संत परमात्मा तक हठयोग द्वारा पहुंचता है अर्थात यौगिक क्रियाओं द्वारा वह इन्द्रियों को मन के वशीभूत करता है, तदुपरान्त मन को आत्मतत्व की चेतना से स्थिर करता है, और अपनी साधना के पथ पर अग्रसर होता है। संसार को मायावत, नाशवान "कागज की पुड़िया" समझते हुए—जो पानी पड़ने पर गल जाता है—इस ओर से ओट ही ओट रह कर मन को एकाग्र कर 'सत्य' में केन्द्रीभूत कर देता है। केन्द्रीभूत करके ही संत अपने को सीमित नहीं रखता, वह इसके आगे एक कदम और बढ़कर उसी में (परमात्मा में) अपने को लीन कर लेता है और अभिन्न तत्व को प्राप्त करता है। परमात्मा से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं रह जाती।

+ कृष्ण भक्ति परम्परा और मीरा 'मीरा स्मृति ग्रन्थ'

* 'The Nirguna School of Hindi Poetry'. Preface p. i.

'अहं ब्रह्मास्मि' वाली उक्ति उसके लिये चरितार्थ होती है। लेकिन इसके विपरीत भक्तों का पथ नवधा भक्ति का पथ है। वे परमात्मा को "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्।[1]" द्वारा प्राप्त करते हैं, तथा संतों के विपरीत परमात्मा में लीन हो जाने, एकाकार हो जाने की कल्पना भी नहीं करते। भक्त प्रवर तुलसी के शब्दों में "धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहौं निर्वान, जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन" ही उनकी परम साधना है, यही उनकी अन्तिम कामना है। परमात्मा को दोनों मानते हैं उस तक पहुंचना दोनों का लक्ष्य है लेकिन एक का है सगुण आधार पर और दूसरे का आधार है निर्गुण। भक्त सगुण का उपासक है और संत निर्गुण का। प्रश्न उठता है कि भक्त सगुण की ही उपासना क्यों करता है और संत निर्गुण की ही साधना क्यों ? उत्तर के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। जिन नौ सोपानों की सहायता से भक्त परमात्मा तक पहुंचता है वे ही नौ सोपान यह सिद्ध करते हैं कि भक्त के लिये सगुण उपासना आवश्यक है। लीलाओं का स्मरण, पदों की सेवा, दास्यता, गुणों का श्रवण आदि सभी से यही सिद्ध होता है कि भगवान के सगुण रूप के सिवा ये सब कार्य संभव नहीं। जिस प्रकार एक बड़े पात्र के अन्दर छोटे पात्र को रख देने पर भी उस छोटे पात्र का अस्तित्व रह ही जाता है ठीक उसी प्रकार यदि संत परमात्मा के सगुण रूप को अपनावे तो उसके उद्देश्य में त्रुटि आ जाती है। वह तो परमात्मा में दूध और पानी की तरह मिल जाना चाहता है। भक्तों की तरह भगवान के चरण कमलों में नतमस्तक हो साइज्य मुक्ति की प्रार्थना नहीं करता। वह तो मतवाला है दीदार का और उसकी बला मुक्ति चाहे। भक्त और संत में यही भेद है। इन भेदों के विश्लेषण की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। निम्न पक्तियों में यह विचार करने का प्रयत्न किया जायगा कि मीरा भक्तों की कसौटी पर खरी उतरती हैं या संतों की।

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण

वातावरण के प्रभाव से मानव प्रवाहित होता है यह निसन्देह सत्य है। इतिहास के पृष्ठ इसके साक्षी हैं कि मीरा का घरेलू वातावरण विष्णु-भक्ति से प्रभावित था। ऊपर कहा गया है कि मीरा का काल भागवत पुराण में कहे गये वैष्णव भक्ति के नवीन रूप से परिप्लावित था। अतएव मीरा का पितृ और श्वसुर कुल भी इससे अछूता न था। "सिसौदिया" राजवंश ने एकलिंग का उपासक होते हुए भी इस नव धर्म को प्रश्रय दिया था। राणा मोकल (१४२०--१४२८) ने चित्तौड़ में द्वारका नायक का एक विशाल मन्दिर बनवाया था, उनके प्रसिद्ध पुत्र राणा कुम्भा ने (१४३०--६८ ई०) इस सम्प्रदाय की दीक्षा ही नहीं ली वरन् इससे प्रभावित होकर 'गीत गोविन्द' की टीका भी 'रसिक प्रिया' नाम से की। इनकी बहन रमाबाई का विवाह सोरठ के मण्डलिक यादवराज के साथ हुआ था। ये वैष्णवी थीं। राणा रायमल के शासन काल में इन्होंने १४६८ ई० में कुम्भलमेर दुर्ग में दामोदर का एक मन्दिर बनवाया था। यह किम्वदंती भी प्रसिद्ध है कि रामानन्द के प्रथम शिष्य अनन्तानन्द जोधपुर राजवंश के राजगुरू थे। सांभा में प्रदर्शित अपने चमत्कार से उन्होंने शाशक को अपना शिष्य बनाया था।" * यद्यपि यह उल्लेख बहुत विस्तृत नहीं फिर भी प्रकाश तो इतना पड़ता ही है कि मीरा के श्वसुर तथा पितृकुल दोनों ही वैष्णव सम्प्रदाय से प्रभावित थे। इस वातावरण में जन्म ग्रहण कर तथा ऐसी स्थिति में रह कर मीरा ने यदि अपने इष्टदेव का रूप साकार कृष्ण—क्योंकि उपर्युक्त पंक्तियों में विष्णु के अवतार 'राम' का कहीं उल्लेख नहीं है—को माना तो इसकी असम्भावना नहीं। उपर्युक्त इतिहास यह भी सिद्ध करता है कि इन दोनों राजकुलों पर 'संत मत' का कोई प्रभाव नहीं था। फिर मीरा ही क्योंकर संतमतावलम्बिनि हो सकती थीं। "सन्तन ढिग बैठ बैठ" कर वे सन्त मत को मानने लगीं? नहीं कदापि नहीं। यहां 'संतन' का अर्थ है 'ईश्वरभक्त, महात्मा या साधु'।

---

* एन्साइक्लोपेडिया आफ रेलिजन एन्ड एथिक्स भाग १० पृ० ५७०।

संतन का यह विशेष अर्थ नहीं जिसका विश्लेषण ऊपर किया गया है।

श्री परशुराम जी चतुर्वेदी नें अपनी पुस्तक "मीरांबाई की पदावली" में यह सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयत्न कर डाला है कि मीराबाई संत थी और साथ ही साथ भक्त भी। वे संत मत के प्रबल प्रवर्तक कबीर साहब से इन्हें प्रभावित पाते हैं। ० और अपनी उक्ति के प्रमाण स्वरूप मीरा के तथा कथित कई पदों को उद्धृत भी करते हैं। वे कहते हैं कि मीरा के इष्टदेव निर्गुण हैं। वह आदि अनादि साहब है तथा मीराबाई अपने साहब को 'त्रिकुटी महल' के झरोखे से झांक कर देखती हैं, 'निरंजण' कहे जाने वाले के ध्यान में निरत रहना चाहती हैं।[1] मीरा को संत मानने के इन प्रमाणों के उत्तर में दो बाते विचारणीय हैं। (१) क्या संत मत सम्बन्धी कहे गये पद मीरा द्वारा कहे गये थे? (२) क्या मीरा द्वारा इन पदों को कहे जाने की सम्भावना थी? दोनों प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक

---

० "किन्तु रैदास जी के साथ मीरां के भावसाम्य की उक्त सामग्रियों को देखते हुए भी, हम कई बातों में, इन्हें संत परम्परा के प्रमुख प्रवर्त्तक कबीर साहब द्वारा ही कहीं अधिक प्रभावित पाते हैं। मीरां ने अपने पदों द्वारा सदा दाम्पत्य-भाव के गीत गाये और कबीर ने भी, बहुत कुछ उसी ढंग से, माधुर्य भाव से ओत-प्रोत अनेक दोहों, चौपाइयों एवं पदों की भी रचना की।" आदि।

'मीरांबाई की पदावली' भूमिका पृ० ६२-६३

१ मीरांबाई, इसी कारण, अपने साहब को 'त्रिकुटी महल' में बने हुए झरोखे से झाँकी लगाकर देखने, 'छुन्न महल' में सुरत जमाने व 'सुख की सेज' बिछाने के लिये (पद १२) आतुर जान पड़ती हैं। उनका मन 'सुरत' की 'असमानी सैल' में रम गया है (पद १५९) और वे, गुरु ज्ञान द्वारा अपने तनका कपड़ा रंगकर तथा मन की मुद्रा पहनकर 'निरंजण' कहे जाने वाले के ही ध्यान में निरत रहना चाहती हैं।

मीरांबाई की पदावली—भूमिका पृ० २२

देना होगा। लेकिन नकारात्मक उत्तर देने पर भी यह समस्या बनी ही रहती है कि इस प्रकार के पद मीरा के नाम के साथ जुड़ ही कैसे गये। इतिहास का सुक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर ऐसा ज्ञात होता है कि दक्षिण में शाह मीरां जी (समय १४९६) का पुत्र एक मुसलमान लेखक था जो १५८२ ई० में मरा।[२] यह सुफी मत का था। बहुत कुछ सम्भव है कि इसके द्वारा रचित पदों में निर्गुण वाद का प्रभाव रहा हो। सुफी कवि सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त तत्व को अनुभूति-मार्ग में लेकर चलते हैं। उन्हें अपने प्रियतम का वियोग सह्य नहीं, वे दिन रात उसी की याद में शमा के परवाने की तरह जलने रहते हैं। उनकी सेज 'सूली' पर बिछी हुई जान पड़ती है। वे अपने प्रियतम को 'नैनां अंतरि' स्वागत करते हैं और उसे 'निसदिन' 'निरषा' भी चाहते हैं। अतएव मीरा के नाम के साथ जुड़े हुए ये पद यदि उपर्युक्त शाह मीरां के पुत्र द्वारा कहे गये हों तो असम्भव नहीं। वरन उसके द्वारा कहे जाने की ही सम्भावना अधिक है। विद्वानों के कथनानुसार यदि मीराबाई का जन्म काल १५०४ तथा विवाह १५१६ मान लिया जाय तब तो यही कहना पड़ेगा कि उक्त मीरां शाह का पुत्र इनके समय में रहा होगा और सुफी होने के नाते उसकी प्रसिद्धि भी कम न रही होगी। नाम की समानता के कारण प्रसिद्ध सुफी शाह मीरां के पुत्र की रचनाओं को जगत प्रसिद्ध मीराबाई के नाम के साथ जोड़ कर संग्रहकर्ताओं ने अपनी भक्ति का परिचय दिया है। अब यदि यह भी कहा जाय कि भक्त मीरा द्वारा 'रहस्यपूर्ण' पदों की रचना की सम्भावना भी सम्भव नहीं थी तो अत्युक्ति न होगी। क्योंकि ऊपर भक्त और संत के अर्थ तथा उनके परमात्मा प्राप्ति के पथ की विवेचना करते हुए कहा जा चुका है कि भक्त के उपास्य हैं सगुण भगवान, अवतारी विष्णु और संत के साध्य हैं निर्गुण निराकार परमात्मा।

---

२. Gorakhnath and Medieval Hindu Mysticism.

ये दोनों यदि अपने पथ को छोड़ दे तो पथ भ्रष्ट होने के साथ ही साथ शायद परमात्मा तक पहुंच भी न पावें।

श्री परशुरामजी चतुर्वेदी ने रैदासजी को मीरा बाई का प्रत्यक्ष गुरु माना है[१] और हो सकता है कि इसी भ्रमवश उन्होंने मीरा को संतों की कोटि में रखा हो। रैदासजी का जीवन समय पंद्रहवीं शताब्दि के पिछले हिस्से से लेकर सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक माना जाता है। मीरा का काल सोलहवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। मीरा का रैदास से मिलना निम्न पद द्वारा प्रमाणित किया जाता है:—

"झाँझ पखावज बेणु बाजियाँ झालर नो झनकार।
काशी नगर ना चौक माँ मने गुरू मिला रोहीदास।"

लेकिन पहले तो यही भ्रमात्मक है कि मीरा बाई काशी गईं कब! इनके काशी जाने का कोई प्रमाण कहीं नहीं मिलता। वे काशी जातीं भी क्यों? उनके आराध्यदेव थे नागर कृष्ण जिनका वासस्थान था वृन्दावन मथुरा न कि विश्वनाथ की पुरी काशी। फिर रैदासजी की मृत्यु सं० १५७६ (सन् १५१६) में हुई मीरा का जन्म सन् १५०४ में हुआ अतः यदि रैदासजी राजस्थान में आये भी होंगे तो ७५ वर्ष की अवस्था में आये होंगे लेकिन इसकी सम्भावना नहीं, क्योंकि रैदासजी के भ्रमण का वृतान्त उनके युवावस्था के समय का ही प्राप्त है वृद्धावस्था में तो उन्होंने काशी में ही निवास करते हुए अपने देह को त्यागा। इसलिये रैदासजी से मीरा की भेंट की सम्भावना निराधार है। मीरा भक्त थीं उनकी उपासना माधुर्य-भाव की साकार थी वे स्वयं कहती हैं 'मीरा भक्ति करे परगट की', इधर रैदासजी की साधना निर्गुण की थी। वे कहते हैं:—

---

१ रैदास जी कदाचित विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न हुए थे और मीराँ बाई का जन्म विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुआ था; किन्तु मीराँ के समय राजस्थान की ओर अधिकतर रैदासी संतों द्वारा ही संतमत का प्रचार होते रहने के कारण, उन्होंने रैदासजी को अपना प्रत्यक्ष गुरू की भाँति समझ रखा था।

मीराँ बाई की पदावली—भूमिका पृ० ६१

"कहु रैदास मैं ताहि को पूजूँ जाको ठाँव नाँव नहिं होई ॥१॥
निरंजन, निराकार, निरलेपी, निरविकार, निसकामी ॥२॥"

अतः गिरधर नागर की उपासिका भक्त मीरा के गुरु निर्गुण ब्रह्म के साधक रैदास हो ही कैसे सकते थे। मीरा के पदों में रैदासजी के निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी भावों को देखकर रैदासजी को मीरा का गुरु मानते हुए मीरा को संत मानने के पहले यह अधिक श्रेयष्कर होगा कि ऐसे पदों को मीरा का न मान कर प्रक्षिप्त माना जाय।[1]

कतिपय सम्पादकों ने 'राम'[2] सम्बन्धी पदों का संग्रह मीरा के पदों के साथ कर मीरा को संत कोटि का माना है। लेकिन ऐसे पदों के संग्रह-कर्ता शायद यह भूल गये कि मीरा की भक्ति कांत-भाव की थी। वे गिरधर नागर की 'जनम जनम की चेली' थी गिरधर नागर उनके 'जणम जणम रो साथी' थे। गिरधरलाल को स्वकीया की भाँति अपना पति समझती हुई भी कभी कभी उनके प्रेम का उद्गार प्रतिकूल परिस्थिति के कारण परकीया के जैसा प्रकट हुआ है। वे अपने नागर कृष्ण को 'प्रिया', 'पिव', 'धणी', 'सैयाँ', आदि कह कर सम्बोधित करती हैं। वे अपने प्रियतम के प्रेम में ऐसी दिवानी हैं कि उन्हें 'बदनामी' और 'हाँसी' भी मीठी लगती है। उन्हें लोग 'कुलनासी' कहते हैं लेकिन फिर भी पिया-प्रेम में 'मस्त डोलती' हैं। प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा प्रेम मर्यादा पुरुषोत्तम राम के साथ भी करना सम्भव

---

१ रैदासजी सम्बन्धी पूर्ण विवरण इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

२. रमैया मैं तो थाँरे रंग राती
औराँ के पिय परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजें पाती।
सुरत निरत का दिवला संजोया, मनसा पूरत बाती।
अगम धाणि का तेल सिचाया, बाल रही दिन राती।
जाऊं नी पीहरिये जाऊं नी सासरिये, सत गुरू, सन लगाती।
दासि 'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरनाँ चित लाती ॥ २६९ ॥
मीराँ-माधुरी पृ. ६६

था? कृष्ण की तरह क्या राम ने भी सीता को छोड़ कर अन्य किसी से प्रेम किया? क्या अनेक से प्रेम कर वे (राम) मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाने के अधिकारी हो सकते थे? नहीं कदापि नहीं। विष्णु-अवतारी राम मर्यादा पुरुषोत्तम थे। परम भक्त तुलसी ने उनके प्रेम प्रसंग के वर्णन में भी कभी उनकी मर्यादा में धक्का नहीं पहुंचाया और शायद अनन्त प्रसिद्ध भक्त नामावली में एक भी ऐसा नहीं हुआ जिसने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के साथ कान्त-भाव की भक्ति करने की कुचेष्टा का प्रयत्न भी किया हो। सीता के सिवा उन्होंने किसी नारी से प्रेम किया ही नहीं। परकीया के प्रेम का प्रश्न उनके सम्बन्ध में उठता ही नहीं। हां, एक ने उनसे प्रेम करने की शायद् चेष्टा की थी लेकिन उसे अपने नाक कान से हाथ धोना पड़ा यह जगत प्रसिद्ध है। अतः ऐसे पदों को भी यदि प्रक्षिप्त कोटि में रखा जाय तो कुछ हानि न होगी वरन् उक्त कोटि में रख कर शोध के विद्यार्थियों के कार्य को सुलभ ही किया जायगा।

हिन्दी साहित्य के कुछ समीक्षकों तथा विद्वानों ने मीरा के गिरधर नागर के प्रति माधुर्य प्रेम को देखकर उनके प्रेम को तुलना संतों के प्रेम से किया है। इस तुलनात्मक अध्ययन की गति इतनी तीव्रता से चली कि हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल को भी मीरा के प्रेम में बू आने लगी सूफियों के प्रेम की।[१] लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि संतों के प्रेम, सूफियों के प्रेम, तथा मीरा के प्रेम में अन्तर है। संत प्रेम करता है क्यों कि 'प्रेम' के विरोधी 'द्वेष' से वह दूर रहना चाहता है। संत हठयोग द्वारा परमात्मा से एकाकार की साधना करता है। हठयोग के आठ अङ्ग (१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारण, (७) ध्यान और (८) समाधि माने गये हैं। इस प्रकार

---

१. इस ढङ्ग की उपासना का प्रचार सूफी भी कर रहे थे अतः उनका संस्कार भी इन पर अवश्य कुछ पड़ा। हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. १८५ पाँचवाँ संस्करण सं० २००६

के अष्टांग योग की साधना से संत अपने शरीर और मन को संयमित करके आत्म-तत्व को चैतन्य करता है। किन्तु उसके अपने शरीर, मन और मन के बाहर वाह्य सृष्टि भी तो है। उस वाह्य सृष्टि के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करने के लिये वह प्रेम-दृष्टि धारण करता है, जो आसक्तियुक्त नहीं वरन् अनासक्तियुक्त होती है। 'मैं ही ब्रह्म हूँ' के नियम को मानने वाले संत विकार युक्त आसक्ति जन्य प्रेम को मान ही कैसे सकते हैं यही कारण था कि कबीर आदि संतों नें प्रेम करने के कारण आने वाली कठिनाइयों अथवा प्रेम करना हो कठिन है—का वर्णन किया है। उन-लोगों ने यह कहीं भी नहीं कहा कि प्रेम के द्वारा ही तत्व का बोध होता है। संत मत के अनुसार 'अंह भाव' को नष्ट करने के लिये 'प्रेम' आवश्यक है। सुफी मत के अनुसार परमात्मा ने 'हक' तत्व से (अनलूहक्) सृष्टि की। सौंदर्यतत्व हक की रचना है। अतः संसार में कोई भी वस्तु असुन्दर नहीं क्योंकि संसार की सभी वस्तु उसी हक की रचना है। लैला मानव दृष्टि में भले ही रूपवती न हो सुफ़ी लेकिन मंजनूं के लिये सौन्द्रर्य की प्रतीक है। सुन्दर श्रष्टा असुन्दर की श्रृष्टि कैसे करेगा। और इसीलिये वह उससे प्रेम करता है। लैला का कुत्ता भी मजनूं को सुन्दर ही नजर आता है और वह उसे भी प्यार करने लगता है, भले ही इस्लाम धर्म कुत्ते को 'नापाक' करार दें। सुफियों का पथ ही प्रेम का पथ है। वे प्रेम के द्वारा ही परमात्मा पको प्राप्त करते हैं। भक्ति मार्ग की साधना में जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है साकारोपासना अनिवार्य है। भक्त आत्मशक्ति को संतो और सुफ़ियों से भिन्न अपने इष्ट के प्रति 'परानुरक्ति' अर्थात् नितान्त अनुरक्ति के द्वारा केन्द्रित करके चैतन्य करता है। और इस विधि की साधना ईश के प्रति आसक्ति के मार्ग से जिस शुद्धता के साथ सध सकती है उतनी अन्य किसी प्रकार से नहीं। मीरा निसन्देह भक्त थीं और नागर कृष्ण की उपासना माधुर्य भाव से उनका इष्ट था। इस प्रकार परम रसिक कृष्ण

की रसानुरक्ति ही उनकी स्पष्ट साधना थी, और यह प्रेम शुद्ध रूप में आकर्षण जन्य अपने ईश के प्रति माधुर्य भाव का था। भक्ति मार्ग में इस माधुर्य भाव की साधना ही उत्कृष्ट मानी गयी है। भक्त अपने इष्ट से अनुरक्ति उसे सौन्दर्य का प्रतीक मान कर नहीं करता। सुन्दरता और असुन्दरता का प्रश्न भक्त के समक्ष नहीं। यही मूल अन्तर है सूफ़ी और भक्त के प्रेम में।

मीरा का प्रेम संतो का नहीं तथा सूफियों का भी नहीं, मीरा के गुरू संत नहीं, और 'रमैया' सम्बन्धी पद भी मीरा के नहीं, फिर भी मीरा को संत कोटि में मानना अपनी अल्पज्ञता का ही तो परिचय देना है।

काव्याञ्जलि

श्रीराम

मीरा

लाख लोक भय बाधाओं से विचलित हुई न धीरा,
वार गई, ब्रज रज पर मानिक मोती हीरा चीरा।
हरि चरणामृत कर वर विष भी पचा गयी गम्भीरा,
नचा गई नट नागर को भी, नाची तो बस मीरा॥

—मैथिली शरण

मीरा की मनोभावना

मैं आई हूं करने मंजुल वृन्दावन में वास,
सब कुछ त्याग दिया है मैंने पर सब कुछ है पास।
ब्रजवल्लभ में मैंने पाया जीवन का आधार,
लीलामय का लीलास्थल ही है मेरा संसार।
मेरे रोम रोम में तुम हो समा रहे ब्रजराज!
मैं होकर निर्भीक छोड़ती क्यों न लोक की लाज?
मैं रहती हूं यहां अकेली छूटा स्वजन-समाज,
तुम्हें छोड़ इस जग में मेरा और कौन है आज?
जिसे देख कर ब्रज-वनितायें होती थीं बेहाल,
जिसकी छवि राधा के उर में करती थी भूचाल।
उसी प्रेमधन ब्रजधन से मैं करती हूं अनुराग,
फिर क्या अचरज है जो मैंने दिया विश्व को त्याग।
सुछबि तुम्हारी ब्रजमण्डल में है चित्रित सब ओर,
जाती हूं मैं जहां वहीं वह देती रस में बोर।
क्यो न रहें वृन्दावनवासी हर्षित प्रेम-विभोर?
हृदय हृदय में छिपे हुए हो तुम माखन के चोर।
कभी उलझती हूं कांटों में मैं यमुना के तीर,
मुझे ज्ञात होता है मेरा खींच रहे तुम चीर।
आँख मूंद कर जब करती हूं श्याम! तुम्हारा ध्यान,
तुमने मूंद लिये मेरे दृग, यह होता है भान।

कालिन्दी की छटा देखती हूं मैं सदा सकाम,
जिसके श्याम-सलिल-दुकूल में अङ्कित हैं घनश्याम।
जिसके कोमल कल कल स्वर में प्रतिध्वनित सब काल,
मुरलीधर की मुरली-ध्वनि है होती मृदुल रसाल।
लता-पुञ्ज में द्रुम-निकुञ्ज में छवि का मंजु विकास,
विपिन-मही सुमनों से शोभित तारों से आकाश।
देख दृश्य यह मेरे मन में होता है उल्लास,
क्या माधव ! आते हो बन कर स्वयं तुम्हीं मधुमास ?
मैं वन में पद-चिह्न तुम्हारे हूं खोजती ललाम,
हूं पुकारती तुमको लेकर विविध तुम्हारे नाम।
तुम हो छिपे किसी कानन में, होता है यह ज्ञात,
आती है फिर याद रसमयी रास रङ्ग की रात।
लता-भवन में मैं बैठी थी करके तुमसे मान,
धर कर चिबुक मनाते थे तुम मुझको प्रेम-निधान।
कैसे बतलाऊं मैं तुमसे यह सुख-स्वप्न विशेष ?
पर किस भाँति छिपाऊं भी मैं तुमसे प्रिय प्राणेश ?
भूल सकूंगी कभी नहीं मैं वह सपने की बात,
जिसकी स्मृति है सदा कण्टकित करती मेरा गात।
गाती हूं मैं सरस तुम्हारे प्रेम-गीत सब काल,
आओ, मीरा को दर्शन दो हे गिरधर गोपाल!

—गोपाल शरण सिंह

पद्-वन्दन

मीरां ! पद् वंदन तुम्हारा बार बार है
वंदना की स्वामिनी ! मुझे दो वह रागिनी ।
जिसके स्वरों में कृष्ण गोकुल गोपाल हो
नाच उठे हो के अनुरागी, अनुरागिनी !

कौन सी थी रागिनी, जो अश्रु-बिन्दु में सजी
झाँकती थी लोचनों के संकुचित कोने में ।
नेत्र की कनीनिका में गोकुल का ग्राम था
राधा नत होती पलकों के नत होने में ।

देवि ! राजनीति की मरुस्थली में तुमने
भक्ति की तरंगिनी जो थी उसे भागीरथी—
कर के बहा दी, अहा ! कण कण जानता
ऐसी साधना तो इस विश्व में कहीं न थी । १२

कौन वह क्षण था कि जो तुम्हें सुजन्म दे
फैला है शताब्दियों में प्राण सा सजग हो ।
छेड़ता है मेड़ता का राग, जहाँ तुमने
बाल्यकाल में की भक्ति जग से अलग हो ।

गिरधर लाल में तुम्हारा बाल्यकाल था
यौवन था, यौवन का वैभव समस्त था ।
क्यों फिर विवाह उस जगत के ज्वर में !
क्या तुम्हारी चेतना का रूप अस्त-व्यस्त था ?

तुमने लिया था व्रत, तुम तो अचल थीं
सारा जग त्रस्त और ध्वस्त तुम्हें कर दे ।
किन्तु कौन था जो प्रेम-बांसुरी सुरीली में
भूल के भी भूला हुआ एक स्वर भर दे ? २४

किसका वैधव्य ? और कौन पतिहीन है ?
मुख में निरंतर ही भक्तिमय मौन है ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई
गोकुल गोपाल पति छोड़ और कौन है ?

कितनी तुम्हें दी यन्त्रणाएं ! देवि, बोलो तो
विष भी भरा गया तुम्हारे आयु-पात्र में ।
किन्तु कृष्ण नाम के रसायन के स्पर्श से
हो गया अमृत वह एक क्षण मात्र में ।

और वह सर्प ! तीव्र विष का कुबेर जो
भेजा गया एक बार पूजा की पिटारी में ।
खोल कर देखा जब तुमने प्रसन्न हो
कुन्द पुष्प-हार जैसे बिखरा हो क्यारी में । २६

छोड़ परिवार तुम द्वारका चली गईं
गाती हुई प्रेम-गीत निज नन्दलाल का ।
तुम तो हुई थी मुक्त भाव के गगन में
भय था जहां न लेश मात्र मोह-जाल का ।

कविता के नूपुर तुम्हारे पद में सजे
ध्वनि सुन सुन के दिशाएं धन्य हो गईं।
रसमयी ध्वनि कण्ठ में थी समलंकृता
काव्य परिभाषा धन्य होके अन्य हो गयी

सांस का 'प्रवाह' था, हृदय मंजु 'ताल' था
प्रेम-मूर्छा 'मूर्छना' थी, 'मींड' कष्ट-काल था।
वेदना के 'तार-स्वर' गूंजते 'अभंग' थे
बन के त्रिभंग रूप नाचा नन्दलाल था। ४८

एक ही भ्रमर गीत ऊधो गोपिका का था
किन्तु है अमर गीत मीरां मतवाली का।
ऊधो कौन ? एक नन्दलाल ही था सामने
ध्यान ध्रुव धारण किया था बनमाली का।

जग के प्रणय में संजोया था दिव्य रङ्ग
कृष्ण-भक्ति साधना की ऐसी बनी साधिका।
सांस सांस में थी गोपिकाओं की अनन्यता
रोम रोम में निवास करती थी राधिका।

कृष्ण ! तुम पूजित शताब्दियों से हो रहे
श्रद्धा-भक्ति जीवन की, हृदय की अतः दूं।
किन्तु एक बार नहीं 'राधा कृष्ण' बोलूंगा
चाहे मैं प्रत्येक बार 'मीरां कृष्ण' कह दूं। ६०

—रामकुमार वर्मा

मीराबाई

(१)

लेकर पूर्ण शशी से सुधा घट,
कीर्त्तिमयी कविता मुसुकाती ।
शुष्क सरस्वती की रज भूमि में,
रासमयी रसधार बहाती ॥

मानव मात्र के मानस-कुञ्ज में,
भक्ति के मंजुल फूल खिलाती ।
भारत भूमि में छा गयी मीरा,
त्रिशूल से देशों को तीर्थ बनाती।।

(२)

थे उर तार सितार से झंकृत,
नृत्य के गीतों से देश जगाया ।
प्रीतिमयी उसके गुण गान को,
काव्य के प्रेमियों ने नित्य गाया ॥

मुक्ति की शक्ति बिसार के संतों ने,
सामने सादर शीश झुकाया ।
फूलों में धूप थी मीरा खिली हुई,
धूप में थी सुख शीतल छाया ॥

(३)

आंधी विरोध की जोर उठी,
यह रानी है या जन मृत्यु की हाला ।
राणा ने जुल्म चलाये अनेकों,
पड़े जिसमें इस वेलि पे पाला ॥

किन्तु न कोई भी मार सका,
वह पी गई श्याम हलाहल प्याला।
सर्प भी भूल गया विष दर्प को,
आप बना वह फूलों की माला॥

(४)

घोर कलंक के अङ्क लगी वह,
रङ्क-सी मूढ़ जनों को दिखाई।
ठोकर दी जग ने उसको,
जग में वह मोदमयी मुसुकाई॥

प्रेम की प्यासी सुधामयी मीरा,
सदा जमुना जल-सी लहराई।
चन्द्रमुखी वह कीर्त्तन नृत्य की,
राधा थी कृष्ण में नित्य समाई॥

—गुलाबरत्न वाजपेई

भक्ति का चीर

भक्ति का कपास 'जगदीश' बोया जाटधना,
दादू धुनिया ने धुन साफ कर छोड़ा था।
कर्मा जाटिनी ने किया कात-कात सूत त्यार,
कबीर-कुबिन्द बुना चारु चीर चौड़ा था॥
नामदेव छीपा ने बिछाय भाव-वेदी पर,
छाप-छाप, नाय-नाय रङ्ग में निचोड़ा था।
देय कर-तारी फिर "तारो गिरधारी" कहि,
सोई चीर मीरा मतवारी तूने ओढ़ा था॥

—जगदीश

मीरा के प्रति

जब मीरा के मानस की चिर, बीन बजी, संसार खिल उठा।

आकुल मन के विहग गा उठे,

जीवन-नभ में नव सुख छाया।

अरमानों के तारों ने हंस;

प्रणय सुधाकर को फिर पाया।

शृष्टि, भक्ति में नृत्य कर उठी, प्रेम मिला, सिंगार घुल उठा।

जीवन स्वप्न, सत्य है सुन्दर,

शिव के सिवा, शृष्टि है नश्वर,

जिसने पाया, रख न सका, पर;

उसका सुन्दर, रहा असुन्दर।

जब विश्वास मिला मीरा से, मोह जला, अङ्गार गल उठा।

प्रेम-पंथ ने विहंस पुकारा,

जीवन-शूल, फूल बन निकले,

बढ़ने वाले पंथी के हित;

जीवन-भंवर, फूल बन निकले।

वाणी ने संगीत दिया चिर, सृष्टि पली, संहार जल उठा।

जब मीरा के मानस की चिर, बीन बजी, संसार खिल उठा।

—रणधीर साहित्यालङ्कार

मीरा के प्रति

बजे वीण के तार कि सहसा जन-जन में नवरस लहराया
स्निग्ध प्राण, मादक गुंजन सुन शुष्क अंकुरित जर्जर काया
आयी एक लहर सहसा लो, भक्ति-सिन्धु हो उठा तरंगित
दूर साधना—व्योम-बीच तू एकाकी शशि-सी उद्भासित
विहग-बाल-से मुक्त प्राण वेदना-भार से उन्मन उन्मन
भक्ति, काव्य, सौंदर्य-शिखासे द्योतित, अमर हुआ कवि-जीवन
सजल अश्रुकण बने तरल नयनों के मृदु शृङ्गार मनोरम
तारक-दीप्ति अनिंद्य, अमन्द बनी अधरों के हास मृदुलतम
धवल ज्योत्स्ना-स्नात-प्राण तेरे निशिदिन आकाश-विहारी
मधुर स्वप्न-शय्या शायित तन्द्रिल, उन्मद, कल्पना-कुमारी
नभ की व्यापकता लघु उरमें, शशि का हास अधर पर संचित
अलकासी नयनाभिराम छवि, स्वरमें भक्ति-गीत चिर मुखरित
निर्झर का प्रवाह वाणी में, शैल-शिखर का ओज चिरंतन
भावुकता दी प्रकृति-सुन्दरी ने, अक्षय तव मानव-जीवन
बिखरे अश्रु नयन से तेरे—भक्ति-स्रोत, गीतों की लड़ियाँ
पा जिसका कण मात्र एक हो उठी धन्य मानव की दुनिया
चिर अगेय भी गेय व्यक्त जग के रहस्य तेरी वाणी में
खुले प्रकृति के भेद सभी प्रेमाकुल नयनों के पानी में
नवोल्लासमय प्राण, अरुण अधरों पर जय के गान प्रकम्पित
'मोरे तो गिरधर गोपाल' की मंगल वाणी से जग गुंजित
अमर काव्य-सौष्ठव-प्रतिभा यह अमर सत्य-शिव-सुंदर गुंजन
अमर सभी तेरी विभूतियाँ धन्य अमर तेरा कवि-जीवन

—उपेन्द्र

बन्दौं कलि-मल-हरणी मीरा !

हे, गंगा से पावन मीरा
लो श्रद्धा के ये पुष्प चार
सौरभ है जिनमें श्याम नाम
परिमल है अन्तर की पुकार

सतयुग में था तप का महात्म्य,
त्रेता में, हरि रामावतार
द्वापर में प्रगटे श्याम रूप
कलि में मीरा दुःख-हरण-भार

भारत का गौरव पूर्ण भाल
नत हुआ न, बीते युग अपार
आये कितने दुर्दिन कराल
पर सके न संस्कृति को संहार

बीते कितने दिन, बता व्योम
प्रगटी मीरा शुभ पुण्य रूप
करने पतितों का पुनरोद्धार
आई गंगा धर अन्य रूप

अब मानवता को त्राण मिला
सौरभ से राजस्थान खिला
अन्तर पावन गायन के स्वर से
अविचल वह पाषाण हिला

जड़ मानव हिंसा का प्रतीक
पर सका न पावन प्रेम देख
कर दी विनास की तैयारी
विधि का रे, निर्मम कर्म-लेख

राणा ने भेजी विष प्याली
मीरा ने प्रमुदित पान किया
पर पावन प्रेम पियूष बीच
विष ने अमृत का रूप लिया

मीरा की निश्चल भक्ति देख
यश भिक्षुक बन कर आ बैठा
अन्तर कविता संगीत बनी
पाषाण, श्याम बन नाच उठा

चित्तौड़ दुर्ग के शिला खण्ड
है जबतक राजस्थान हरा
भारत के जन-गन उर अंकित
है गिरधर नागर की मीरा

वृन्दावन की वह घनी छाँव
वंशीवट हरि प्रियवर ललाम
कालिन्दी की निर्मल धारा
जपती मीरा का मधुर नाम

साकार भक्ति, राधा स्वरूप
घनश्याम रूप, महिमा अपार
हे प्रेम मूर्त्ति पावन मीरा
चरणों पर नत कवि बार-बार

—प्रकाश बी. ए.

पदावली

'पदावली परिचय'

धर्मप्राण भारत भूमि में मीरा बाई ने चारसौ साल पहले जन्मग्रहण करके भी जो लोकप्रियता प्राप्त की वह असाधारण है। आज भी उनके भक्तों की संख्या जो इस विशाल देश के कोने कोने में पाये जाते हैं, अगणित है। गिरधर नागर के रंग में शराबोर मीराबाई कृष्ण भक्तों को जितना अणुप्राणित करती हैं, काव्य-मर्मज्ञों को उससे कम नहीं। यह सब कुछ होते हुए भी निस्संकोच कहना ही पड़ेगा कि उन्होंने कब क्या कहा और क्यों कहा की छानबीन अभी होनी बाकी ही है। भारत की विविध भाषाओं में उनके प्रचलित पदों के अनेक संग्रह प्राचीनतम काल से लेकर आज तक हुए हैं। विदेशी विद्वान और जिज्ञासु भी उनकी ओर बिना आकृष्ट हुए न रहे। टाड, विलसन, ग्रियर्सन, मेकालिफ इत्यादि न जाने कितने नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होने मीरा के विषय में अपनी विविध कृतियों में अनेक प्रकार की चर्चा की है। मध्य और आधुनिक काल के साहित्य का अध्ययन करने वाले प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों ने भी अपने-अपने क्षेत्र में और अपनी-अपनी भावना के अनुसार मीराबाई के सम्बन्ध में चर्चा की है।

इस ओर हमें अपने देश के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता आदरणीय मुंशी देवी प्रसाद, महामहोपाध्याय पंडित गौरी शंकर हीराचन्द ओझा प्रभृति विद्वानों का चिर ऋणी रहना होगा, क्योंकि इतिहास पक्ष की- उलझी हुई मीराबाई की जीवन कथा को उन्होंने बहुत कुछ सुलझा डाला। किन्तु विविध भारतीय भाषाओं में प्रस्तुत की गयी मीराबाई की दर्जनों पदावलियां जो संग्रहीत होकर अब तक हमारे सामने आयी हैं उनसे सन्तोष नहीं होता। हिन्दी में अब तक

लगभग सत्ताइस संग्रह प्रकाशित होकर देखने में आये। गुजराती के प्रसिद्ध काव्य-संग्रह 'काव्य दोहन' के अतिरिक्त छः और संग्रह देखने को मिले। बंगला के भी दो संग्रह प्राप्त हुये। इन सबों में पदों की संख्या छब्बीस से लेकर पांच सौ तक पहुंचती देख पड़ी; किन्तु इन विविध साहित्य प्रेमी जनों में से एक का भी यह दावा नहीं कि उसके संग्रह का आधार प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों पर हो। इससे यह अनायास स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त सारे संग्रह विविध स्थानों में प्रचलित जन साधारण द्वारा गाये जाने वाले विविध रूप और प्रकार के पदों के ही संग्रह हैं। उत्त-रोत्तर प्रस्तुत किये जाने वाले संग्रहों को देखने से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वे सब अपने पूर्व प्रकाशित संग्रहों के ही नवीन एवं काट-छांट युक्त परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण हैं। स्थल-स्थल पर कुछ नवीनता लाने के लिये सम्पादक के स्वयं सिद्ध अधिकार का प्रयोग बिना किसी हिचकिचाहट के किया गया है। इन प्रयासों से यदि किसी अंश तक परिमार्जन या लालित्य सौष्ठव सिद्ध होता तो भी ठीक था, किन्तु इसका परि-चय कम मिलता है। अधिकांश संग्रहों में "जनम मरण का साथी" की प्रवृत्ति मिलती है। यद्यपि डाकोर की प्रति में मूल पाठ है 'जणम जणम रो साथी।' संग्रहकर्त्तागण शायद उस हस्तलिखि प्रति से परिचित नहीं थे। किन्तु जहां उन्होंने अपने अधिकार से अनेक परिवर्तन कर डाले हैं वहीं यदि उसी अधिकार से स्वयं अपनी ही बुद्धि से 'जनम मरण' के स्थान पर 'जणम जणम का साथी' लिख देते तो न केवल शुद्ध पाठ प्रस्तुत करने के श्रेय के ही भाजन होते वरन् इससे उनकी साहित्यिक रुचि और दृष्टि का परिचय भी अनायास मिल जाता। 'जनम मरण' और 'जणम जणम' के पाठों में कितना अन्तर है, कहने की आवश्यकता नहीं। यह सेवा भी जो हमारे संग्रह-कर्त्ताओं ने की है आदर के योग्य है, किन्तु आज के इस युग में जब हिन्दी

भाषा, उसका साहित्य, तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है और भारत जैसे स्वाधीन विश्वविश्रुत ज्ञान गुरु गौरव-शाली राष्ट्र का प्रतीक बनकर संसार के साहित्य से होड़ लेने चल रहा हो, उस समय हमारे देशका प्राचीन अमर साहित्य अधिक वैज्ञानिक ढंग की खोजके आधार की अपेक्षा करता है।

यह माना कि हमारे देश की भक्तिकालीन विभूतियाँ अपनी कृतियों को लेखबद्ध करने की चेष्टा प्रायः नहीं किया करती थीं या शायद इने गिनों को छोड़कर उनकी यह परम्परा ही नहीं थी। किन्तु फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके सन्देश भक्त जनों के द्वारा ही सही, लेखबद्ध होकर सुरक्षित तो रहते ही थे। मीराबाई ने भी शायद अपने पदों को स्वयं न लिखा होगा किन्तु उनके द्वारा विविध अवसरों पर गाये गये उनके पद प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में देश के विविध भागों में और विदेशों के संग्रहालयों में अवश्य वर्तमान हैं। हमारे संग्रहकर्त्तावृन्द यदि इस सामग्री के उपयोग करने का उद्योग कर लेते तो कदाचित साहित्य की सेवा और अच्छी बन पड़ती; समीक्षकों की मीरा-साहित्य विषयक समीक्षा भी अधिक प्रौढ़ और सुलझी हुई सामने आ सकती।

सन् १९३४ ई० २९ दिसम्बर को मुझे देश के पश्चिमी भाग बम्बई, बड़ौदा, द्वारका, डाकोर इत्यादि की ओर भ्रमण करने का कलकत्ता विश्वविद्यालव की कृपा से अवसर प्राप्त हुआ था। यह यात्रा तीर्थ की भावना से कम, एक साहित्यिक पथिक के कौतूहल से ही अधिक की गयी थी। डाकोर में मुझे कुछ विशिष्ट साहित्यिक व्यक्तियों के दर्शन करनेका सुयोग अपने मित्र श्री मायाशंकर दीनदयाल जी मेहता के सौजन्य से प्राप्त हुआ था। उन्ही अनेक विशिष्ट व्यक्तियों में एक गुजराती दम्पति से भेंट हुई जिनका नाम था श्री गोवर्द्धन दास जी भट्ट। इनके पूर्वज द्वारकाधीश के मन्दिर के प्रधान

सेवकों में से थे। ये स्वयं बहुत दिनों तक बम्बई की किसी इन्श्योरेन्श कम्पनी की चाकरी में जीवन व्यतीत करके अब अवकाश ग्रहण कर चुके थे। पति और पत्नी भगवद्भजन और साहित्य चर्चा में ही अब अपना समय व्यतीत कर रहे थे। श्रीमती भट्ट इस समय भी अपनी संगीत पटुता के लिए प्रसिद्ध थीं। किसी ज़माने में वे स्वयं काव्य रचना भी करती थीं। दर्शनोन्मुख पाण्डित्य के साथ ही भट्ट-दम्पति की काव्य जिज्ञासा अद्भुत साधना थी। उनके संग्रह में गुजराती मराठी, संस्कृत और हिन्दी की प्रकाशित और हस्तलिखित सुन्दर पुस्तकें तो थीं ही, उड़िया और तामिल के भी कुछ हस्तलिखित ग्रंथ वहां देखने में आये। उनका यह साहित्यानुराग सराहनीय था।

उन्हीं के संग्रह में मुझे दो पोथियाँ मीराबाई के पदों की देखने को मिली। दोनों देवनागरी मिश्रित गुजराती लिपि में थी। एक की तिथि सम्वत् १६४२ थी और दूसरी की जिसमें नागरी लिपि के अक्षर कम थे गुजराती के अधिक, स० १८०५ की थी। १६४२ वाली प्रति में केवल ६६ पद थे, किन्तु १८०५ वाली प्रति में १०३ पद संग्रहीत थे। उन्हीं के द्वारा मुझे सूचना मिली थी कि किसी समय उनके काशी प्रवास में वे डा० श्यामसुन्दरदास जी से भी मिले थे और उन्हीं के अनुरोध से डा० श्यामसुन्दर दास जी ने नागरी प्रचारिणी सभा काशी, की ओर से मीरा के पदों का एक आधारयुक्त संस्करण प्रकाशित करने की योजना की थी। दोनों प्रतियों की प्रतिलिपियां डा० श्यामसुन्दरदास जी को उनके द्वारा भेंट की जा चुकी थीं। साहित्य सम्मेलन के पिछले काशी अधिवेशन के समय डा० श्यामसुन्दर दास जी ने मुझ से भी भट्ट जी का जिक्र किया था। सम्वत् १८०५ वाली प्रति जो उन्हें श्रीयुत भट्ट जी के द्वारा भेंट की गयी थी वह भी उन्होंने मुझे दिखाई थी, किन्तु सम्वत् १६४२ वाली प्रति उस समय

आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल देख रहे थे। भट्ट जी की कृपा से मुझे भी उपर्युक्त दोनों ही संग्रहों की प्रतिलिपियां मिल चुकी थीं इसके उपरान्त में निरन्तर मीरा के पदों की हस्तलिखित प्रतियों की खोज में व्यस्त रहा। सन् १९४२ तक लगभग सोलह हस्तलिखित संग्रह देखने में आये। चार काशी में, दो कानपुर में, दो रायबरेली में, तीन मथुरा में और शेष पांच उदयपुर और जोधपुर के निवासी कुछ साहित्यिक मित्रों के द्वारा। किन्तु ये सभी प्रायः अट्ठारहवी सदी के थे। विदेशों के संग्रहालयों के सूची पत्रों से बाहर अन्य हस्तलिखित प्रतियों का पता चला किन्तु द्वितीय महायुद्ध की परिस्थिति तथा अधिक व्ययसाध्य व्यापार होने के कारण उनके या उनकी 'फोटो स्टेटिक' (Photo static) प्रतिलिपियों के दर्शन तो हो न सके केवल उनके विषय में जानकारी से ही सन्तोष करना पड़ा। उनकी तिथियों से भी ज्ञात होता है कि वे प्रायः सब अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की ही हैं।

इन विविध देशी और विदेशी हस्तलिखित प्रतियोंमें संग्रहीत पदों की संख्या (डाकोर की सर्व प्राचीन हस्तलिखित प्रति को छोड़ कर) प्रायः ९६ से लेकर १२४ तक है। राजस्थान और कानपुर की प्रतियों में भी पदों की संख्या १०३ से लेकर १२४ तक मिली; किन्तु उनमें से अधिकांश के प्रक्षिप्त तथा पिष्टपेशित होने की सम्भावना इतनी स्पष्ट है कि सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। कानपुर की दो प्रतियों में से एक जिसके दर्शन मुझे अपने परम मित्र बेहटा निवासी पंडित शिवदास जी अवस्थी की कृपा से हुए थे, अधिक प्राचीन तथा प्रामाणिक जान पड़ी। इसी प्रकार काशी के सेठ लाला गोपालदास के प्रसिद्ध संग्रहालय में मीरा की जो प्रति सुरक्षित है वह भी 'नागरी प्रचारिणी' के संग्रहालय की तीनों प्रतियों से (जिन्हें मैंने डा० श्याम सुन्दर दास जी के पास देखा था) अधिक प्रमाणिक जान पड़ी। उपर्युक्त कानपुर की तथा इस प्रति में एक सौ तीन-तीन पद हैं और आश्चर्य तो यह है कि दोनों ही प्रतियों में पदों का

क्रम भी बिलकुल एक सा है। लिखावट और अक्षरों में भिन्नता काफी है, दोनों ही सम्वत् १७२७ की लिखी हुई हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि दोनों का मूलस्रोत एक रहा हो। सेठ जी के पूर्वज बड़े विद्याव्यसनी थे। उनके यहां संस्कृत और हिन्दी के अगणित ग्रन्थ-रत्न हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में सुरक्षित हैं। जिल्दें मखमली तथा अन्य प्रकार की सजावट से युक्त हैं! इन्हीं के यहां सूरसागर का एक प्राचीन और प्रसिद्ध हस्तलिखित संग्रह भी चार भागों में मखमली जिल्द से युक्त देखने में आया और भगवद्गीता का एक अति प्राचीन सुरम्य चित्रों से युक्त गुटका भी देखा। मित्र वर शिवदास जी अवस्थी की प्रति में लिखने की अशुद्धियां अधिक हैं। इसीलिए पदावली एक होते हुए भी संग्रह में मैंने काशी की प्रति का ही उल्लेख किया हैं और जहां डाकोर की प्रति का उल्लेख है वहां प्राचीन (सम्वत् १६४२ वाली) प्रति से ही अभिप्राय है।

डाकोर वाली प्रति में जो पद संग्रहीत हैं वह प्रायः सभी प्रतियों में हैं, किन्तु विविध पाठभेदों के साथ। इस प्रति का विस्तृत इतिहास जो श्री भट्ट महोदय ने बताया था उसका सार कुछ इस प्रकार है कि मीराबाई जब मेड़ते से वृन्दावन की ओर चलीं तो उनके साथ कृष्ण भक्तों का एक बड़ा समूह तो था ही; किन्तु उनकी वह दासी जिसका नाम ललिता था जो प्रायः बाल्यकाल से ही अनुचरी के रूप में छाया की तरह सुख और संभोग; दुख और विपत्ति में भी हर जगह उनके साथ रहती थी, रुग्न होती हुई भी उनके साथ हो ली। यह अवस्था में उनसे कुछ बड़ी थी। यों तो वह राजकुल की दासी थी किन्तु मीरा पर उसकी भक्ति और स्नेह वात्सल्य और सख्य का एक अद्भुत मिश्रण था। उसकी रुग्नावस्था के कारण साथ न चलने के लिये उससे बहुत कुछ कहा गया किन्तु उसका विश्वास था कि मीरा से पृथक उसका जीवन असम्भव है। मीरा भी उसे सहसा छोड़ न सकती

थीं। वृन्दावन पहुंचते ही वह केवल अपने दमे के रोग से ही मुक्त न हो गयी वरन् उसी के शब्दों में—

'जोग जतण ना म्हारो कोई स्याम तुम्हारी माया;
वृन्द्राबणरो दरसण पायाँ कंचन हो गयी काया।'

उसे तो काञ्चन कायां मिल गयी; जीवन पर्यन्त वह मीरा के साथ ही रही। कहा जाता है कि रणछोड़ के मन्दिर में जिस दिन मीरा ने समाधिस्थ होकर अपना शरीर छोड़ा था उसकी पहली ही रात्रि में नव विवाहिता का सा शृङ्गार करके वह मीरा के सामने उपस्थित हुई थी और उन्हें अन्तिम प्रणाम करके समुद्र की लहरों में समा गयी थी। वह शायद संकेत था मीरा के लिये कि उनकी चिर-वेदना भी अपनी अवधि को प्राप्त कर चुकी थी। तपस्या पूर्ण हो चुकी थी चिर संयोग की घड़ी प्रभात की किरणों का मार्ग जोह रही थी। यही वह दासी थी जो मीरा के पदों को लेखबद्ध करके सुरक्षित रखती थी। वह प्राचीन ललिता द्वारा लिखी प्रति रणछोड़ के मन्दिर के खजाने में बहुत दिनों तक सुरक्षित रही। उस प्रति के लोग दर्शन करते थे और उसकी पूजा करते थे। मन्दिर में उपासना के विविध अवसरों पर मीरा के पदों के गाये जाने की क्रमबद्ध अटूट परम्परा थी। एक भक्त ने अपनी भक्ति के उद्रेक में उस पोथी को सोने और जवाहिरातों से मढ़वा दिया था। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में गुजरात के किसी मुसलमान शासक ने जब उस अंचल में उत्पात मचाया था और रणछोड़ जी के मन्दिर के खजाने को लुटा था उसी समय रत्नों और सुवर्ण के लोभ से प्रेरित होकर इस पोथी को भी उठा ले गया था; किन्तु उसी शासक की दूसरी पीढ़ी में नानालाल भगतमल नामक एक प्रसिद्ध व्यक्ति दीवान हुए थे। उनकी कृपा से सुवर्ण और रत्नों से विहीन यह पोथी किसी प्रकार सुरक्षित होकर रणछोड़ जी के

मन्दिर को फिर प्राप्त हो गयी थी और शायद् अभी तक वह वहां है। भट्ट जी की प्राचीन पोथी इनके पूर्वजों द्वारा इसी मूल प्रति के आधार पर सम्वत् १६४२ में लिखी गयी थी। गृहस्थी के कुछ झगड़ों के कारण किसी समय भट्ट जी के पूर्व पुरुषों का यह समृद्ध और सम्मानित कुल दुर्दिनों का शिकार हो गया था और इसीलिए शायद् गृहस्थी की अन्य वस्तुओं के साथ संग्रहीत बहु-मूल्य पोथियों की भी देख-रेख ठीक तरह से न हो सकी जिसमें भट्ट जी के ही शब्दों में न जाने कितने ग्रन्थ रत्नज्ञान सागर के गर्त्त में समा गये होंगे, जो कुछ बचा था वह मेरे सामने उप-स्थित था। मीरा की यह प्राचीन प्रति (सम्वत् १६४२ वाली) सुरक्षित अवश्य थी, अक्षर भी भली भाँति पढ़े जा सकते थे। लगभग ७॥"—३॥" के आकार की यह छोटी सी पोथी अपनी जीर्णा-वस्था का पूर्ण परिचय दे रही थी। पन्नों के कोने प्रायः टूटे हुये थे जिससे पदों की किसी क्रमबद्धता का निर्धारण अधिक सम्भव नहीं था। कुछ को छोड़कर प्रायः प्रत्येक पन्ने पर दो-दो पद थे। प्रस्तुत संग्रह में जो पदावली भेंट की जा रही है वह मूलतः पाठों और क्रम में डाकोर की ही प्रति के आधार पर है। चेष्टा यह की गयी है कि शब्दों का वर्ण-विन्यास भी मूल के ही आधार पर रक्खा जाय। इससे सम्भवतः कहीं-कहीं व्याकरण विषयक अशु-द्धता के दोष का सन्देह होगा किन्तु इस ओर यह भी ध्यान रखना होगा कि प्रसिद्ध विद्वान टेसीटरी के मतानुसार मध्यकाल में राजस्थान और गुर्जर प्रदेश की भाषाएं बहुत मिली जुली थीं। अतः विशुद्ध राजस्थानी व्याकरण की कसौटी उपयुक्त न होगी; साथ ही चार सौ वर्षों पहले की भाषा में प्रचलित प्रयोग शायद् आज नहीं भी रह सकते। ६६ पद जैसा ऊपर कहा जा चुका है प्रायः सभी प्रकाशित और अप्रकाशित संग्रहों में पाठ भेदों के साथ और भाव भेदों के साथ तो मिलते ही हैं, इनके अतिरिक्त जो पद काशी

और कानपूर वाली प्रति में प्राप्त हुये थे वे भी अविकल रूप से पृथक सूचना के साथ यहां दिये गये हैं।

इनके अतिरिक्त विभिन्न संग्रहों में मीरा के नाम पर जो और सैकड़ों पद चालू किये जा रहे हैं उन्हें जान-बूझ कर छोड़ दिया गया है। यदि आंख खोल कर उनकी थोड़ी सी भी समीक्षा की जाय तो समझने में देर न लगेगी कि ये लगभग चार सौ प्रक्षिप्त पद अपने अस्तित्व के लिए चार कोटि के भक्तों के ऋणी हैं। (१) कुछ पद मीरा के नाम पर विविध वैष्णव भक्तों के द्वारा गाये जाते हैं जिनका आधार सचमुच ही मीरा का ही कोई न कोई पद होता है। आधारयुक्त मूल पदावली की प्रायः दुष्प्राप्यता इस कोटि के भक्तजनों को बाध्य करती थी कि अपनी स्मरण शक्ति से ही काम लें। भक्तों में निरक्षरों की संख्या भी कम नहीं, और न सब समान रूप से मेधावी ही होते हैं। अतः स्थल स्थल पर कड़ियां भूल जाना असम्भव नहीं। किन्तु उच्चकोटि के भक्तों की आत्माभिव्यक्ति सरसता के साथ प्रायः सरल ही होती रही है। यह नैसर्गिक गुण इन भक्त जनों की अनायास सहायता कर देता है। मिलती-जुलती भूली हुई कड़ियां जोड़कर पद पूर्ण कर लिया जाता है और प्रचलित भी हो जाता है। कालान्तर में यही पद एक नवीन पद की सत्ता से विभूषित हो जाता है।

दूसरे भक्तजन उस कोटि के हैं जिनकी मेधा-शक्ति पहलों से भी कम है। समझदारी का उनका दर्ज़ा भी न्यूनतर ही है। वे अपने भावोद्रेक में दो-दो चार-चार पदों की भिन्न कड़ियों को जैसी जो जब याद पड़ी जोड़कर नये पदों की सृष्टि कर डालते हैं। कहीं कहीं अन्य प्रसिद्ध भक्तों द्वारा रचित प्रसिद्ध पदों की कड़ियां उठाकर पदों में जोड़ लेना और अन्त में 'मीरा के प्रभु गिरधर नागर' की छाप के साथ गा देना भी उनकी प्रथा है। जैसे— पद संख्या ११ 'मीरा माधुरी' "जाको रचत मास दस लागै" इत्यादि

कबीर की प्रसिद्ध पंक्ति 'साईं को सीयत मास दस लागे' का ही अवतरण है। सूर तथा अन्य कृष्ण भक्तों की कड़ियां तो और भी आसानी से खप जाती हैं; क्योंकि मीरा भी तो कृष्ण की भक्त थीं। उदाहरण प्रचुर हैं, कोई संग्रह उठाकर देखा जा जकता है।

तीसरा भक्त समुदाय उपर्युक्त दोनों से भिन्न है। 'पंथ मार्ग पूछै को भाई, हर को भजै सो हरि, पहं जाई, (व्यङ्गोक्ति, जाति पांति पूछै ना कोई, हरि का भजै सो हरि का होई) अभिन्नता की शुद्ध भावना से प्रेरित होकर तो कम, किन्तु शायद अपने सम्प्रदाय-विशेष की महत्व-घोषणा के मोह से अधिक, प्रेरित होकर यह भक्त-समुदाय इसी चेष्टा में रहता है कि जैसे बने वैसे हर प्रसिद्ध भक्त को अपने ही मार्ग का या सम्प्रदाय का सिद्ध कर दिया जाय। उक्तियों में यदि इसके लिये कुछ थोड़ा सा फेर फार भी कर देना पड़े तो कोई पाप नहीं, कोई अन्याय नहीं। दलील उसकी यह होती है कि इस प्रकार भी भक्त की प्रसिद्धि में, उसकी लोक-प्रियता में चार चांद ही तो लगते हैं। उस भक्त की लोक-प्रियता बढ़ती या न बढती हो किन्तु इस प्रकार की कुचेष्टा मुमूर्षु जनों के मार्ग में कठिनाई अवश्य उपस्थित कर देती है।

चौथी कोटि का भक्त समूह इन तीनों से अधिक भयंकर है; क्योंकि वह विविध कोटि के पाण्डित्य का दावा करता है और पक्ष विशेष के अपने समर्थन के बल को भी जानता है। यद्यपि प्राचीनकाल से ही पाण्डित्य का परम आदर्श सत्यान्वेषण माना गया है किन्तु यह पण्डित-समुदाय 'जो मैं कहूं सो हक़ है' का उपासक है।

उपर्युक्त चारों प्रकार के भक्तों ने कम से कम मुद्रण-युग के पहले तक के भारतीय साहित्य में तो न जाने कितनी समस्याएं खड़ी कर दी हैं। मीराबाई भी इनका शिकार हुये विना न बचीं। इनकी उक्तियों में उलट फेर करने की सुविधा अपेक्षाकृत और अधिक

थी क्योंकि इन्होंने स्वयं तो शायद् कुछ भी लेखबद्ध किया ही नहीं। प्रचार देशव्यापी था इसलिये परिवर्त्तन-प्रिय भक्त समुदाय को भाषा की छूट मिली मिलायी थी; भावनाओं में रुचि और उद्देश्य के हिसाब से अद्ल-बद्ल कर लेना इन भक्तों का जन्म सिद्ध अधिकार था, फिर कसर क्यों रहती?

इनसे शिकायत भी क्या? किन्तु जिन विविध प्रकाशित मीरा के पदों के संग्रहों का उल्लेख आदि में किया गया है उनके यशस्वो संग्रहकर्त्ता दो चार को छोड़कर प्रायः लब्धप्रतिष्ठ विद्वान और विदुषियां हैं। उनके प्रयास देखकर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपने-अपने संग्रहों की सामग्री प्रस्तुत करते समय उन्होंने अपनी समीक्षा शक्ति से भी काम लिया है। यदि संग्रहीत पदों के अध्ययन में थोड़ी सी भी गवेषणात्मक बुद्धि खर्च की जाती तो मीराबाई विषयक काव्य, तत्व, एवं संगीत-मर्म सम्बन्धी गवेषणा अधिक शुद्ध और पुष्ट सम्भव होती।

दृष्टान्तरूप से कुछ उदाहरण पेश किये जाते हैं। उपर्युक्त विविध प्रकाशित मीरा की पदावलियों में गुरु, राम, रमैया इत्यादि को सम्बोधित करके न जाने कितने पद मीरा के मत्थे मढ़ दिये गये हैं 'श्याम' को 'राम', 'सांवलिया' को 'रमैया' में बदल देना कुछ कठिन नहीं। आवश्यकतानुसार श्याम या सांवलिया को सम्बोधित करके कहे गये मीरा के पदों में सन्त मार्गीय भावना की कुछ कड़ियां भी जोड़ दी गयी हैं। ऐसे प्रयासों को अनायास हो जाने वाली भूलों में नहीं गिना जा सकता। यह स्पष्ट चेष्टा थी मीराबाई को सन्त मार्गानुगामिनी सिद्ध करने की। बहुत सम्भव है इसी दृष्टि से 'गुरू मिल्या रैदास' इत्यादि पद भी मीरा के सर मढ़े गये होंगे। जरा निम्नलिखित पद को देखिये—

माई मोरे नयन बसे रघुबीर,
कर सर चाप कुसुम सर लोचन ठाढ़े भये मन धीर;

ललित लवंग लता नागर लीला जब देखो तब रणधीर।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर बरसत कंचन नीर॥
('मीरा माधुरी' पद, २५६)

यह पद एक या दो संग्रहों में नहीं, हिन्दी के तो न जाने कितने प्राप्त संग्रहों में देखा जा सकता है। विद्वान संग्रहकर्त्ताओं ने इस प्रकार के कितने ही पदों को अपने-अपने संग्रहों में स्थान देकर अपनी भी मुहर सी लगा दी है; और साधारण जनों के लिये चारा ही क्या रह जाता है कि वे इन पदों को मीरा का न माने। गिरधर नागर की विरहिणी मीरा रघुबीर के बिरह में व्याकुल चित्रित की गयी हैं। क्या यह भी नये सिरे से सिद्ध करना होगा कि मीरा की भक्ति 'कान्त भाव' की थी? कृष्ण को छोड़कर यह कान्त भाव की भक्ति क्या मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र के साथ भी जोड़ी जा सकती है? उनकी विरहिणी जहां तक संसार जानता है केवल सीता ही हो सकती हैं—और थीं भी। शायद कुछ इनी गिनी बौद्ध—जातकों की कथाओं को छोड़कर और कविवर केशव के काव्योन्माद के कुछ स्थलों को छोड़कर अन्यत्र बाल्मीकि से लेकर 'साकेत' तक राम का चरित्र मर्यादापुरुषोत्तमता के परम पवित्र रूप में ही चित्रित हुआ है। भारत के असंख्य भक्तों में कदाचित एक भी उदाहरण ऐसा पेश नहीं किया जा सकता जिसने राम को किसी और रूप में देखा हो; तब मीरा की इस 'कान्त भाव' की भक्ति का नाता राम के साथ जोड़ने की चेष्टा क्या अर्थ रखती है? इससे न तो मीरा की भक्ति का उत्कर्ष ऊंचा उठता है और न राम की पतितपावनता ही अधिक निखरती है। इसे तो यदि भ्रष्ट प्रयोग ही कहा जाय तो अनुचित न होगा।

सम्भव है दलील यह दी जाय कि एक सच्चा भक्त ईश्वर के विविध रूपों में भेद नहीं मानता और 'तुलसी मस्तक तब नवै, जब धनुष बान ल्यो हाथ' वाली प्रसिद्ध घटना को मिथ्या सिद्ध

करने के लिये तुलसी द्वारा रचित 'कृष्ण गीतावली', 'पार्वती-मंगल' 'केशव कही न जाय का कहिये', शंकर, गणेश और पवनसुत की वन्दना के अनेक स्थलों का हवाला दिया जाये; किन्तु यह तर्क भी उपर्युक्त भ्रष्ट चेष्टाओं की सफ़ाई न दे सकेगा।

यह ठीक है कि उच्चकोटि के भक्त भेद-दृष्टि से मुक्त होते हैं; उनका शील, उनकी विनय और समझदारी का उनका ऊँचा स्तर इष्टेतर के प्रति किसी द्वेषपूर्ण भावना की गुंजाइश नहीं छोड़ता; किन्तु भक्ति मार्ग में अपने इष्ट के प्रति एकान्तिक भावना का निर्देश भरपूर और सर्वमान्य है। दूसरी बात यह भी ध्यान में रखनी होगी कि इष्ट निर्णय 'पंचभक्ति' की कोटि के आधार पर ही स्थिर हुआ करता है, जिनमें इष्ट की अदला-बदली सम्भव नहीं; अन्यथा भक्त की पथ भ्रष्टता अवश्यम्भावी है। एक निष्ठता ही तो उसकी सिद्धि का आधार है। इसके समर्थन में केवल दो प्रसिद्ध प्रमाण देना ही पर्याप्त होगा। वैष्णव वर्ताओं में वल्लभ सम्प्रदाय के रामदास नामक भक्त की मीरा से भेंट के प्रसंग में उल्लेख किया गया है कि भक्त रामदास के द्वारा वल्लभाचार्य की वन्दना के पद के गाने पर मीरा ने तीव्र आपत्ति की थी। इसी प्रकार चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता में उल्लेख है कि वल्लभकुल के प्रसिद्ध भक्त कृष्णदास शूद्रने मीराबई की श्रीनाथ जी के लिये दी गयी भेंट को स्वीकार करने से इसलिये इन्कार कर दिया था कि वे वल्लभ-सम्प्रदाय की नहीं थीं। किन्तु उल्लिखिति प्रसङ्गों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वैष्णव भक्त सम्प्रदाय के उच्च स्तर में भी एक प्रकार की कट्टरता केवल वर्तमान ही नहीं थी वरन् नितान्त अपेक्षित सी थीं। रामदास वाली घटना से स्पष्ट है कि मीराबाई भी इस प्रकार के सम्प्रदायिक निर्देशों की—अपनी परम उदारता और सौजन्यता के बावजूद भी—क़ायम थीं। इस प्रकार की पाबन्दी का निर्देश या प्रचलन किसी प्रकार द्वेषभाव की संकीर्णता पर आधारित नहीं था

वरन् भक्ति मार्ग में चरम अभीष्ट एकान्तिकता की साधना के निमित्त ही था।

हाँ, अब उपर्युक्त सफ़ाई की भी थोड़ी सी समीक्षा आवश्यक है। तुलसी, सूर इत्यादि देश के अगणित भक्त सभी वन्द्य एवं पूजनीय हैं। अपने-अपने ढंग से अपने-अपने इष्ट की भक्ति इन सभों ने की और अलौकिक सिद्धियां भी प्राप्त की। राम की अपेक्षा शायद कृष्णभक्तों की संख्या भी बहुत अधिक है; किन्तु तुलसी की तो बात ही क्या, कृष्ण-भक्तों में भी मीरा का स्थान अपना अलग है। मीरा को छोड़कर राम और कृष्ण के प्रायः सभी भक्तों की कृतियों की यदि समीक्षा की जाये तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि वे राम और कृष्ण को इष्ट मानते हुए उनके व्यक्तित्व के उपासक तो थे ही; किन्तु उनकी विविध लीलाओं की उपासना भी उनकी उपासना का अंग था। लेकिन मीरा का सम्बन्ध सीधा उनके इष्ट के व्यक्तित्व से ही था। लीला कीर्तन उनकी उक्तियों में नहीं के ही बराबर है। दो एक स्थलों पर गज, गणिका और अजामिल का उल्लेख यदि किया भी गया है, तो इष्ट की पतित पावनी शक्ति को अभिमन्त्रित करने के लिये। स्पष्ट भेद दोनों में यह है कि अन्य भक्तों की भक्ति यदि 'परसंवेद्य' प्रधान होती हुई (objectivity) 'स्वसंवेद्य' (subjective) थी, तो मीरा की आद्योपान्त नितान्त 'स्वसंवेद्य' (Subjetive) ही थी। इस नाते यदि तुलसी ने कृष्ण, शिव, और पावर्ती की यदा कदा आराधना की तो कर सकते थे; किन्तु मीरा का मार्ग भिन्न था, उसमें ऐसे किसी व्यतिक्रम की सम्भावना नहीं थी। यहीं उपर्युक्त दलील के पेश करनेवालों से एक निवेदन करना और आवश्यक है। तुलसी की भक्ति 'विनय-पत्रिका' में ही अपनी चरम सीमा को छूती देख पड़ती है और शायद विनय पत्रिका में ही शंकर पार्वती, गणेश, पवनसुत इत्यादि की आराधना भी अधिक मार्मिक रूप में प्राप्त होती है; किन्तु इस आराधना का उद्देश्य तुलसी ने स्वयं

स्पष्ट कर दिया है कि वे इन विविध देवी देवताओं से केवल यही वरदान चाहते हैं कि उनकी राम भक्ति सफल हो। तब भक्त की एकान्तिकता तो फिर एक बार सिद्ध हो जाती है। इसके सामने उपर्युक्त दलीलों का मूल्य ही क्या ?

प्रारम्भ में गुर्जर प्रदेश में प्रचलित दासी ललिता की अनुश्रुति का जो उल्लेख किया गया है नितान्त आधार-शून्य नहीं जान पड़ती। भले ही हमें कोई ऐतिहासिक प्रमाण इसका न मिले किन्तु साधारण बुद्धिजन्य कल्पना और अन्तर साक्ष्य का संकेत तो अवश्य मिलता है, जो बहुत अंशों में इसकी पुष्टि कर सकता है। राजकुल की पुत्री और प्रसिद्ध राणावंश की वधू मीरा कितनी ही वैभव शून्य हों पर नितान्त एकाकिनी शायद नहीं रह सकती थीं। साथ ही उनके कितने ही पदों में 'सखी', 'री', 'माई' इत्यादि सम्बोधन प्रयुक्त हैं। अवश्य ही ये किसी अन्तरंग सहचर की उपस्थिति प्रमाणित करते हैं। 'माई' सूचक उनके सम्बोधन पर कई बार विविध मेधावीजनों द्वारा आलोचनात्मक सन्देह प्रगट किया जा चुका है। जिसका आधार मेवाड़ कुल का इतिहास है, जिसके अनुसार मीराबाई अपने बाल्यकाल में ही मातृ-विहीना हो चुकी थीं; अतः अपनी माता को जीवन के परवर्त्ती काल में कहे गये पदों में स्मरण करना या सम्बोधित करना कुछ अप्रासङ्गिक सा जान पड़ता है। सखी वा सहचरी के सम्बोधन पर ऐसी कोई आपत्ति नहीं; यदि दासी ललिता की अनुश्रुति प्रामाणिक हो तो ये दोनों ही शंकाएं सुलझ जाती हैं। राजकुल की मीरा और वह भी भक्ति मार्गानुगामिनी, यदि अपनी चिर सहचरी ललिता दासी के साथ सखी का सा वर्ताव करती हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। साथ ही उस अनुश्रुति के अनुसार दासी ललिता अवस्था में उनसे कुछ अधिक थी। इस नाते स्नेहवश यदि 'माई' का सम्बोधन भी उसी के लिये हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं। उपर्युक्त अन्तरसाक्ष्य के अतिरिक्त ललिता विषयक अनुश्रुति की प्रामाणिकता का एक पुष्ट

बहिर्साक्ष्य भी स्पष्टरूप में प्रसिद्ध भक्त ध्रुवदास जी द्वारा लिखित 'भक्तनामावली' में प्राप्त होता है। मीरा के सम्बन्ध में उन्होंने निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखीं हैं—

"लाज छाँड़ि गिरिधर भजी करी न कछु कुल कानि।
सोई मीरा जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हू लइ बोली कै तासों हों अति हेत।
आनँद सो निरखत फिरै वृन्दाबन रस खेल॥

इस उल्लेख की तृतीय पंक्ति केवल 'ललिता' के व्यक्तित्व को ही स्थापित नहीं करती वरन् 'तासों हो अति हेत' कहकर निस्सन्देहात्मकरूप से ललिता और मीरा के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध को भी सिद्ध कर देती है। अतः गुर्जर प्रदेश में प्रसिद्ध ललिता विषयक अनुश्रुति पर अविश्वास करने का कोइ कारण नहीं जान पड़ता।

कुछ समीक्षकों ने आधार तो नहीं प्रगट किया किन्तु मीरा का पुराण प्रसिद्ध ललिता सखी के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ दिया है और किसी-किसी ने तो उन्हें ललिता सखी का अवतार भी माना है। आश्चर्य नहीं कि दासी ललिता की परम्परागत अनुश्रुति ही इस भावना का आधार हो। इस अनुश्रुति का उल्लेख करते हुए ऊपर कहा गया है कि मीरा के पद दासी ललिता के द्वारा ही लेखबद्ध किये गये थे। यदि यह ठीक है तो कल्पना करना अनुचित न होगा कि मीरा की यह दासी अपने संस्कारों के कारण शायद न भी सही, तो भी मीरा जैसी विश्व-विश्रुत भक्ति की साकार प्रतिमा के सहवास से विभिन्न असाधारण गुणों की अधिकारिणी कुछ अंशों में अवश्य ही हो गयी होगी। जिस मीरा की वाणी ने सैंकड़ो बर्षों तक अगणित जनों को भक्ति रस से रंग डाला हो, वह अमर वाणी और मीरा का वह मोहक व्यक्तित्व दासी ललिता को न रंग सके यह सम्भव नहीं। डाकोर की प्रति में प्राप्त कुछ

थोड़े से पदों में 'दासी मीरा लाल गिरधर' की छाप भी मिलती है। उन्हें देख कर सन्देह सा होने लगता है कि कदाचित ये पद मीरा के न होकर दासी ललिता के हो सकते हैं क्योंकि, उन पदों की सामग्री प्रायः मीरा के व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। इनमें से कुछ तो मीरा के उसी प्रकार के लिखे हुए अन्य पदों के प्रतिरूप या दोहरेरूप से भी जान पड़ते हैं। जो कुछ भी सही, यह सारी समीक्षा हिन्दी साहित्य में तभी सम्भव हो सकेगी, जब हमारे साहित्यसेवियों के उद्योग और परिश्रम से मूल-सामग्री अपने विशुद्ध रूप में स्थिर कर ली जायगी। प्रस्तुत संग्रह भी इसी उद्योग का एक छोटा सा प्रयास है।

भारत के मध्यकालीन प्रसिद्ध भक्तों और सन्तों की उक्तियों और रचनाओं के अध्ययन में विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनका निश्चित समय, उनकी निश्चित विचारधारा अथवा काव्यालोचना तथा उनके उक्ति-सौष्ठव इत्यादि का सर्वांगीण अध्ययन सम्भव नहीं होता। क्योंकि उनमें से कुछ को छोड़कर अधिकांश अपनी रचनाओं को प्रायः स्वयं लेखबद्ध नहीं किया करते थे। इस कारण उन रचनाओं की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह रहता ही है और किसी प्रकार के निश्चित निष्कर्ष संशय से खाली नहीं रहते। ऐसी दशा में कुछ बारम्बार प्रयुक्त विशिष्ट विचारों के आधार पर उनके दृष्टिकोण के विषय में थोड़ा बहुत अटकल चाहे लगाया भी जाय, किन्तु भाषा विषयक अध्ययन तो नितान्त असम्भव हो जाता है। मीरा के सम्बन्ध में भी यह कठिनाई कम नहीं। संग्रहों में प्राप्त उनके पदों के रूप यदि कोइ देखे तो शायद उन्हें राजस्थान की मानने में भी संकोच होने लगे। दो चार टूटे-फूटे, औंधे-सीधे, इधर उधर आनेवाले राजस्थानी शब्दों और मुहाविरों को छोड़ कर व्रज-भाषा, अवधी और कहीं-कहीं तो खड़ी बोली की भी खिचड़ी मिलती है। कारण स्पष्ट है कि इन विविध संग्रहों के पद गली-गली गाये

जांवेवालों से सुन कर बटोर लिये गये हैं। संग्रहकर्त्ताओं की कठिनाई भी इस ओर कम नहीं थी। जब तक हस्तलिखित प्रतियों का आधार लेने का कष्टसाध्य संकल्प न करते तब तक और चारा ही क्या था? किन्तु, प्रस्तुत संग्रह में जो पदावली दी गयी है और जिसका इतिहास भी दे दिया गया है, उसमें यदि कुछ भी सचाई हो, जो पदों में प्रयुक्त ओतप्रोत राजस्थानी से भी प्रतिपादित होती है; तो कम से कम मीराबाई की रचनाओं के विविध प्रकार के अध्ययन की कठिनाई बहुत कुछ सुलझ जाती हैं।

प्रायः उनके द्वारा की गयी तीन रचनाओं के नाम प्रसिद्ध हैं (१) गीत-गोविन्द की टीका (२) नरसी जी रो मायरो और (३) राग-गोविन्द। इन तथाकथित प्रसिद्धिप्राप्त रचनाओं के केवल नाम ही मिलते हैं। अभी तक किसी ने शायद इन रचनाओं के पूर्ण या अंश के दर्शन भी नहीं किये। उनके पदों को छोड़कर उपर्युक्त कृतियों के किसी प्रकार के रूप भी प्रकाशित नहीं देखे गये। मीराबाई भक्तों की उस कोटि की थीं जो काव्य या संगीत या किसी प्रकार की भी कला-साधना से कोसों दूर, केवल भक्ति साधना के निमित्त ही संगीत या काव्य का सहारा लेती थीं। इसमें शायद दो मतों की गुंजायश नहीं। ऐसी दशा में उन्होंने किसी रचना विशेष के तैयार करने में अपने को लगाया होगा यह सन्देह का ही विषय है। 'नरसी जी रो मायरो' को तो कितने ही विद्वान आधारशून्य सिद्ध कर चुके हैं। अब रही बात 'गीत गोविन्द की टीका' और 'राग गोविन्द' की। मेरा अनुमान तो यह है कि उन्होंने भी गीत गोविन्द के ही गाये थे और उनके उन्हीं गीतों को शायद भ्रमवश 'गीत गोविन्द की टीका' का नाम दे दिया गया होगा। क्योंकि, यह 'राग गोविन्द' भी तो पूर्ण या अंश में पृथक प्रकाशित या अप्रकाशित अभी तक नहीं देखा गया।

विविध प्रकाशित संग्रहों में छब्बीस से लेकर लगभग पाँच सौ तक उनके पद देखे गये हैं, इसकी आलोचना ऊपर हो चुकी है। प्रस्तुत

संग्रह में भी प्रथम ६६ पद तो डाकोर की प्राचीन हस्तलिखित प्रति के हैं और शेष ३४ पद उनके अतिरिक्त जो काशी की प्रति में पाये गये हैं—दिये गये हैं। समस्या उलझी ही रह जाती है कि परम विदुषी भक्त शिरोमणि मीरा ने जीवन भर में क्या कुल १०३ ही पद गाये होंगे ? सचमुच इसका सन्तोषजनक उत्तर देना सरल नहीं। इसी प्रकार की समस्या कविवर बिहारीलाल के विषय में भी तो है, जो आज तक नहीं सुलझी। हमें आशा करनी चाहिये कि हिन्दी के मेधावी विद्वान अपनी अप्रतिम लगन से यदि आज नहीं तो कल कदाचित इस समस्या का उत्तर ढूंढ़ ही लेंगे ; लेकिन अन्य भक्तों के प्रसिद्ध पदों को उठाकर मीरा के नाम पर मढ़ देना या उनके प्राप्त एक-एक मूल पद के बत्तीस-बत्तीस रूप गढ़ के उनकी रचनाओं की संख्या बढ़ाकर समस्या के हल कर लेने का प्रयास उचित नहीं।

इस प्रकार की गड़बड़घुसेड़ का शिकार केवल मीरा ही नहीं हैं वरन सूर तुलसी और कबीर इत्यादि भी अपने कुछ विशेष कोटि के भक्तों की ऐसी अवांछनीय पूजा और उच्छिष्ट प्रसादार्पण से अपनी विशुद्ध वाणी की सम्भाव्य अपवित्रता के खतरे से खाली न बचे। एक प्रकाण्ड विद्वान् एवं कवि ने कई वर्ष पहले कबीर की उक्तियों का एक संग्रह हिन्दी संसार को भेंट किया था। उसमें संत पितामह कबीर की वह शुद्धी की गयी थी कि यदि कबीर ही उसे देखते तो अपनी ही वाणी के विषय में वे स्वयं संदेह में पड़ जाते। इसी प्रकार तुलसी की परम प्रसिद्ध और सम्मान्य 'मानस' के कई संस्करण विविध भक्तजनों के द्वारा निकाले जा चुके हैं जिनमें राम की मर्यादा पुरूषोत्तमता स्थल-स्थल में संकटापन्न होती देख पड़ती हैं। सूरदास इस मिलावट की दल दल से आज भी नहीं उबर पाये हैं। ये सब तो पुरानी कथा है, इनसे बहुत बाद आनेवाले बिहारीलाल को ही देखिये। उनकी 'सतसई' के बीसों संस्करण प्राप्त हैं। सम्पादकगण दोहों के क्रम, पाठ और कहीं-कहीं तो चरण के चरण मनमाना बैठा लेने में संकोच का अनुभव

नहीं करते। सम्पादनकार्य इतना सरल नहीं। उच्चतम कोटि की ईमानदारी इसकी पहली शर्त है। यह माना कि प्राचीन प्रतियों में विशेषकर जब छपाई का साधन नहीं था, ग्रंथ हस्तलिखित रूपों में ही प्राप्त होते थे, अक्षर सवर्दा सुन्दर और स्पष्ट नहीं मिलते, फिर सम्पादक यदि शुद्धाशुद्ध के अपने निजी ज्ञान का सहारा न ले तो क्या करे? किन्तु इस ओर भी श्रेयस्कर नीति यह होगी कि सम्पादक को जो पाठ जिस रूप में मिले हों, मूल आवृत्ति में उन्हे वह ज्यों का त्यों रख दे और अपने सुझावों को टिप्पणी के रूप में दे दे। इसका फल यह होगा कि आगे काम करने वालों को सच्चा प्रकाश मिलेगा और शुद्धाशुद्ध के निर्णय में वह नवप्राप्त सामग्री का अधिक विवेकपूर्ण उपयोग कर सकेगा। अपने पूर्व के सम्पादकों द्वारा दी गयी टिप्पणियों का भी वह सच्चा समादर कर सकेगा और जहां तक सम्भव होगा उससे पथ-प्रदर्शन भी प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत संग्रह में इसी प्रणाली का संकल्पयुक्त अवलम्बन किया गया है। यत्र तत्र इस पदावली परिचय में विविध त्रुटियों की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। नामों का उल्लेख जान बूझकर नहीं किया गया है, क्योंकि व्यक्तिगत आलोचना अभीष्ट नहीं। यह एक छोटी सी भेंट हिन्दी संसार को समर्पित है जिस योग्य होगी वैसा ही स्थान प्राप्त करेगी।

कलकत्ता — ललित प्रसाद सुकुल

कार्तिक पूर्णिमा, २००६

मीरा पदावली

डाकोर की प्रति से—

(१)

म्हांरां री गिरधर गोपाळ दूसरां णा कूयां।
दूसरां णां कोयां साधां सकळ ळोक जूयां।
भाया छांड्या बंधां छांड्या, छांड्या सगां सूयां।
साधां संग बेठ बेठ लोक-लाज खूयां।
भगत देख्यांराजी ह्यायां, जगत देख्यां रूयां।
असवां जळ सींच-सींच प्रेम बेळ बूयां।
दध मथ घृत काढ लयां, डार दयां छूयां।
राणा बिषरो प्याला भेज्यां, पीय मगण हूयां।
अब त बात फेळ पड्या, जाण्यां सब कूयां।
मीरां री लगण लग्यां होणां हो जो हूयां॥

(२)

भज मण चरण कंवळ अबणासी।
जेताईं दीसां धरण गगण मां तेताईं उठ्ठ जासी।
तीरथ बरतां ग्याण कथन्तां कहा लयां करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा माटी मा मिळ जासी।
यो संसार चहर रां बाजी साँझ पड्याँ उठ जासी।
कहा भयां थां भगवा पहर्‌याँ घर तज लयां सण्यासी।
जोगी होयां जुगत णा जाणा उलट जणम रां फांसी।
अरज करां अबळा कर जोड्यां, स्याम (   ) दासी।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, काट्यां म्हांरी गांसी॥

(३)

म्हां मोहण रो रूप लुभाणी।

सुंदर बदण कमड़ दड़ लोचण बाँकां चितवण नैणा समाणी।

जमणा किणारे कान्हा धेणु चरावां बंसी बजावां मीट्ठां बाणी।

तण मण धण गिरधर पर बारां चरण कंवड़ मीराँ बिलमाणी॥

(४)

म्हारो परनाम बांके बिहारी जी।

मोर मुगट माथां तिड़क बिराज्यां कुंडड़ अड़कां कारी जी।

अधर मधुरधर बंसी बजावां रीझ रिझावां ब्रजनारी जी।

या छब देख्यां मोह्यां मीराँ मोहण गिरवरधारी जी॥

(५)

निपट बंकट छब अटके म्हारे नैणा णिपट बंकट छब अटके।

देख्यां रूप मदण मोहण री पियतपियूख ण मटके।

बारिज भवाँ अड़क मंतवारी नैण रूप रस अटके।

टेढ्यां कट टेढे कर मुरड़ी टेढ्या पाग लर लटके।

मीराँ प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधर नागर नटके॥

(६)

साँवरे मारया तीर।

री म्हारा पार निकड़गयां तीर सांवरे मरया तीर।

बिरहा अनड़ लागां उर अंतर ब्याकुड़ म्हारां सरीर।

चंचड़ चित्त चड़यां णा चाड़ां बांध्यां प्रेम जंजीर।

क्यां जाणां म्हरो प्रीतम प्यारो क्या जाणा म्हापीर।

म्हारो कांई णा बस सजणी नेण झरयां दो नीर।

मीराँ रो प्रभु थे बिछुड्याँ बिण प्राण धरत णा धीर॥

(७)

चाड़ाँ मण वा जमणा काँ तीर।

वा जमणाकाँ निरमड़ पाणी सीतड़ होयाँ सरीर।

बंसी बजावाँ गावाँ कान्हाँ संग लियाँ बड़बीर।

मोर मुगट पीतांबर सोहाँ कुंडड़ झड़क्याँ हीर।

मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर क्रीड्याँ संग बलबीर॥

(८)

आली म्हाँणे लागाँ बृन्दावण णीकाँ।

घर घर तुड़सी ठाकर पूजाँ दरसण गोविंद जी काँ।

निरमड़ नीर बह्या जमणा काँ भोजण दूध दह्याँ काँ।

रतण सिंघासण आप बिराज्याँ मुगट धरयाँ तुड़शी काँ।

कुंजण कुंजण फिरयाँ साँवरा सबद सुरयाया मुरड़ी काँ।

मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर भजण बिणा नर फीकाँ॥

(९)

जाणाँ रे मोहणा जाणाँ थारी प्रीत।

प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो, और ण जाणाँ रीत।

इमरत पाइ विषाँ क्यूँ दीज्याँ कूंण गाँव री रीत।

मीराँ रे प्रभु हरि अबिणासी अपणो जण रो मीत॥

(१०)

म्हाँ गिरधर रंगराँती।

पचरंग चोड़ा पहेरयाँ सखि म्हा झरमट खेलण जाती।

वाँ झरमट माँ मिड़या साँवरो देख्याँ तण मण राती।

जिणरो पियाँ परदेस बस्याँ री लिखलिख भेज्याँ पाती।

म्हारा पियाँ म्हारे हीयडे बसताँ ना आवाँ ना जाती।

मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर मग जोवाँ दिण राती॥

(११)

प्रभुजी थे कठ्यां गयां नेहड़ा लगाय।

छोड्या म्हा बिसवास संगाती प्रीत री बाती जड़ाय।

बिरह समंद मा छोड गयां छो नेह री नाव डुबाय।

मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगां थें बिण रह्यां णा जाय॥

(१२)

हरि म्हारा जीवण प्रान अधार।

ओर आसिरो णा म्हारा थे बिणा तीणू लोक मझार।

थें बिणा म्हाणे जग णा सुहावां निरख्यां जग संसार।

मीराँ रे प्रभु दासी रावली डीज्यो णेक णिहार॥

(१३)

माई री म्हां ड़ियां गोविन्दां मोड़।

थे कह्यां छाणे म्हां कां चोड्डे ड़ियां बजंतां ढोड़ ।

थे कह्यां मुंहोव म्हां कह्यां छुल्लो ड़ियां री तराजां तोड़।

तण वारां म्हां जीवणवारां वारां अमोड़क मोड़।

मीराँ (कूं) प्रभु दरसण दीज्यां पुरब जणम को कोड़॥

(१४)

मण थें परस हरि रे चरण।

सुभग सीतड़ कंवड़ कोमड़ जगत ज्वाड़ा-हरण।

इण चरण प्रह्लाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण।

इण चरण ध्रुव अटड़ करस्यां सरण असरण सरण।

इण चरण ब्रह्मांड भेट्यां णखसिखां सिरि भरण।

इण चरण कालियां णाथ्यां, गोपड़ीड़ा करण।

इण चरण धार्यां गोवरधण गरब मघवा हरण।

दासि मीराँ लाल गिरधर अगम तारण तरण॥

(१५)

आछी री म्हारे णेणा बाण पड़ी

चित्त चढी म्हारे माधुरी मूरत, हिवड़ां अणी गडी।

कब री ठाढी पंथ निहारां, अपणे भवण खडी।

अटक्यां प्राण सांवरो प्यारो, जीवण मूर जडी।

मीराँ गिरधर हाथ बिकाणी, लोग कह्यां बिगडी॥

(१६)

आवां मोहणा जी जोवां थारी बाट।

खाण पाण म्हारे णेक णा भावां नेणा खुड़ां कपाट।

थे आयां विण सुख णा म्हारो हिवड़ो घणो उचाट।

मीरां थे बिण भई बावरी छांड्यां णा णिरबाट॥

(१७)

पीया बिण रह्यां न जावां।

तण मण जीवण प्रीतम वारयां।

निसदिण जोवां बाट रूबरूप लुभावां।

मीराँ रे प्रभु आसा थारी दासी कंठ आवां॥

(१८)

स्याम बिणा सखि रह्यां णा जावां।

तण मण जीवण प्रीतम वारया थारे रूप लुभावां

खाणपाण म्हाणे फीकां लागां णेणा रह्यां मुरझावां

निसदिण जोवां बाट मुरारी कब री दरसण पावां।

बार बार थारी अरजां करस्यूं रेण गयां दिण जावां।

मीराँ रे हरि थें मिड़यां बिण तरश तरश जीया जावां॥

D

(१९)

हेरी म्हां तो दरद दिवाणो म्हारां दरद णा जाण्यां कोय।
घायड़ री गत घायड़ जाण्या हिवड़ो अगण सजोय ।
जौहर कीमत जौहरां जाण्यां क्या जाण्यां जिण खोय ।
दरद री मारयां दर दर डोड्यां बेद मिड्या णा कोय ।
मीरां री प्रभु पीर मिटांगां जद बेद सांवरो होय ॥

(२०)

दरस बिण दूखां म्हारा णेण।
सबदां सुणतां छतियां कांपां मीठो थारो बेण।
बिरह बिथा कांसूं री कह्यां पैठां करवत पेण ।
कड़ णां पडतां हरि मग जोवां भयां छमाशी रेण ।
थें बिछड्यां म्हां कड़पां प्रभुजी म्हारो गयो शब चेण ।
मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगां दुख मेटण शुख देण ॥

(२१)

घडी चेण णा आवडां थे दरसण बिण [?]।
धाम णा भावां नींद णा आवां बिरह सतावां [?]।
घायड़ री घुमां फिरां म्हारो दरद णा जाणयां कोय।
प्राण गुमायां झूरतां रे णेण गुमायां रोय ।
पंथ निहारां डगर मझारां ऊभी मारग जोय।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगां थे मिड्या शुख होय ॥

(२२)

स्याम म्हां बाँहडियां जी गह्यां।
भोसागर मंझधारां बूड्यां थारी सरण लह्यां।
म्हारे अवगुण वार अपारां थे बिण कूण सह्यां ।
मीरां रे प्रभु हरि अविणासी लाज बिरद री बह्यां ॥

(२३)

भुवणपति थे घरि आज्यां जी ॥

बिथा लगां तण जारां जीवण तपतां बिरह बुझ्याज्यां जी।

रोवतां रोवतां डोड़तां सब रैण बिहावां जी ।

भूख गयां निदरां गयां पापी जीव णा जावां जी।

दुखियाणां शुखियां करां म्हाणे दरसण दीज्यां जी।

मीरां व्याकुड़ बिरहणी अब बिड़म णा कीज्यां जी।

(२४)

भाई म्हारी हरिहूं णा बूझ्यां बात।

पिंड मांसूं प्राण पापी निकड क्यूं णा जात ।

पटा णा खोड़्यां मुखां णा बोड़्यां सांझभयां परभात।

अबोड़णां जुग बीतण लागां कायां री कुशड़ात।

सावण आवण हरि आवण री सुण्या म्हाणे बात।

घोर रैणां बीजु चमकां वार गिणतां प्रभात।

मीरां दासी स्याम राती ड़ड़क जीवणां जात।

(२५)

पिया थारे णाम लुभाणी जी।

णाम लेतां तिरतां सुण्यां जग पाहण पाणी जी।

कीरत काईं णा कियां घणां करम कुमाणीजी।

गणका कीर पढ़ावतां वैकुंठ बसाणी जी।

अरध णाम कुंजर लयां दुख अवध घटाणी जी।

गरुड़ छांड़ पग धाइयां पशु-जूण पटाणी जी।

अजामेड़ अब ऊधरे जम-त्रास णसाणी जी।

पूतणाम जश गाइयां जग सारा जाणी जी।

सरणागत थे बर दियां परतीत पिछाणी जी।

मीरां दासी रावली अपणी कर जाणी जी।

(२६)

जायां णां प्रभु मिळणबिध क्यां होय।
आया म्यारे आंगणा फिर गया जाण्यां खोय।
जोवतां मग रैण बीतां दिवश बीतां जोय।
हरि पधारां आगणां गया म्हैं अभागण सोय।
बिरह ब्याकुळ अणळ अन्तर कळ णा पडतां रोय।
दासी मीरां लाळ गिरधर मिळ णा बिछड्यां कोय॥

(२७)

स्याम शुंदर पर वारां जीवड़ा डारां स्याम।
थारे कारण जग जण त्यागां ळोक ळाज कुळ डारां।
थे देख्यां बिण कळणा पड़तां णेणा चळतां धारां।
क्यां सूं कहवां कोण बुझावां कठण बिरह री धारां।
मीरां रे प्रभु दरशण दीस्यो थे चरणां आधारां॥

(२८)

सांवरो म्हारी प्रीत णिभाज्यो जी।
थे छो म्हारो गुण रो शागर औगुण म्हां बिशराज्यो जी।
ळोक णो शीझ्यां मण णा पतीज्यां मुखडा सबद शुणाज्यो जी।
दासी थारी जणम जणम री म्हारा आंगण आज्यो जी
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेडा पार ळगाज्यो जी॥

(२९)

म्हारे घर होतां आज्यों महाराज।
नेण बिछ्यासुं हिवडो डास्यूं सरपर राख्यूं विराज।
पांवड़ां म्हारो भाग सवारण जगत उधारण काज।
संकट मेट्यां भगत जणारां थाप्यां पुन्न रा पाज।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बांह गह्यां री ळाज॥

— ८ —

(३०)

थाणे काईं काईं बोछ् शुणावां म्हारां सांवरा गिरधारी।
पुरब जणम री प्रीत पुराणी जावा णा णिरवारी।
शुन्दर बदण जोवतां शाजण थारी छबि बछ्हारी।
म्हारे आंगण स्याम पधारां मंगछ् गावां नारी।
मोती चौक पुरावां णेणां तण मण डारां वारी।
चरण शरण री दासी मीरा जणम जणम री क्वांरी॥

(३१)

गिरधारी शरणां थारी आयां राख्यां किरपानिधाण।
अजामेछ् अपराधी तारयां तारयां नीच सदाण।
डूबतां गजराज राख्यां गणका चढ़यां बिमाण।
ओर अधम बहुतां थे तारयां भाख्यां सणत छजाण।
भीछ्ण कुब्जां तारयां गिरधर जाण्यां शकछ् जहाण।
बिरद बखाणां गणतां णा जाणा थाकां वेद् पुराण।
मीरां प्रभु री सरण रावली बिणतां दीश्यो काण॥

(३२)

कमछ् दछ् छोचणां थें णाथ्यां काछ् भुजंग।
काछिन्दी दह णाग णाथ्यां काछ् फण फण निरत करंत।
कूंदां जछ् अन्तर णा डरयां थे एक बाहु अणग्रत।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर ब्रज वणतां रो कंत॥

(३३)

रावडो बिड्द म्हाणे णूढ़ो छागां पीडत म्हारो प्राण।
छगां शणेहां म्हारे णां कांई बरद्यां सकछ् जहाण।
ग्राह गह्यां गजराज उबारयां अछत करयां बरदाण।
मीरा दासी अरजां करतां म्हारो सहारो णा आण॥

(३४)

म्हा छण्या हरि अधम उधारण।

अधम उधारण भव भय तारण।

गज बूडतां अरज छग धार्यां भगतां कष्ट निवारण।

द्रुपद छता णो चीर बढ़ायां दुसासण मद मारण।

प्रह्लाद परतग्या राख्यां हरणाकुस णो उदर बिदारण।

थे रिख पतणीं किरपा पायां बिप्र शुदामा बिपत बिडारण।

मीरां रे प्रभु अरजी म्हारी अब अबेर कुण कारण ॥

(३५)

म्हाणे चाकर राखांजी गिरधारी लाला चाकर राखां जी।

चाकर रहस्यूं बाग लगास्यूं णित उठ दरशण पास्यूं।

बिन्द्राबण री कुंज गंढ़ मां गोविण्द लीला गास्यूं।

चाकरी मा दरसण पास्यूं शुमरण पास्यूं खरची।

भाव भगत जागीरां पास्यूं जणम जणम री तरशी।

मोर मुगट पीताम्बर शोहां गळ बैजणतां माळो।

बिन्द्रावण मा धेण चरावां मोहण मुरळी वाळो।

हरे हरे णवां कुंज लगास्यूं वीचां बीचां बारी।

सांवरयां रो दरशण पास्यूं पहण कुशुंबी शारी।

आधां रात प्रभु दरशण दीस्यो जमणा जी रे तीरां।

मीरा रे प्रभु गिरधर नागर हिवड़ो घणो अधीरां ॥

(३६)

माई म्हाणो शुपणा मां परण्यां दीणानाथ।

छप्पण कोटां जणां पधारयां दूल्हो सिरी ब्रजनाथ।

शुपणां मां तोरण बंध्या री शुपणां मां गह्या हाथ।

शुपणां मां म्हारो परण गया पायां अचळ शुहाग।

मीरां रो गिरधर मिळ्या री पुरब जनण रो भाग ॥

(३७)

थे मत बरजां माई री साधां दरसण जावां।
स्याम रूप हिरदां बसां म्हारे ओर णा भावां।
सब सोवां शुख निदड़ो म्हारे रंण जगावां।
ग्याण णशां जग बावरा ज्याकूं स्याम णा भावां।
मा हिरदां बस्या सांवरो म्हारे णींद णा आवां।
चौमास्यां री बाबड़ी ज्याकूं णीर णा पीवां।
हरि निर्झर अमरित झरयां म्हारी प्यास बुझावां।
रूप सुरंगा शामरो मुख निरखण जावां।
मीरा ब्याकुल बिरहणी आपणी कर ल्यावां।

(३८)

पपैया म्हारो कब रो बैर चितार्यां।
म्हा सोवूं छी अपणे भवणामां पियु पियु करतां पुकार्यां।
दाध्यां [ ] लूण लगायां हिवड़े करवत सार्यां।
ऊभा बेठ्यां बिरछ री डाड़ी बोड़ा कंठ णा सार्यां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर हरि चरणां चित धार्यां॥

(३९)

सखी म्हारी णीद णशाणी हो।
पिय रो पंथ निहारतां शब रंण बिहाणी हो।
सखियां शब मिड़ सीख दयां मणा एक णा माणी हो।
बिण देख्यां कड़ णा पड़ां मण रोस णा ठाणी हो।
अङ्ग खीण ब्याकुड़ भयां मुख पिव पिव बाणी हो।
अन्तर बेदण बिरह री म्हारी पीड़ णा जाणी हो।
ज्यूं चातक घण कूं रटां मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीरा ब्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसराणी हो॥

(४०)

हरि बिण क्यूं जिवांरी माय ।
श्याम बिणा बौरां भयां मण काठ ज्यूं घुण खाय ।
मूळ ओखद णा लग्यां म्हाणे प्रेम पीडा खाय ।
मीण जळ बिछुड्या णा जीवां तड़फ़ मर मर ज्याय ।
ढूढ़तां बण स्याम डोलां मुरळियां धुण पाय ।
मीरां रे प्रभु लाल गिरधर बेग मिळ्ज्यो आय ।

(४१)

देखां माई हरि मण काठ कियां ।
आवण कह गयां अजां णा आयां कर म्हाणे कोल गयां ।
खाण पाण सुध बुध सब बिसर्यां कांई म्हारो प्राण जियां ।
थारो कोल विरुद जग थारो थे काई बिशर गयां ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे विण फटां हियां ॥

(४२)

थे बिण म्हारे कोण खबर ले गोबरधण गिरधारी ।
मोर मुगट पीतांबर शोभां कुंडळ री छब न्यारी ।
भरी सभां मा द्रुपद सुतांरी राख्या लाज मुरारी ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर चरण कवळ बळहारी ॥

(४३)

म्हारो जणम जणम रो साथी थाणे ना बिशरया दिण रांती ।
थां देख्यां बिण कल ना पड़तां जाणे म्हारी छांती ।
ऊचां चढ चढ पंथ निहारयां कळप कळप अखयां रांती ।
भोसागर जग बंधण झूठां झूठां कुळ रा न्याती ।
पल पल थारां रूप निहारां णिरख णिरख मदमांती ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर हरि चरणा चितरांती ॥

(४४)

जोशीडा णे लाख बधार्यां रे आश्यां म्हारो स्याम ।

म्हारे आणंद उमंग भरयां री जीव कह्यां शुखधाम ।

पांच शख्यां मिड़ पीव रिझावां आणंद ठामा ठाम ।

बिशर जावां दुख निरखां पिया री सुफड़ मणोरथ काम ।

मीरां रे शुखसागर स्वामी भवण पधारयां स्याम ॥

(४५)

शुण्या री म्हारे हरि आवांगा आज ।

म्हैंड़ा चढ चढ जोवां सजणी कब आवां महाराज ।

दादुर मोर पपीआ बोड़्यां कोइड़ मधुरां शाज ।

उमग्यां इंद चहुं दिश बरशां दामण छोड्यां ड़ाज ।

धरती रूप नवां नवां धरयां इंद मिड़ण रे काज ।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेग मिड़्यो महाराज ॥

(४६)

बस्यां म्हारे णेणण मां नण्दलाड़ ।

मोर मुगट मकराक्रत कुंडड़ अरुण तिड़क शोहां भाड़ ।

मोहण मूरत सांवरां शूरत नेणां बण्या बिशाड़ ।

अधर सुधारश मुरड़ी राजां उर बैजण्तां माड़ ।

मीरां प्रभु संतां शुखदायां भगत बछड़ गोपाड़ ।

(४७)

पग बांध घुघरयां णाच्यां री ।

ड़ोग कह्यां मीरां बावरी शाशू कह्या कुड़नाशां री ।

बिखरो प्याड़ो राणा भेज्यां पीवां मीरा हांशां री ।

तण मण वारयां हरि चरणां मां दरसण अमरित पाश्यां री ।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थारी शरणां आश्यां री ।

E

(४८)

सांवरियो रंग रांचां राणां सांवरियो रंग रांचां।

ताड़ पखावजां मिरदंग बाजां साधां आगे णाचां।

बूझ्या माणे मदण बावरी श्याम प्रीत म्हां कांचां।

बिखरो प्यालो राणां भेज्या आरोग्यां णा जांचां।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर जणम जणम रो सांचां॥

(४९)

बादड़ देखां झरी स्याम बादड़ देख्यां झरी।

काडा पीडा घड्यां ऊमड्यां बरस्यां च्यार घरी।

जित जोवां तित पाणी पाणी प्यासां भूम हरी।

म्हारा पिया परदेसां बसतां भीज्यां दार खरी।

मीरां रे प्रभु हरि अबिणासी करस्यो प्रीत खरी॥

(५०)

बरसां री बदरियां शावण री शावण री मणभावण री।

शावण मां उमग्यो म्हारो मण री भणक शुण्या हरि आवण री।

उमड घुमड घण मेघां आयां दामण घण झर छावण री।

बीजां बूंदां मेंहां आयां बरशां शीतड़ पवण शुहावण री।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेड़ा मंगड़ गावण री॥

(५१)

बिध बिधणा री न्यारां।

दीरघ नेंण मिरघ कूं देखां बण बण फिरतां मारां।

उजडो बरण बागड़ां पावां कोयड़ बरणां कारां।

नदयां नदयां निरमड़ धारां समुंद करंया जड़ खारां।

मूरख जण सिंगासण राजां पंडित फिरतां द्वारां।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर राणां भगत संवारां।

(५२)

बादड़ा रे थें जड़ भरां आज्यो।

झर झर बूंदां बरशां आड़ी कोयड़ सबद शुणाज्यो।

गाज्यां बाज्यां पवण मधुरयो अंबर बदरां छाज्यो।

शेज सवांरयां पिय घर आश्यां शखयां मंगड़ गाश्यो।

मीरां रे प्रभु हरि अबिणासी भाग भड़यां जिणपाश्यो ॥

(५३)

पिया बिण सूणो छे म्हांरां देस।

एसां णा कांई पीव मिड़ावां तण मण वारां असेस।

थारे कारण बण बण डोड़्यां ड्यां जोगण रो भेस।

बीतां चुमसां मांसां बीतां पंडर री म्हारा केस।

मीरां रे प्रभु कबरे मिड़ोगां तज द्यां णगर णरेश।

(५४)

करम गत टारां णा री टरां।

सतबादी हरचंदां राजां डोम घर णीरां भरां।

पांच पांडु री राणी द्रपता हाड हिमाड़ां गरां।

जग्ग कियां बड़ लेण इंद्राशण जांयां पताड़ परां।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बिख रू अमरित करां ॥

(५५)

स्याम बिण दुख पावां सजणी कुण म्हां धीर बंधावां।

यो संशार कुबुध रो भांडो साध शंगत णा भावां।

साधां जण री निंद्यां ठाणां करम रां कुगत कुमावां।

साध शंगत मां भूड़ णा जावां मूरिख जणम गुमावां।

मीरां रे प्रभु थारी सरणां जीव परम पद पावां ॥

(५६)

म्हारो ओळगियां घर आज्यो जी ।

तण री ताप मिट्यां शुख पास्यां हिळमिळ मंगळ गाज्यो जी ।

घण री धुण शुण मोर मगण भयां म्हारे आंगण आज्यो री ।

चंदा देख कमोदण फूळां हरख भयां म्हारे छाज्यो जी ।

रूम रूम म्हारो शीतळ सजणी मोहण आंगण आज्यो जी ।

सब भगतां रा कारज शाधां म्हारां परण निभाज्यो जी ।

मीरां बिरहण गिरधर नागर मिळ दुख दंदां छाज्यो जी ॥

(५७)

सखि म्हारो सामरिया णे देखवां करां री ।

सांवरो उमरण सांवरो शुमरण सांवरो ध्याण धरां री ।

ज्यां ज्यां चरण धरयां धरणीधर (   ) निरत करां री ।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर कुंजां गेळ फिरां री ॥

(५८)

म्हारो मण सांवरो णाम रट्यां री ।

सांवरो णाम जपां जग प्राणी कोट्यां पाप कट्यां री ।

जणम जणम री खतां पुराणी णामां स्याम मट्यां री ।

कणक कटोरां इम्रत भरयां पीवतां कूंण नट्यां री ।

मीरां रे प्रभु हरि अविणासी तण मण स्याम पट्यां री ॥

(५९)

म्हां गिरधर आगां नाच्यां री ।

णाच णाच म्हां रसिक रिझावां प्रीत पुरातण जांच्यां री ।

स्याम प्रीत री बांध घूंघरयां मोहण म्हारो सांच्यां री ।

लोक लाज कुळरां मरज्यादां जग मां णेक णा राख्यां री ।

प्रीतम पल छण णा बिसरावां मीरां हरि रंग राच्यां री ॥

(६०)

बरजी री म्हां स्याम बिणा न रह्यां।

साधां संगत हरि शुख पाश्यूं जग शूं दूर रह्यां।

तण धण म्हारो जावां जाश्यां म्हारो सीस छह्यां।

मण म्हारो डाग्यां गिरधारी जग रा बोड़ शह्यां।

मीरां रे प्रभु हरि अवणासी थारो सरण गह्यां॥

(६१)

माई म्हा गोविण्द गुण गाणा।

राजा रूठ्यां णगरी त्यागां हरि रूठ्यां कठ जाणा।

राणा भेज्यां बिखरो प्याडा चरणामृत पी जाणा।

काड़ा णाग पिटार्‌यां भेज्यां शाड़गराम पिछाणा।

मीरां गिरधर प्रम बावरी सांवड़्या बर पाणा॥

(६२)

म्हारो गोकुड़ रो ब्रज बाशी।

ब्रजडीड़ा ड्ख जशा शुख पावां ब्रज बणतां शुखराशी।

णाच्यां गावां ताड़ बज्यावां पावां आणद हाशी।

णण्द जसोदा पुत्र री प्रगट्यां प्रभू अविनाशो।

पीताम्बर कट उर बंजणतां कर शोहां री बांशी।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर दरशण दीश्यो दाशी॥

(६३)

थारो रूप देख्यां अटकी।

कुड़ कुटम्ब सजण सकड़ बार बार हटकी।

बिशर्‌यां णा ड्गण ड्गां मोर मुगट णटकी।

म्हारो मण मगण स्याम ड़ोक कह्यां भटकी।

मीरां प्रभु सरण गह्यां जाण्यां घट घट की॥

बड़े घर ताड़ो लागां री पुरबला पुन्न जगावां री।
झोड़ल्यां री कामणा म्हारो डावरां कुण जावां री।
गंगा जमणा काम णा म्हारे म्हा जावां दरयावां री।
कामदार शूं काम णा म्हारे जावां म्हा दरबारां री।
हेल्या मेल्या काम णा म्हारे क्या मिड़ शरदारां री।
कांच कथीर शूं काम णा म्हारे चढ़श्या घण री सार्यां री।
सोणा रूपां शूं काम णा म्हारे हीरां रो ब्योपारां री।
भाग हमारो जाग्यां रे रतणाकर म्हारी शीरचां री।
प्याड़ो अम्रत छांड्यां रे कुण पीवां कड़वां नीरयां री।
भगत जणा प्रभु परचां पावां जावां जगतां दूरयां री।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मणरथ करश्यां पूरचां री॥

(६५)

म्हारो मण हर ड़ीण्यां रणछोड।
मोर मुगट शिर छत्र बिराजां कुंडड़ री छब ओर।
चरण पखार्यां रतणाकर री धारा गोमत जोर।
धजा पताका तट तट राजां झाड़र री झकझोर।
भगत जाणयां रो काज संवार्यां म्हारा प्रभु रणछोर।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर कर गह्यो णन्द किसोर॥

(६६)

पिया म्हारे णेणां आगां रहज्यो जी।
णेणा आगां रहज्यो म्हाणे भूड़ णा जाज्यो जी।
भोसागर म्हा बूड़्या चाहां, स्याम बेग सुध ड़ीज्यो जी।
राणा भेज्या बिखरो प्याड़ो थें इमरत बर दीज्यो जी।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर मिड़ बिछड़ण मत कीज्यो जी॥

(६७) क

कांई म्हारो जणम बारम्बार।

पुरबलां कांई पुन्न खूट्यां माणसा अवतार।

बढ्या छिण छिण घट्या पड़ पड़ जात णा कछु बार।

बिरछ रां जो पात टूट्यां लग्यां णा फिर डार।

भौ समुन्द अपार देखां अगम ओखी धार।

लाड़ गिरधर तरण तारण बेग करज्यो पार॥

... ...

(६७) ख

रास पूणो जणमिया री राधका अवतार।

ज्ञाण-चोसर मंडी चौहटे खेलतां संसार।

गिरधरां री रची बाजी जीत भावांहार।

साध संता ज्ञाणवन्ता चालतां उच्चार।

दासि मीरां लाड़ गिरधर जोवणा दिण च्यार॥

(६८)

अब तो निभायां बांह गह्यां री लाज।

असरण सरण कह्यां गिरधारी पतित उधारण पाज।

भौसागर मझधार अधारां, थें बिण घणो अकाज।

जुग जग भीर हरां भगतां री दीश्यां मोच्छ नेवाज।

मीरां सरण गह्यां चरणां री लाज रखां महाराज॥

(६९)

हरि थें हर्यां जण री भीर।

द्रोपता री लाज राख्यां थें बढ्यायां चीर।

भगत कारण रूप णरहरि धर्यां आप सरीर।

बूडतां गजराज राख्यां कट्यां कुंजर पीर।

दासि मीरा लाड़ गिरधर हरां म्हारी भीर॥

(७०)

होळी पिया बिण म्हाणे णा भावां घर आंगणा णा शुहावां।
दीपां जोयां चोक पुरावां हेळी पिया परदेस शजावां।
शूणी शेजां ब्याळ बुझावां जागा रेण बितावां।
णीद नेणा णा आवां॥
कब री ठाढ़ी म्हा मग जोवां णिश दिण बिरह जगावां।
क्या शूं मण री बिथा बतावां हिवड़ो म्हां अकुळावां।
पिया कब दरश दखावां॥
दीख्यां णा कांई परम सणेही म्हारो सणेशा लावां।
वां बिरयां कब होशी म्हारो हंस पिय कण्ठ लगावां।
मीरा होळी गावां॥

(७१)

चाळां अगम वा देस काळ देख्यां डरां।
भरां प्रेम रां होज हंश केळा करां।
साधा सन्त रो शंग ग्याण जुगतां करां।
धरां सांवरो ध्यान चित्त उजळो करां।
सील घूंघरां बांध तोस निरतां करां।
साजां शोळ शिंगार शोणा रो राखड़ां।
सांवळ्या शूं प्रीत ओर शूं आखड़ां॥

(७२)

णन्द णण्दण मण भायां बादळां णभ छायां।
इत घण घुरजां उत घण गरजां चमकां बिज्ज डरायां।
उमड घुमड घण छायां ( ) पवण चल्यां पुरवायां।
दादर मोर पपीया बोल्यां कोयल शबद शुणायां।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर चरण कंवळ चितळायां॥

(७३)

रंगभरी रागभरी राग सूं भरी री।
होळी खेल्या स्याम संग रंग सूं भरी री।
उडत गुलाल लाल बादला रो रंग लाल।
पिचकां उडावां रंग रंग री झरी री।
चोवा चंदण अरगजां म्हां केसर णो गागर भरी री।
मीरां दासी गिरधर नागर चेरी चरण धरी री॥

(७४)

सांवड़िया म्हारो छाय रह्या परदेस।
म्हारा बिछड्या फेर न मिळ्या भेज्यां णा एक सन्नेस।
रतण आभरण भूखण छाड्यां खोर कियां सर केस।
भगवां भेख धरयां थें कारण ढूंढ्यां चारयां देस।
मीरां रे प्रभु स्याम मिळण बिणा जीवण जणम अणेस॥

(७५)

तणक हरि चितवां म्हारी ओर।
हम चितवां थे चितवों णा हरि हिवड़ो बडो कठोर।
म्हारी आसा चितवण थारी ओर णा दूजां दोर।
ऊभ्यां ठाढ़ी अरज करूं छूं करतां करतां भोर।
मीरां रे प्रभु हरि अविणासी देस्यूं प्राण अंकोर॥

(७६)

णातो सांवरो री म्हासूं णा तोड्या जाय।
पाणाज्यूं पीळी पड्या री लोग कह्यां पिंड बाय।
बावला बेद बुलाइया री म्हारी बांह दिखाय।
बेदा मरम णा जाणा री म्हारो हिवडो करकां जाय।
मीरां व्याकुळ बिरहणी प्रभु दरसण दीज्यो आय॥

(७७)

सांवरी सुरत मण रे बसी ।
गिरधर ध्याण धरां निश वासर मूरत मोहण म्हारे बसी ।
कह्या करां कित जावां सजणी म्हा तो स्याम डसी ।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगां णित णव प्रीत रसी ॥

(७८)

नागर णंद कुमार लाग्यो थारो णेह ।
मुरली धुण सुण बीसरां म्हारो कुणबोगेह ।
पाणी पीर णा जाणई तड़फ मीण तज्यां देह ।
दीपक जाणा पीर णा पतंग जड़या जड़ खेह ।
मीरां रे प्रभु सांवरो थे बिण देह अदेह ॥३

(७९)

साजण म्हारे घर आयां हो ।
जुगां जुगां री जोवतां बिरहण पिव पायां हो ।
रतण करां नेवछावरां ले आरत साजां हो
प्रीतम दयां संणेसड़ां म्हारों घणों णेवाजां हो ।
पिय आया म्हारे सांवरा अंग आणंद साजां हो ।
मीरां रे सुख सागरां म्हारे सीस बिराजां हो ॥

(८०)

म्हाणे क्यां तरसावां ।
थारे कारण कुलजग छांड्या अब थे क्यां बिसरावां ।
बिरह बिथा ल्याया उर अन्तर थे आश्यां णा बुझावां।
अब छांड्या णा बणो मुरारी सरण गह्यां बल जावां ।
मीरां दासी जणम जणम री भगतां पेज णिभावां ॥

(८१)

नीदड़ी आवां णा शारां रात कुण बिध होय प्रभात।
चमक उठां शुपणा ङ्ख सजणी शुध णा भूल्यां जात।
तड़फां तड़फां जीयरा जायां कब मिड़ियां दीणाणाथ।
भयां बावरां शुध बुध भूलां पीव जाणया म्हारी बात।
मीरां पीडा शोई जाणां मरण जीवण जिण हाथ॥

(८२)

थें जीम्या गिरधर लाड़ ।
मीरां दासी अरज कर्यां छे म्हारो लाड़ दयाड़।
छप्पण भोग छतीशां बिंजण पावां जण प्रतिपाड़।
राजभोग आरोग्यां गिरधर सण्मुख राखां थाड़ ।
मीरां दासी सरणां ज्यांशी कीज्यां बेग निहाड़ ॥

(८३)

माई सांवरे रंग रांची ।
साज शिंगार बांध पग घूंघर लोक लाज तज णाची।
गयां कुमत ल्यां साधां शंगत स्याम प्रीत जग शांची।
गायां गायां हरि गुण णिस दिण काड़ व्याड़ री बांची।
स्याम बिणा जग खारां लागां जगरी बातां कांची।
मीरां सिरी गिरधर नटनागर भगत रसीड़ी जांची॥

(८४)

जग मा जीवणा थोडा कुणे ल्यां भव भार।
मात पिता जग जणम दयांरी करम दयां करतार
खायां खरचां जीवण जावां काईं कर्यां उपकार।
साधां संगत हरिगुण गाश्यां और णा म्हारी लार।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे बड़ उतरयां पार॥

(७७)

सांवरी शुरत मण रे बशी।

गिरधर ध्याण धरां निश वासर मूरत मोहण म्हारे बशी।

कहा करां कित जावां सजणी म्हा तो स्याम डशी।

मीरां रे प्रभु कबरे मिड़ोगां णित णव प्रीत रशी॥

(७८)

नागर णंद कुमार लाग्यो थारो णेह।

मुरड़ी धुण छण बीसरां म्हारो कुणबोगेह।

पाणी पीर णा जाणई तड़फ मीण तज्यां देह।

दीपक जाणा पीर णा पतंग जड़या जड़ खेह।

मीरां रे प्रभु सांवरो थे बिण देह अदेह॥२

(७९)

साजण म्हारे घर आयां हो।

जुगां जुगां री जोवतां बिरहण पिव पायां हो।

रतण करां नेवछावरां ले आरत साजां हो

प्रीतम दयां संणेसड़ां म्हारो घणों णेवाजां हो।

पिय आया म्हारे सांवरा अंग आणंद साजां हो।

मीरां रे शुख सागरां म्हारे सीश बिराजां हो॥

(८०)

म्हाणे क्यां तरशावां।

थारे कारण कुड़जग छांड्या अब थें क्यां बिशरावां।

बिरह बिथा ल्याया उर अन्तर थे आश्यां णा बुझावां।

अब छांड्या णा बणो मुरारी सरण गह्यां बड़ जावां।

मीरां दाशी जणम जणम री भगतां पेज णिभावां॥

(८१)

नीदड़ी आवां णा शारां रात कुण बिध होय प्रभात।
चमक उठां शुपणा दुख सजणी शुध णा भूळ्यां जात।
तड़फां तड़फां जीयरा जायां कब मिड़ियां दीणाणाथ।
भयां बावरां सुध बुध भूड़ां पीव जाण्या म्हारी बात।
मीरां पीड़ा शोई जाणां मरण जीवण जिण हाथ॥

(८२)

थें जीम्या गिरधर लाड़।
मीरां दासी अरज कर्‌यां छे म्हारो लाड़ दयाड़।
छप्पण भोग छतीशां बिंजण पावां जण प्रतिपाड़।
राजभोग आरोग्यां गिरधर सणमुख राखां थाड़।
मीरां दासी सरणां ज्यांशी कीज्यां बेग निहाड़॥

(८३)

माई सांवरे रंग रांची।
साज शिंगार बांध पग घूंघर ड़ोक ड़ाज तज णाची।
गयां कुमत ड़यां साधां शंगत स्याम प्रीत जग शांची।
गायां गायां हरि गुण णिस दिण काड़ ब्याड़ री बांची।
स्याम बिणा जग खारां लागां जगरी बातां कांची।
मीरां सिरी गिरधर नटनागर भगत रसीड़ी जांची॥

(८४)

जग मा जीवणा थोडा कुणे ल्यां भव भार।
मात पिता जग जणम दयांरी करम दयां करतार
खायां खरचां जीवण जावां काई करयां उपकार।
साधां संगत हरिगुण गाश्यां ओर णा म्हारी लार।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे बड़ उतरयां पार॥

(८५)

सांवरो णदणणदण दीठ पड्यां माई।
डार्‌यां शब ड़ोक लाज शुध बुध बिशराई।
मोर चन्द्रका किरीट मुगट छब शोहाई।
केसर रो तिड़क भाल ड़ोचण शुख दाई।
कुंडल झड़कां कपोल अड़कां लहराई।
मीणा तज सर वर ज्यों मकर मिलण धाई
नटवर प्रभु भेख धर्‌यां रूप जग ड़ोभाई।
गिरधर प्रभु अंग अंग मीरां बड़जाई॥

(८६)

अंखयां तरशां दरसण प्याशी।
मग जोवां दिण बीतां सजणी रैण पड़्या दुख राशी।
डारां बेठ्यां कोयड़ बीड़्यां बोड़ शुण्या री गांशी।
कड़्वां बोड़ ड़ोक जग बोड़्यां करश्यां म्हारी हांशी।
मीरां हरि रे हाथ विकाणी जणम जणम री दाशी॥

(८७)

णेणा ड़ोभां आटकां शक्यां णा फिर आय।
रूम रूम णख सिख लख्यां लड़क लड़क अकुड़ाय।
म्हा ठाढ़ी घर आपणे मोहण णिकड़्यां आय।
बदण चन्द परगासतां मन्द मन्द मुशकाय।
शकड़ कुटम्बां बरजतां बोड़्यां बोड़ बणाय।
णेणा चंचड़ अटक णा मान्या पर हथ गयां बिकाय।
भड़ो कह्यां कांई कह्यां बुरोरी शब लयां सीश चढ़ाय।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बिणा पड़ रह्यां णा जाय॥

(८८)

माई री म्हारे णेणा बाण पडी।

ज्यां दिण णेणा स्याम निहारयां बिशरयां णाहि घरी।

चित्त बश्यां म्हारे सांवरो मोहण तण मण शुध बिशरी।

णा छाकां रस रूप माधुरां छोण थक्यां डगरी री।

मीरां हरि रे हाथ बिकाणी जग कुछ़ काया सरी री॥

(८९)

लगण म्हारी स्याम शूं लागी

णेणा णिरख शुख पाय।

साजां सिंगार शुहागां सजणी प्रीतम मिड़्यां धाय।

बर णां बरयां बापुरो जणम्या जणम णसाय।

बरयां साजण सांवरो म्हारो चुडड़ो अमर हो जाय।

जणम जणम रो काण्हड़ो म्हारी प्रीत बुझाय।

मीरा रे प्रभु हरि अविणासी कब रे मिड़श्यो आय॥

(९०)

प्यारे दरशण दीश्यो आय थे बिणा रह्या णा जाय।

जड़ विणा कंवड़ चंद बिणा रजणी थे बिणा जीवण जाय।

आकुड़ व्याकुड़ रेण बिहावां विरह कड़ेजो खाय।

दिवस णा भूख निदरां रेणा मुखशूं कह्या णा जाय।

कोण सुणे काशूं कहियां री मिड़ पिय तपण बुझाय।

क्यूं तरसावां अन्तरजामी आय मिड़ो दुख जाय।

मीरा दासी जणम जणम री थारो णेह लगाय।

(६१)

छोड मत जाज्यो जी महाराज।

म्हा अबड़ा बड़ म्हारो गिरधर थें म्हारो सरताज।

म्हा गुनहीन गुणागर नागर म्हा हिवड़ो रो साज।

जग तारण भोभीत निवारण थें राख्यां गजराज।

हारयां जीवण सरण रावली कठे जावां व्रजराज।

मीरा रे प्रभु ओर णा कांई राखा अबरी ड़ाज॥

(६२)

आजु शुण्या हरि आवां री,

आवांरी मण भावां री।

हरि णा आवां गेड लखावां बाण पडया ड़ड़चावां री।

णेणा म्हारां कह्यां णा माणा णीर झरयां निश जावां री।

कांई करयां कछ णा बस म्हारो णा म्हारे पंख उडावां री।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बाट जोहां थे आवां री॥

(६३)

स्याम मिड़णा रे काज सखि उर आरत जागी।

तड़फ तड़फ कड़ णा पड़ां विरहाणड़ ड़ागी।

निशदिण पंथ णिहारां पिव रो पड़क णा पड़ भर ड़ागी।

पीव पीव म्हा रटां रेण दिण ड़ोक लाज कुड़ त्यागी।

बिरह भुवंगम डस्यां कड़ेज्यां ड़हर हड़ा हड़ जागी।

मीरा व्याकुड़ अत अकुड़ाणी स्याम उमंगा ड़ागी।

(६४)

मुरड़िया बाजां जमणा तीर।

मुरड़ी म्हारो मण हर लीन्हो चित्त धरां णा धीर।

स्याम कण्हैया स्याम कमरयां स्याम जमण रो नीर।

धुण मुरड़ी शुण शुध बुध बिशरां जर जर म्हारो सरीर।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर बेग हरयां म्हा पीर॥

(६५)

म्हारो सांवरो ब्रज बाशी।

जग शुहाग मिथ्या री सजणी हौवां हो मटज्याशी।

बरन करयां अविनाशी म्हारो काड़ ब्याड़ णा खाशी।

म्हारो प्रीमतम हिरदां बशतां दरस लह्यां शुख राशी।

मीरां रे प्रभु हरि अविनाशी सरण गह्यां थे दाशी॥

(६६)

री म्हा बैठ्यां जागां जगत शब शोवां।

बिरहण बेठ्यां रंग महड़ मा णेणा लड़यां पोवां।

तारां गणता रेण बिहावां शुख घड़यां री जोवां।

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर मिड़ बिछड़यां णा होवां

(६७)

सजणी कब मिड़श्या पिव म्हारां

चरण कवड़ गिरधर शुख देश्यां राख्यां णेणा णेरां।

णिरखां म्हारो चाव घणेरो मुखड़ा देख्यां थारां।

व्याकुड़ प्राण धरयां णा धीरज बेग हरयां म्हा पीरां

मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थे बिण तपण घणेरां॥

परिशिष्ट

परिशिष्ट (क)

(१)

मीराबाई जोधपुर के राठौर खानदान से थीं और 'उदेपुर' के सीसोदिया खानदान में महाराणा सांगा जी के कंवर भोज के साथ ब्याही गयी थीं। इन दोनों खानदानों में कदीम से सम्बन्ध चला आता है। इनका 'कुरसी नाम' यह है।
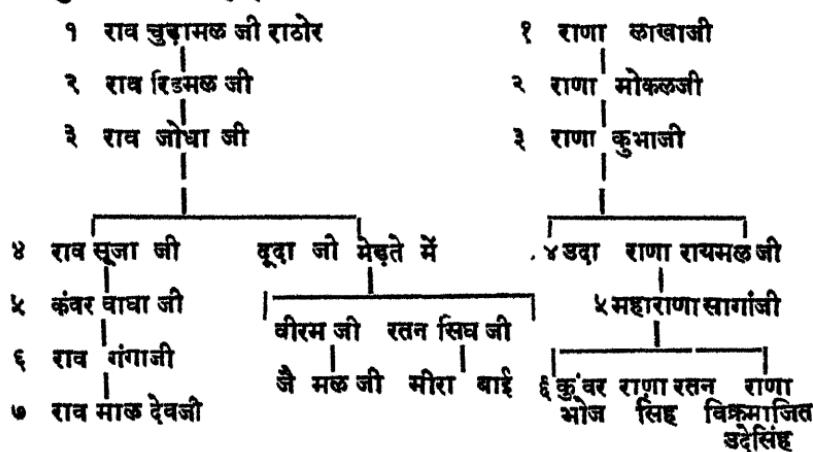
चूंडा जी राठौर थे और उन्होंने सं० १४५२ में मारवाड़की पुरानी राजधानी मडोर को तुरकों से फतह करके जोधपुर के राज की नींव जमाई और अपनी बेटी हंसाबाई का ब्याह राणा लाखा जी सीसोदिया से किया जो उस वक्त राजपूताने में अव्वल दर्जे के रईस थे। उनके बड़े कंवर राव रिड़मल जी को भी उनके साथ कर दिया। राणा लाखा जी ने अपनी बेटी का ब्याह राव रिड़मल जी से कर दिया था और उनको ऊंचे दरजे पर पहुंचाया था। रिड़मल जी ने अपने भांजे मोकल जी को निकाल दिया। मोकल जी को

---

* मीरा का यह जीवनवृत्त मुंशीदेवी प्रसाद लिखित 'मीराबाई का 'जीवन चरित्र' के आधार पर उन्हीं के शब्दों में है। सं०

उनके 'खवासवाल' चाचा मेरा ने मार डाला। राव रिडमल जी ने उस 'खवास' को मार डाला और मोकल जी के पुत्र कुंम्भा जी को मेवाड़ की गद्दी पर बैठाया। कुम्भा जी की माँ ने रखवाली के लिये रिडमल जी को मेवाड़ में रख लिया पर बाद में कुछ ऐसी हरकतें हुई कि कुम्भा जी और और उनकी माता को ऐसा खटका हुआ कि रिडमल जी उन लोगों को मार कर राज दबा बैठेंगे। इसलिये उन्होंने एक दिन सोते हुए रिडमल जी को मार डाला। रिडमल जी के पुत्र जोधा जी मारवाड़ भागे और राणा जी की फौज ने उनका पीछा किया और मंडोर भी उससे छीन लिया। जोधा जी बारह बरस तक लड़ते रहे और सं० १५११ में सीसोदिया को मारवाड़ से भगाया और बाप के बैर में मेवाड का तमाम मुल्क लूट कर राणा जी को कुम्भलमेर में घेर लिया तब कुम्भा जी ने अपने पुत्र उदा जी को भेज कर सुलह कर ली। जोधा जी का ब्याह अपने खानदान में करके शान्त किया और रिडमल जी के मुन्डकटी के कुछ मुल्क भी दे दिया।

राव जोधा जी ने सम्वत १५१५ में जोधपुर बसाया। सम्वत १५२५ में उदा जी ने अपने पिता कुंम्भा जी के राज की लालच से मार डाला। राव जोधा जी को अजमेर और सांभर के परगने दे दिये इस डर से कि कभी वे रिडमल जी की तरह बदला न लेने को तैयार हो जायं।

तीन बरस बाद मेवाड़ के सरदारों ने उदा जी को निकाल उनके भाई रायमल जी को गद्दी पर बैठाया। जोधा जी से सम्वत १५४१ में अपनी 'दो पड़पोतियों' की शादी रायमल जी के पुत्र कंवर सांगा जी से कर दी। सांगा जी ने बाद में अपनी लड़की की शादी जोधा जी के पड़पोते गंगा जी से कर दी।

जोधा जी के छोटे कंवर बीका जी ने जोधपुर से ८० कोस की दूरी पर बाकानेर बसाया। दूदा जी ने १५१८ में जोधपुर से ४० कोस पर अजमेर के रास्ते पर पुराने शहर मेड़ते को नये सिरे से बसाया जो बहुत मुद्दतों से उजाड़ पड़ा था और जिसको पंवार राजा मान्धाता का बसाया हुआ कहते

हैं। यही जिला मेड़ते से अजमेर तक चारों तरफ बीस-बीस कोस के 'गिर्दाव' में फैला हुआ है, 'मीराबाई' का देश कहलाता है।

दूदा जी के पुत्र रतनसिंह जी की इकलौती लड़की यही मीराबाई थीं। यह गांव कुड़की में पैदा हुई थीं, मगर यह अभी बच्ची ही थीं, कि मां मर गयीं। दूदा जी ने यह हाल सुन कर मीराबाई को अपने पास बुला लिया और परवरिश की। जब बड़ी हुई तो रतनसिंह जी ने उनका ब्याह सम्वत १५७३ में राणा सांगा जी के बड़े बेटे भोजराज से कर दिया और वह अपने दूलह के साथ चित्तोड़ गयीं। रतनसिंह जी ने सोचा था कि अब वह चित्तौड़ की महारानी होगी पर भाग्य में कुछ और था, यानी विधवा होकर उस राज्य से विमुख रहना पड़ा क्योंकि उनके पति ने 'कंवर पदे' में ही कालवश होकर इनको और अपने पिता को दुखी कर दिया। भोज के मरने की मिती न मारवाड़ के दफ्तरों में न मेवाड़ के महकमे-तवारीख से मिली। यह दुर्घटना सम्वत १५७३ और ८३ के बीच की है।

मीराबाई ने इस तरह तरुणावस्था में संसार के सुखों से शून्य होकर ज्यादा शोक संताप और विलाप नहीं किया बल्कि परलोक के दिव्य भोग और विलासों की प्राप्ति के लिये 'भगवत भक्ति' में एकचित्त रत होकर इस असार संसार, तद्वत संपत्तिका ध्यान एकदम छोड़ दिया। यह 'भगवत भगति' उनके खानदान में बराबर से चली आती है। इनके पूर्वज सभी वैष्णव और भगवत भक्त कहे जाते हैं। दूदा जी ने मेड़ते में चतुर्भुज जी का मन्दिर बनवाया और उनकी औलाद सभी चतुर्भुज में इष्ट रखती हैं। और उनके नाम की पवित्र रेशमी सिरपेंच के तौर पर पगड़ी के ऊपर बांधते हैं।

मीराबाई को भी बचपन से ही गिरिधर लाल जी का इष्ट हो गया था और वे उनकी 'मुरति' से खेलते खेलते दिल लगा बैठी थीं। ससुराल गईं तो अपने इष्टदेव को लेते गईं। विधवा हुईं तो रात दिन उनकी मूरति की सेवा और पूजा जी जान से करने लगी।

चीतौड़ का बिगाड़

मीराबाई का विधवा होना राणा जी के खानदान के लिये एक बड़ी

आफत आने का अपशकुन था। राणा सांगा जिनका हुक्म राजपुताना, गुजरात और मालवे में चलता था, बाबर से हार गये और इस लड़ाई में मीरबाई के बाप रतनसिंह जी—काका रायमल जी—काम आये। इसके बाद गुजरात के बादशाह बहादुर शाह और अकबर ने बारी बारी से चीतौड़ फतह किया।

मीराबाई ने जमाने के इस पलटे को देख कर दूसरा अजब तमाशा कुदरत का यह देखा कि उनके तीन देवर रतनसिंह, विक्रमाजीत एवं उदयसिंह में से दो दावेदार राज के हुए। रतनसिंह तो कार्तिक सुदी १५८४ को चीतौड़ की गद्दी पर बैठे और विक्रमाजीत जो रणथम्भोर के किले में थे वहीं के मालिक हो गये। यहांतक नौबत पहुंची कि आज उनका वकील बाबर के पास मदद के लिये जाता है तो कल दूसरे का। बूंदी के राव सूरजमल जी ने जो विक्रमाजीत और उदयसिंह के मामा थे, रतनसिंह को मार डाला। सम्वत १५८८ मेवाड़ के सरदारों ने उसके बाद रणथम्भोर से विक्रमाजीत को लाकर गद्दी पर बैठाया। विक्रमाजीत उस वक्त २० बरस के थे। इनके मिजाज में छिछोरपन था इसलिये सरदार सब नाराज हो गये। मीराबाई को भी इन्होंने बहुत कष्ट दिया। जो साधु सन्त मीराबाई के पास आते थे यह बात उनको बुरी लगती थी। उनका आना जाना रोकने के लिये मीराबाई पर बहुत सख्ती किया करते थे और तकलीफ भी देते थे। यह इनके कई भजनो से पता चलता है।

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई
दूसरा न कोई हो नाथ दूसरा न कोई
साधुन संग बैठ बैठ लोक लाज खोई
यह तो बात फूट गयी जानत सब कोई
असुंअन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई
यह तो बेल फैल गयी इमृत फल होई
आई थी मैं भगत जान जगत देख रोई
लोग कुटुम भाई बन्धु संग नहीं कोई

इस तरह से जब कोई फायदा नहीं हुआ तो राणा ने अपने मन्त्री (जो बीजावर्गी बनिया था) के तजबीज से सांप बिच्छू छुपा कर भेजे और एक प्याला जहर भी भेजा, यह कह कर कि यह चरणामृत है। मीराबाई खुशी से उसको पी गयीं। यह जहर देने के बावत एक पद 'साधो' में मीराबाई के नाम से गाया जाता है।

राणा जी जहर दियो हम जानी
अपने कुल की पद राख्यो मैं अवला बोरानी
राणा जी परधान पठायो सुन जो जीथे राणी
जो साधन के संग निवारो करूं तुम्हें पटरानी
कोड़ भूम साइन पै वारूं जिनकी मैं दासी कहानी
हथलेवा राणा जी संग जड़ियो गिरिधर घर पटरानी
मीरा की मति एक राम सों चरण कमल लिपटानी

पर यह पद मीरा का नहीं है, क्योंकि वे कभी यह नहीं लिखतीं कि "जो साधन के संग निवारो करूं तुम्हें पटरानी............क्योंकि न राणा जी उनको पटरानी बना सकते थे, न उनका हथलेवा राणा जी से जोड़ा गया था। यह 'साधो' का गढ़ा हुआ है।

अब आगे बाजे लोग कहते हैं कि उस जहर से मीराबाई का देहान्त हो गया और उन्होंने सराप दिया मुसाहब को; और कुछ लोग यों कहते हैं कि मीराबाई को उस जहर का कुछ असर नहीं हुआ बल्कि द्वारका जी में रणछोड़ के मुंह से झाग निकलते थे। वे मेड़ते में अपने काका राह वीरमजी के यहां चली आयीं। यह बात अगर सच है तो उनका मेवाड़ से जाना बहुत बुरा हुआ। गुजरात के बादशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी बहुत बड़े लश्कर और तोपखाने के साथ सम्वत १५८८ में। मेवाड़ को बचाने के लिये बूंदी, जोधपुर और मेड़ते के शूरवीर आये और उन्होंने अपनी तलवारों के पानी से तोपखाने की आग ठण्ढी कर दी, पर विक्रमाजीत की मां ने अपने बेटे को कम उमर देख कर बादशाह से सुलह कर ली। वह 'उदै' सिंह को भी ले जाता था, पर उसके साथियों ने यह देख कर उन्हें छिपा दिया।

बहादुर शाह ने फिर हमला किया। विक्रमाजीत की मां ने हुमायूं से मदद मांगी। वह आने को राजी हुआ पर एक मौलवी ने यह कह कर रोक लिया कि जब एक मुसलमान एक काफिर से लड़े, तो दूसरे मुसलमान को नहीं जाना चाहिये। रानी ने विक्रमाजीत और उदेसिंह को बूंदी भेज दिया और खुद लड़ी। किला टूटा और १३००० औरतें जौहर व्रत करके आग में जल मरीं और ३०००० राजपूत काम आये।

थोड़े ही दिनों बाद हुमायूं ने बहादुरशाह को हराया और विक्रमाजीत को गद्दी पर बैठाया। विक्रमाजीत के वही छिछोरेपन के कारण सरदार नाराज हो गये और खवासवाल बेटा बनवीर ने उन्हें मार डाला और सम्वत १५९२ में गद्दी पर बैठ गया। सम्वत १५९६ में उदयसिंह उसको निकाल कर गद्दी पर बैठे।

मीराबाई मेड़ते में रहती थीं, जहां बीरमदेव और जयमल जी उनकी बहुत खातिर करते थे। वह अपने गिरिधर जी का शृङ्गार करती और उनके सामने गाया एवं नाचा करतीं। वह 'मूरति' भी अब चतुर्भुज के मन्दिर में मौजूद है। मेड़ते में साधु सन्तों की देखभाल उसी तरह होती थी जैसी कि चीत्तौड़ में होती थी।

मीराबाई के देहान्त के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता, यह कहा जाता है कि वह द्वारका में रणछोड़ जी के दर्शन के लिये गयी थीं। वहां एक ब्राह्मण ने धरणा दिया था, जिसे राणा ने उन्हे लौटा लाने के लिये भेजा था। पर मीराबाई जाना नहीं चाहती थीं और वह रणछोड़ के मन्दिर में समा गयीं। वह मूरति अबतक डाकोर के इलाके गुजरात में है और उनका चीर, अबतक भगवत भगतों को, रणछोड़ जी के बगल में निकला दिखाई पड़ता है।

इससे ऐसा अनुमान होता है कि उनकी मृत्यु द्वारका में हुई।

—हरि सिंह

(२)

मीराबाई और श्री चैतन्य

राजस्थान के इतिहास में मीराबाई का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वे केवल राजपरिवार की ही नहीं थी वरन जन्म से ही अपनी दृढ़ भक्ति भावना के कारण भारत के उच्चकोटि के भक्त साधकों में भी उनका स्थान बहुत ऊंचा है। कृष्ण की भक्ति में गाये गये उनके पद् देश के कोने कोने में आज भी गाये जाते हैं। जिस समय उन्होंने भक्ति का पथ अवलम्बन किया उस समय तक उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति की लहर बड़े वेग से प्रवाहित हो चुकी थी।

पूर्व भारत में श्री चैतन्य का जन्म १४८६ में हो चुका था और उनका निधन १५३४ में हुआ। ये माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे और अपने गुरु द्वारा भागवत् पुराण की टीका में प्रदर्शित राधाकृष्ण की भक्ति कीर्तन के अनन्य उपासक और कुछ अंशों में प्रबल प्रचारक भी थे। अपने समय में इन्होंने विस्तृत देशाटन किया था। गुजरात और राजस्थान की ओर भी इनका जाना प्रसिद्ध है।

कृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर मीराबाई भजन गाती थीं। यह भी कीर्त्तन का ही एक प्रधान रूप है। कृष्ण के प्रति इनका दृष्टिकोण भी यही था जिसका प्रचार श्री चैतन्य ने स्वयं किया था। इस प्रकार के साम्य को देखकर बहुत से लोगों की मान्यता है कि शायद् मीराबाई श्री चैतन्य की शिष्या थीं। किन्तु दोनों के काल को देखते हुए ऐसा मानना प्रमाणित नहीं होता। यह सम्भव अवश्य है कि श्री चैतन्य के द्वारा प्रचारित मार्ग ही इनका भी मार्ग रहा हो। धार्मिक अनुश्रुतियों और प्राप्त लेखों के आधार पर यह ठीक है कि मीराबाई वृन्दावन गयी थीं और वहां जीव-गोस्वामी से वे मिली थीं जीव गोस्वामी श्री चैतन्य की ही परम्परा में थे। यद्यपि वे

H

स्थायी रूप से वृन्दावन नहीं रहते थे। अपने समय के जीव गोस्वामी बड़े प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं। भारत के पश्चिमोत्तर अंचल में श्री चैतन्य के उपदेशों का प्रचार इन्होंने बहुत अधिक किया था। यह सम्भव है कि मीराबाई को इनके सम्पर्क में आने के कारण श्री चैतन्य का सन्देश प्राप्त हुआ हो और वे उससे प्रभावित भी हुई हों किन्तु यह मानना कि मीराबाई कभी श्री चैतन्य से मिली होंगी आधार युक्त नहीं जान पड़ता। श्री चैतन्य के द्वारा आधारित भक्ति के मार्ग के अनुसार मीराबाई ने अनेक भजन लिखे हैं जो उनके विविध संग्रहों में देखे जा सकते हैं। उन पदों के आधार पर ही शायद लोगों को मीराबाई के चैतन्य के साथ मिलने का भ्रम होता है। किन्तु इसकी कोई मान्यता नहीं। हां श्री चैतन्य के द्वारा प्रदर्शित कृष्ण भक्ति का मीरा पर प्रभाव अवश्य है।

डा० सुकुमार सेन, एम० ए० पी० एच० डी०

(३)

मीरा—'निरुक्त'

अनेक वर्ष पूर्व शायद डा० पिताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने ही 'सरस्वती' (भाग—४०, संख्या ३) में पहले-पहल मीरा नाम की व्युत्पत्ति तथा उसके अर्थ एवं परम्परा इत्यादि की चर्चा छेड़ी थी। उसके उपरान्त मीराबाई पर लिखनेवाले कितने ही विद्वानों ने इतनी लिखा-पढ़ी की कि यह प्रश्न एक जटिल समस्या बन कर ही रहा। इस ओर सारी खोज का आधार (१) मीरा नाम की व्युत्पत्ति (२) उसका अर्थ और (३) उसके शुद्ध रूप के प्रयोग के विषय को लेकर ही है।

डा० बड़थ्वाल अनेक आधारों पर इसे फारसी शब्द 'मीर' से निकला हुआ मानते हैं। पुरोहित श्री हरिनारायण जी को लिखे गये पत्र में राजस्थान के इतिहास के प्रसिद्ध पण्डित श्री विश्वेश्वरनाथ जी रेउ लिखते हैं—"मीरा शब्द संस्कृत का नहीं है। मालूम होता है कि नागौर में मुसलमानों का अड्डा होने व मेड़ते के उसके निकट रहने से, अथवा अन्य कारणों से, उनका प्रभाव राजपूतों पर पड़ा होगा............। मीरां शब्द फारसी में मीर का बहुबचन है और शाहज़ादों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।" ('सन्तवाणी', पत्रिका वर्ष—१, अङ्क ११, पृष्ठ २४) प्रसिद्ध पण्डित और मीरा पर खोज करनेवाले पुरोहित श्री हरिनारायण जी लिखते हैं—"अरबी भाषा के अक्षरी केवल रूप (?) के अनुसार 'अम्र' बना। 'अम्र' से फ़ईल के वज़न पर अमीर बना। अमीर का संकुचित रूप 'मीर' हुआ, 'मीर' का बहुवचन और प्रतिष्ठा द्योतक 'मीरां' शब्द बना। (सन्तवाणी पत्रिका—अङ्क ११, पृष्ठ ४२) इस नामकी व्युत्पत्ति की खोज करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रह जाती। न वह मारवाड़ी शब्द है न यह हिन्दी की किसी शाखा का शब्द है, फिर संस्कृत, प्राकृत वा पाली में इसकी व्युत्पत्ति ढूंढ़ने की बात ही क्यों की जाय ? वृथा की चेष्टा रहेगी।" (सन्तवाणी—अङ्क ११, पृष्ठ ३२) आगे चल कर पृष्ठ ३१ और ३२ (सन्तवाणी, वही) में श्री शास्त्री जी

अपनी अति प्राचीन १९२७ से की गयी खोज का हवाला देते हैं। उनका कहना है कि मीराबाई के नामकरण संस्कार का रहस्य उन्हें किसी (?) बहुत वृद्ध सज्जन के द्वारा प्राप्त हुआ है कि मीराबाई की माता को उनके 'पीहर की आई हुई एक बुढ़िया आया' ने सुझाया था कि सन्तान के लिये वे 'मीराँ साहब अजमेरी की बोल्यारी' बोल दें और श्री शास्त्री जी का दृढ़ मत है कि इन्हीं मीराँ साहब अजमेरी के प्रसाद से ही मीराबाई का जन्म हुआ था, और इसलिये उनका नाम मीरांबाई पड़ा। मीराँ साहब अजमेरी की प्रतिष्ठा स्थापित करने में दिवान बहादुर श्री हरविलास जी सारडा के ग्रन्थ 'अजमेर' का भी सहारा लिया गया है। इस समस्त मान्यता की आलोचना भी आगे की जायगी।

गुजराती साहित्य के विद्वान पण्डित केशवराम काशीराम शास्त्री अपनी पुस्तक कवि चरित भाग—१ में मीराँ की व्युत्पत्ति 'मिहिर' अर्थात् सूर्य से मानते हैं। प्रोफेसर नरोत्तमदास स्वामी प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण के नियमों से 'मीराँ' का मूल 'वीराँ' शब्द में मानते हैं ('राजस्थानी—साहित्य,' उदयपुर, वर्ष १, अङ्क २)

हमें दुख है कि हम अपने महा प्रसिद्ध उद्भट विद्वानों से इस विषय में सहमत नहीं। यों तो किसी व्यक्ति के नाम के अर्थ या उसकी व्युत्पत्ति इत्यादि के सम्बन्ध में वादविवाद निरर्थक सा ही होता है; किन्तु यह समस्या जब इतना जटिल रूप धारण कर चुकी है तो इस ओर थोड़ी सी छानबीन हमारे पक्ष में भी आवश्यक हो गयी।

'मीरा' की व्युत्पत्ति का ठीक रहस्य समझने के लिये शायद अच्छा होगा कि पहले 'मेड़ता' शब्द पर विचार कर लिया जाय। 'मीराँ-माधुरी' के लेखक श्री ब्रजरत्नदास जी पृष्ठ—३ पर लिखते हैं कि मेड़ता का शुद्ध नाम 'महारैता' है और यही महारैता बदला 'मेड़न्तक' में और फिर हो गया मेड़ता। इसी का दूसरा नाम उन्होंने मान्धातृपुर भी बताया है। महारैता से मेड़ता की सिद्धि व्याकरण सम्बन्धी नियमों पर हो सकती है। किन्तु अच्छा होता श्री ब्रजरत्नदास जी मान्धातृपुर वाली अपनी मान्यता के ऐतिहासिक प्रमाण का थोड़ा सा उल्लेख कर देते। हम इसे महारैता नहीं

मानते। अबतक के जितने भी प्रमाणयुक्त ऐतिहासिक लेख प्राप्त हुए हैं प्रायः सभी में माना गया है कि मेड़ता की स्थापना—पुनर्स्थापना नहीं—राव दूदाजी के द्वारा हुई थी, अतः हम तो इसी को आधार मानकर, नाम विषयक अपनी खोज करना उचित मानते हैं।

मेड़ता का उल्लेख करते हुए 'राजस्थान गजेटियर' (पृष्ठ—२३१) कहता है कि मेड़ता के चारों ओर जल का आधिक्य है (Water is plentiful at Merta, there being numerous tanks all around the city) अतः जल के आधिक्य के बावजूद भी वहां मरुस्थली की कल्पना अर्थशून्य सी जान पड़ती है। और जब राव दूदा जी के सामने अपने लिये नयी राजधानी स्थापित करने का प्रश्न उपस्थित हुआ होगा, तो निस्सन्देह ही किसी जलाशय के आसपास का स्थान ही उन्होंने पसन्द किया होगा।

'मेड़ता' शब्द का यदि व्याकरण के नियमों पर विवेचन किया जाय तो यह निम्न रूपों में सिद्ध हो सकता है।

(१) मेरु + त या मेरु + ता = मेरुता

या (२) मेरु + तक् = मेरुतक

(३) मीर + ता = मीरता।

मेरु शब्द का अर्थ संस्कृत कोष इस प्रकार मानता है,—पर्वत विशेष का नाम, माला या हार के मध्य में पोहा गया दाना या रत्न-विशेष। 'त' का अर्थ है—पृष्ठ भाग, वक्षस्थल, गर्भ, योद्धा, पतित व्यक्ति, म्लेक्ष, रत्न और अमृत। 'ता' प्रत्यय से संकेत माना गया है—गन्तव्य मार्ग सद्गुण, पवित्रता। प्रत्यय 'तक' संकेत करता है क्षुद्रता या लघुता का। इसी प्रकार एकाक्षर कोष में 'ता' शब्द लक्ष्मी का प्रतीक माना गया है। इनके अनुसार अब यदि उपर्युक्त मेड़ता के तीनों आधारों पर विचार किया जाय तो 'सिद्ध-मेरुता' शब्द के विविध अर्थ कुछ इस प्रकार ठहरेंगे :—

(१) मेरुत या मेरुता का अर्थ होगा, किसी पर्वत का पार्श्वभाग या उसकी तराई या किसी पर्वत विशेष का गन्तव्य मार्ग।

(२) मेरुतक का अर्थ होगा, छोटा पर्वत या पहाड़ी। मेड़ता के आसपास कुछ छोटी पहाड़ियां अवश्य हैं, किन्तु उल्लेखनीय नहीं, अतः वहां न प्रश्न उठता है गन्तव्य पथ का और न पर्वत अर्थ रखनेवाले मेरु शब्द की सार्थकता का। इसलिये उपर्युक्त मेरु आधारित दोनों सम्भावनाएं मेड़ता नाम के मूल में उपयुक्त सिद्ध नहीं होतीं।

(३) तृतीय आधार है मीर + ता = मीरता। मीर शब्द का अर्थ संस्कृत कोष के अनुसार है—जलराशि, समुद्र, किसी पर्वत का कोई भाग, सीमा और पेय-विशेष। और एकाक्षर कोष के अनुसार 'ता' शब्द लक्ष्मी शब्द का वाचक है। हमारे साहित्य में—क्या प्राचीन और क्या नवीन— लक्ष्मी धन की देवी तो हैं ही किन्तु सौन्दर्य, ऐश्वर्य इत्यादि भी उन्हीं के उपादान हैं। अतः यदि 'मीर' शब्द जलराशि अर्थात जलाशय और 'ता' युक्त मीर सुन्दरतम जलाशय माना जाय तो आपत्ति की कोई गुञ्जायश नहीं। और इस प्रकार न केवल मेड़ता शब्द की व्युत्पत्ति की ही समस्या हल हो जाती है, वरन उसको पूर्ण सार्थकता भी स्पष्ट हो जाती है।

मीराबाई का नाम निस्सन्देह ही उपर्युक्त व्युत्पत्ति से सम्बन्धित है। 'मीर' वाच्य है जलाशय का। मेड़ते के चारों ओर सुन्दर सुन्दर झीलें हैं। सरिता और झील इत्यादि पर स्त्रियों के नाम रखने की प्रथा हमारे देश में नवीन नहीं। यदि राव दूदा जी ने अपनी पौत्री के अलौकिक सौन्दर्य से प्रेरित होकर मेड़ते की सुन्दरतम झील के आधार पर उसे मीरा कहा हो तो आश्चर्य क्या? साथ ही जल हमारे देश में सात्विक भावना का सिद्ध उद्दीपन माना गया है। इसी के अनुसार मीरा की जल के समान सौम्य सुन्दरता और निर्मलता देखकर राव दूदा जी ने उन्हें मीरा कहा होगा। और यही शब्द बारम्बार सम्बोधन वाचक होने के कारण और परम आकर्षक बालिका मीरा के लिये होनेके निमित्त केवल मीर न रह कर मीरा प्रसिद्ध हुआ होगा।

अब यदि उपर्युक्त पुरोहित श्री हरिनारायण जी की मीरां शाह अजमेरी की दुआ वाली मान्यता की समीक्षा की जाय तो उसके स्वीकार करने

में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं (१) जिन 'वृद्ध' सज्जन ने उपर्युक्त-सूचना पुरोहित जी को दी, वे कौन थे, उनके द्वारा प्रदत्त सूचना का क्या आधार था ? जबतक यह स्पष्ट ज्ञात न हो तबतक वह किसी चलते फिरते मीरां शाह अजमेरी के भक्त की कल्पना भी तो हो सकती है। (२) श्री हरविलास जी सारडा तथा अन्य प्रामाणिक ऐतिहासिक आधार एक मत है कि मीरां शाह शहाबुद्दीन गोरी का एक अमीर था। तारागढ़ का किलेदार बना दिया गया था और यहीं अपने चेले चापड़ों के साथ शूरवीर राजपूतों की तलवार का शिकार हुआ था। इसके लिये पुरोहित जी जैसे—संस्कृत और हिन्दी के पण्डित होने के अतिरिक्त फारसी और अरबी जानने का दावा करनेवाले—विद्वान 'पीर' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'पीर' और 'गाज़ी' में मूल अन्तर है। यह मीरन शाह पीर तो नहीं गाज़ी भले ही रहा हो। साथ ही यह भी इतिहास सिद्ध है कि १५६२ ई० की अकबर की अजमेर-ज्यारत के पहले तक खंगसवार मीरां शाह की न कोई दरगाह बनी थी और न कोई प्रसिद्धि ही शायद थी। तब इनकी बरकत का नाता मीरा के जन्म से जोड़ना न जाने किस तर्क से सिद्ध किया जा सका है ? क्योंकि मीरा का जन्म तो १४९८ से १५०३ के भीतर माना जाता है। एक बात और विशेष विचारणीय है कि ऐतिहासिक साक्ष्य पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि यह मीरां शाह कहलानेवाला खंगसवार मारा गया था कट्टर शत्रु की तरह राजपूतों के द्वारा। तब राजपूत राजवंशों में—और विशेष कर उस मध्ययुग के राजवंशों में जिनकी मित्र-शत्रु-विषयक भावनाएं जगत की कहानी बनी हुई हैं। एक मुसलमान शत्रु पक्षवाले की पूजा कैसे सम्भव हो सकती थी। जलाशय का महत्व, जहां स्वाभाविक रूप से जल की कमी हो, वहांवालों के लिये—कितना और क्या होता है लिखने की आवश्यकता नहीं।

विविध सम्मानित विद्वानों को जो 'मीर' शब्द को एकान्त रूप से अरबी और फ़ारसी का ही मानते हैं—जानना चाहिये कि भारत और अरब का सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन समय से है। विद्या और ज्ञान के

क्षेत्र में न जाने भारत की कितनी 'मान्यताएं' अरब के निवासियों के द्वारा प्राचीनतम काल से ही अपना ली गयी थीं। 'मीर' शब्द अरबी से फारसी में आया। इन्साइक्लोपीडिया आफ इस्लाम—पृष्ठ ५०५ में इसका विस्तृत उल्लेख है। वहां के समस्त साहित्य में मीर, अमीर, मिरज़ा तुर्की भाषा का 'मीरी' सभी समान भाव से उच्चता और बड़प्पन के द्योतक हैं। इन सब शब्दों की जड़ संस्कृत शब्द 'मेरु' पर ही है; जिसके अर्थों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सम्भव हो सकता है कि मुस्लिम सत्ता के साथ यह शब्द अपने अनेक अर्थों में फिर भारत में प्रचलित हुआ हो किन्तु इसमें सन्देह की गुंजाइश ही नहीं है कि संस्कृत का मेरु अपनी समस्त विशालता के आकर्षण को लिये हुए अरब, फारस और तुर्क देश में गया और वहां से 'मीर' बनकर फिर वापस आया।

उच्चारण पक्ष से यह शब्द मीरा या मीरां—क्या होना चाहिये, इस पर भी कम विवाद नहीं। अन्य अनेक विद्वानों के अतिरिक्त पुरोहित हरि-नारायण जी ने सन्तवाणी पत्रिका के उल्लिखित अङ्क के चालीस पृष्ठों में बड़ी भावना के साथ न जाने कितने प्रमाण देते हुए मीरां ही लिखे जाने का आग्रह किया है।

फारसी और अरबी व्याकरण के अनुसार निस्सन्देह 'मीरां' रूप 'मीर' का बहुवचन है। यह सभी को मान्य है पुरोहित जी भी इसे दुहराते नहीं थकते। यह भी परम मान्य परम्परा है कि सम्मान प्रदर्शन के लिये एक वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। केवल अरबी या फारसी में ही नहीं, शायद संसार की सभी भाषाओं में यह प्रचलन है। फारसी और अरबी में मीर या अमीर शब्द विविध सम्मानित व्यक्तियों और कवियों के लिये प्रयुक्त होता है। ये सभी सर्वथा आदर के पात्र हैं अतः बहुवचनात्मक प्रयोग पूर्ण रूप से शास्त्र एवं परम्परा सम्मत हैं। किन्तु जहां एक ओर यह मान्यता प्रबल आधारों से युक्त है वहीं यह परम्परा भी कम प्रचलित या गौण आधारों पर नहीं है कि निकटतम सम्बन्ध की भावना—एकवचन की कौन कहे, आदर की बात कौन पूछे—ईश्वर तक के

लिये 'तू' और 'तेरे' की शब्दावली का प्रयोग करा डालती है, और उसी में दोनों को आनन्द आता है। भक्त प्रवर ज्ञान चुड़ामणी श्री गोस्वामी तुलसीदास जी को उनके कितने भक्त अपनी चरम भक्ति और श्रद्धा को लिये हुए भी उन्हें केवल तुलसी कहते नहीं सुने जाते? मर्यादा पुरुषोत्तम रघुकुल तिलक विष्ण के साकार रूप रामचन्द्र भक्तों के द्वारा केवल राम ही कहे जाते हैं और रमैया जी कह कर भक्त समुदाय वही भक्ति और वही श्रद्धा उनके प्रति रखता है जो आदरसूचक विशेषणों की झड़ी लगा कर उनके नाम का उच्चारण करने वाले हैं। तब यदि मीरा को मीरा कहा गया तो कौन सा पाप हो गया।

—ललिता प्रसाद सुकुल

(४)

मीरा की शिक्षा

मीरा सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं की भाँति 'मीरा की शिक्षा' के सम्मुख भी एक प्रश्नचिह्न लगा हुआ है। उनके पद ही हमारी थाती हैं। शापग्रस्ता देवकन्या की भाँति वे इस अनमेल पृथ्वी पर आईं। मर्त्य ने उन्हें कटुता दी, और प्रतिदान में वे मधुरता बिखेरती चली गईं। उसी मधुरता का अब अवलंब है। मर्त्य का मानो यही क्रम रहा है कि देवोपम अमर जीवों को कटुता दे मधुरता का पान करता जाय। इसीलिए शायद वह जीवित है।

मीरा अपनी थाती को लिखित रूप में नहीं दे गईं। लिख कर देती ही क्यों? कृष्ण-रंग में राती मीरा को कागज़ और मसि में आकर्षण होता, अथवा गिरधर के सन्मुख करताल लेकर भजन करने में? आलोचकों ने निपट अज्ञानतावश लेखनी को महत्व देकर मीरा को अशिक्षिता ठहरा दिया।

पाश्चात्य जगत के अद्भुत प्रभाव के कारण आज भी, हम, भारतीय संस्कृति और भारतीय दृष्टिकोण को अपना कहकर घोषित करने में कुंठित होते हैं। वरन्, भारतीय संस्कृति को स्वतंत्र अस्तित्व देना, महान् मूर्खता-पूर्ण विचारों में गिना जाता है। 'शिक्षा' का आजकल प्रचलित अर्थ है 'साक्षरता'। जीवन का अनुभव, जीवन संग्राम में साहसपूर्वक सफलता की ओर बढ़ना, संस्कृति की रक्षा करना, शिष्टाचार, मानसिक और नैतिक उन्नति, आत्मबल, चरित्र-संगठन और उसकी दृढ़ता, व्यापक दृष्टिकोण, उदारता, सदाचरण, सामाजिक सहयोग, तथा सत्य का अन्वेषण आदि शिक्षा के ही अंग (यद्यपि प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में ये सब सम्मि-लित थे) हैं, आज हमारे यहाँ लोग भूल गए हैं।

मीरा के लिखित पदों के अभाव में आलोचकों को भ्रम हो गया कि

मीरा शिक्षिता नहीं थीं। मीरा ने राजकुल में जन्म लिया और राजकुल में ही उनका विवाह भी हुआ। अन्य कुलों की अपेक्षा राजकुलों में राजकुमारियों की शिक्षा आदि का प्रबंध विशेष रूप से किया जाता रहा है। अतः मीरा के लिए भी उनके अभिभावकों की उदासीनता संभव नहीं। मीरा अपने बाबा राव दूदा जी के पास पलीं। भविष्य में मीरा किस रूप में जगत के सामने उपस्थित होने जा रही थीं, किसी को क्या पता था ? राव दूदा जी के समान वीर पराक्रमी तथा विविध गुण संपन्न व्यक्ति विवाह के पूर्व मीरा की शिक्षा-दीक्षा के उत्तरदायित्व का निर्वाह उचित रूप से न करें, यह संभव नहीं जान पड़ता। उनके यहां साधुजनों एवं विद्वानों का समागम होता ही रहता था, मीरा के ऊपर भी इसका प्रभाव कम नहीं पड़ा होगा। शिक्षा के विभिन्न साधनों में सत्संग भी एक महत्वपूर्ण साधन है। मीरा को अपने पितृ-गृह में सत्संग का अवसर यथेष्ट मिला होगा। चारित्रिक एवं मानसिक विकास, आत्मिक दृढ़ता, सुसंस्कृत एवं परिष्कृत आचार-व्यवहार, दृष्टिकोण में व्यापकता एवं उदारता आदि की अत्यन्त स्वाभाविक रूप में उन्हें शिक्षा मिली होगी। राव दूदा जी वैष्णव थे। उनके घर पर वैष्णवजनों का आगमन हुआ करता था। अतः आध्यात्मिक चिंतन एवं विचार विमर्श आदि में भी मीरा को भाग लेने का यथेष्ट सुयोग मिला होगा। पितृ-गृह में लड़कियां यों ही पर्दा कम करती हैं, मातृ-विहीना मीरा तो अपने बाबा की बड़ी लाडली पौत्री थीं, इसलिए वयःप्राप्ति के बाद भी उनके निकट रहकर बाह्यज्ञान उन्होंने प्राप्त किया होगा। संभवतः इसीलिए सुसराल में अत्यधिक पर्दा रहने पर भी वे पर्दे के बाहर अनायास आ सकीं और बाह्य जगत के साथ बड़े स्वाभाविक ढंग से मिल-जुल सकीं। उन्हें पितृ-गृह में घरेलू अन्य विभिन्न शिक्षाएं भी दी गई होंगी, किन्तु पूर्व संस्कारों के कारण स्त्रीपयोगी शिक्षाओं की अपेक्षा मानसिक उन्नति ही अधिक हुई होगी। जहां विभिन्न शिक्षाएं मीरा को दी गई होंगी वहां लिखने पढ़ने की भी शिक्षा अवश्य ही दी गई होगी।

सुसराल में मीरा का स्वागत सर्व विदित है। विवाह के पश्चात अति अल्प समय में ही उनका विधवा हो जाना भी उनके सुसरालवालों की दृष्टि में अक्षम्य अपराध ही माना गया होगा। नाना प्रकार की ताड़ना, यन्त्रणा, एवं अत्याचारों को बिना किसी शिकायत के सहते जाना, उनके सुसंस्कृत होने का एवं सहनशीलता का परिचायक है। अत्याचार, अन्याय के कारण मीरा ने आत्महत्या नहीं की, भाग्य की विडम्बना को हृदय से लगाकर अपने को कृष्णार्पण कर दिया। इसके द्वारा उनके आत्मबल, एवं आत्मोन्नयन का परिचय मिलता है। बिना पर्याप्त शिक्षा के इन गुणों का विकास सहज में नहीं होता है।

मीरा भक्त थीं। कृष्ण ने उनके तन और मन को आच्छादित कर रखा था। भावुक हृदया थीं। अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति संगीत के साथ करती थीं। परवर्ती युग उनकी अभिव्यक्तियों में काव्य का अन्वेषण करेगा, इसकी कल्पना संभवतः उन्होंने कभी नहीं की होगी। इसलिए लिपिबद्ध कर अपने पदों को रखने की प्रेरणा भी उन्हें कभी नहीं हुई होगी। इसके अतिरिक्त, मीरा अपने रचित पदों को गाकर भजन किया करती थीं। इसलिए पदों के विस्मृत होने की सम्भावना कम रहती थी। संगीत में, विशेषतः गान में लिपिबद्ध पदों की विशेष आवश्यकता नहीं रहती है। तानसेन, हरिदास स्वामी, बैजू बावरा आदि के गानों की हस्तलिखित प्रतिलिपि कहीं उपलब्ध है, ऐसा तो अभीतक सुनने में नहीं आया। अतः मीरा को भी पदों को लिपिबद्ध करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी होगी।

उनकी शिक्षा-दीक्षा का परिचय इस प्रकार भी मिलता है कि वे गाने में कुशल तो थी हीं, साथ ही नृत्य भी करना जानती थीं। उनके पदों में वे स्वयं कहती हैं, 'पग घुंघरू बांध मीरा नाची रे'। सुसराल में और फिर विरोधी वातावरण में, उन्हें नृत्य-कला की शिक्षा दी गई होगी, यह असंभव है। पितृगृह में ही इसकी सम्भावना है। किसी भारतीय कुल में कन्या को नृत्य की शिक्षा देना, उस कुल के उदार दृष्टिकोण का परिचायक होता

है। अतः मीरा को राव दूदा जी के संरक्षण में जब उन्हें यह शिक्षा मिल सकी· होगी, तो सम्भवतः शिक्षा के विविध अन्य उपांगों से भी वे वंचित नहीं रक्खी गई होंगी।

—कमलादेवी गर्ग

मीराबाई

"इसी सोलहवीं शताब्दी में एक भक्त स्त्री भी कवियित्री के रूप में सामने आती हैं और वे हैं मीरा बाई। पहले मैं· उनकी रचनाओं को आपके सामने उपस्थित करता हूं। मीरा बाई बहुत प्रसिद्ध महिला हैं। वे चित्तौड़ के राणा[1] की पुत्रवधू थीं परन्तु उनमें त्याग इतना था कि उन्होंने अपना समस्त जीवन भक्तिभाव में ही बिताया। उनके भजनों में इतनी प्रबलता से प्रेमधारा बहती है कि उससे आर्द्र हुए बिना कोई सहृदय नहीं रह सकता। वे सच्ची वैष्णव महिला थीं; और उनके भजनों के पद्-पद् से उनका धर्मानुराग टपकता है। इसीलिए उनकी गणना भगवद्भक्त स्त्रियों में होती है। उस काल के प्रसिद्ध सन्तों और महात्माओं में से उनका सम्मान किसी से कम नहीं है।

(उद्धृत—हिन्दी साहित्य का इतिहास "हरिऔध")

---

१ श्री हरिऔध जी ने स्पष्ट नहीं किया कि वे मीरा को कौन से राणा की पुत्रवध मानते हैं।—सं०

मीरा के जीवनवृत्त का स्थानीय साक्ष्य

भारत में साधारणतया मध्यकाल का इतिहास पूर्ण और विस्तृत रूप में प्राप्त नहीं है—यह इतिहास का प्रत्येक छात्र दुःख के साथ अनुभव करता है, उस काल में भी साहित्यिक अथवा धार्मिक विभूतियों के जीवन का इतिवृत्त और भी अधिक प्रच्छन्न है। उसके चारों तरफ अस्पष्टता और अपूर्णता का ऐसा पर्दा पड़ा हुआ है कि किंवदन्तियों और कल्पनाओं के सहारे उनतक पहुंचने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। भक्त-शिरोमणि मीरा बाई भी ऐसी ही एक महान् आत्मा ऐसे अन्धकारप्राय काल में अवतीर्ण हुई।

जीवन की तिथि और मास की तो चर्चा ही क्या, संवत् में भी बड़ा मतभेद है। श्री शुक्ल जी जब १५६३ बताते हैं तो कुछ अन्य स्रोत १५६७ और मारवाड़ के कुछ लेखक १५५५ ही स्वीकार करते हैं। अलनियावास, ब्रजपुरा (मारवाड़) निवासी मेड़तिया चौहानों के कुलगुरुओं तथा धोलेराव के उनके भाट के रिकार्ड के अनुसार उनका जन्म, ग्राम कुड़की--परगना जैतारण (मारवाड़) में बसाख सुदी तीज १५५५ को हुआ था। कुड़की गांव मेड़ता सिटी और मँगलियावास (अजमेर-मेरवाड़ा) दोनों ही स्थानों से १८ मील की दूरी पर अवस्थित है। यह इलाका पहाड़ी है; पहाड़ी पर ही वह छोटासा किन्तु सुन्दर और सुदृढ़ दुर्ग बना हुआ है जिसमें मीरा बाई का जन्म हुआ था। मीराबाई का जन्म उस दुर्ग के किस कमरे अथवा भाग में हुआ था, आज इसका पता किसी भी स्रोत से नहीं मिल रहा है। वहां के ठाकुर जोरावर सिंह जी, जो स्वयं बड़े सहृदस्य और इतिहास से रुचि रखने वाले महानुभाव हैं, इस विषय में कोई प्रकाश नहीं डाल सके क्योंकि वे इस कुल-परम्परा में, जिसमें मीरा बाई का जन्म हुआ था, नहीं हैं। वे चन्देला राजपूत हैं और मीरा बाई जोधपुर नगर के संस्थापक राव जोधा जी राठौड़ की प्रपौत्री, राव दूदा जी की पौत्री तथा

कुंवर रतनसिंह जी की पुत्री थी। कुंवर रतनसिंह जी के मीरा बाई के अतिरिक्त और कोई सन्तान नहीं थी। अतः उनके पश्चात् संवत् १७७३ में केशवदासथ् राजपूत जाति के कई सरदार मेड़ता परगना में आए लेकिन धीरे-धीरे उनका अस्तित्व भी एक दिन लोप हो गया और उसके पश्चात् वर्तमान जागीरदार जोरावर सिंह चंदेला केकड़ी में वर्तमान हैं।

- मीरा बाई की माता का नाम कुसुम कुंअर था। वे टांकनी राजपूत थीं। मीरा बाई के नाना कैलन सिंह जी थे। उनकी माता जी के निवास स्थान का पता, काफी खोज करने पर भी, अभी तक नहीं मिल सका।

तीन वर्ष की अवस्था में उनके पिता जी (?) तथा दस वर्ष की अवस्था में माता जी का शरीरान्त हो गया (?)। उनका शेष अविवाहितकाल अपने बाबा राव दूदा जी के पास मेड़ता (जोधपुर) में बीता। मेड़ता में ही उनका विवाह संवत् १५७३ में मेवाड़ निवासी राणा सांगा के पुत्र युवराज भोजराज जी के साथ हुआ। यह विवाह इनके पितृव्य ब्रह्मदेव जी तथा बाबा राव दूदा जी के देखरेख में बड़ी धूमधाम से संपन्न हुआ लेकिन ऐसा जनश्रुति के आधार पर सुना जाता है कि पाणिग्रहण से पूर्व ही मीरा बाई ने श्री गिरिधर गोपाल को मन ही मन अपना पति चुन लिया था और इसीलिए उन्होंने बाम हस्त से ही वैवाहिक विधि सम्पन्न की।

कुड़की के दुर्ग के रनिवास में एक छोटा सा मन्दिर है जिसमें मीराबाई शालिग्राम जी का पूजन किया करती थी और यह मन्दिर उनके द्वारा ही स्थापित किया गया था—ऐसा कहा जाता है। मन्दिर काफी जीर्ण-शीर्ण-सा पड़ा हुआ है। वर्तमान ठाकुर साहब ने उसकी साधारण रूप से मरम्मत करवा दी है जिससे वह पूर्णतया भूमिसात् होने से बच गया है। मन्दिर के भीतरी भाग से उसके प्राचीन होने के चिन्ह लक्षित होते हैं।

मेड़ता स्थित चार भुजा के मन्दिर के पुजारी हरचन्द जी मिश्री लालजी पराशर तथा अन्य वृद्ध जनों द्वारा ऐसा कहा जाता है कि

इसी चार भुजा जी के मन्दिर में स्थापित शालिग्राम जी की मूर्ति वही है जिसका पूजन मीराबाई बाल्यावस्था में कुड़की के स्वस्थापित छोटे से देवालय में किया करती थी। यह मूर्ति के कुड़की वर्तमान् ठाकुर श्री जोरावर सिंह जी के छठी पीढ़ी के पूर्वज ठाकुर श्री लक्ष्मण सिंह जी द्वारा गढ़ के मन्दिर से हटा कर यहाँ स्थापित करवा दी गई थी, ऐसा सुना जाता है। गढ़ के ऊपरी हिस्से पर एक छोटा सा कमरा मन्दिर के ढंग का बना हुआ है जहाँ पहले यह मूर्ति रखी हुई थी। उस कमरे की छत तथा बनावट काफी प्राचीन प्रतीत होती है। मेड़ता के महल में—जिसमें आज कल कचहरियाँ लगती हैं, तीन मंजिले पर एक छोटा सा आला बना हुआ है जिसके विषय में कहा जाता है कि मीराबाई उस आले में ज्योति स्थापित कर प्रातः सायं पूजा किया करती थी और उसके धूँए से वह आला आज तक काला है।

मेड़ता में एक प्राचीन दुर्ग 'मालकोट' के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें एक स्थान पर मीराबाई का जन्म स्थान बताया जाता है किन्तु उस स्थान पर अब न तो कोई मकान ही है और न उसके ध्वन्सावशेष।

मेड़ता के विशाल मन्दिर के ऊपरी हिस्से पर भी एक छोटा सा कमरा है जहाँ मीराबाई भजन किया करती थी और जो उनके समय का बना हुआ बताया जाता है। कमरे की छतों तथा दीवारों इत्यादि के देखने से वह इतना अधिक प्राचीन नहीं ठहराया जा सकता। इसके अतिरिक्त कुड़की ग्राम से लगभग ११-१२ मील रीयां एक छोटा सा ग्राम है जहाँ ठाकुर साहब गोठड़ा वर्तमान ठाकुर साहब के मुसाहिब हैं, उनसे यह ज्ञात हो सका है कि मीराबाई भ्रातृ विहीन थीं।

ऐसा भी सुना जाता है कि मीराबाई प्रति दिन कुड़की से श्री शालिग्राम पूजन करने चारभुजा जी के मन्दिर के ऊपर वाले कमरे में आती थीं जिससे यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि कुड़की स्थित मन्दिर के होते हुए भी वह आध पौन मील की दूरी पर नित्यप्रति

क्यों आती हैं—निश्चय ही वह पारिवारिक यन्त्रणाओं से दुखी थीं। अपने पिता एवम् पति की मृत्यु के उपरान्त मीराबाई जब अपने ससुराल में रहा करती थी, उस समय भी वहाँ उनके पति के पश्चात् होने वाले शासक (विक्रम सिंह) आदि उन्हें काफी तंग करते थे जिसके कारण एक दिन अत्यन्त दुखी होकर उसको सदा के लिए गार्हस्थ्य जीवन को लात मारना पड़ा। इसके अतिरिक्त मीराबाई के जीवन के विषय में कोई प्रमाण यहाँ पर उपलब्ध नहीं होते।

—विद्यानन्द शर्मा, डीडवाना

मीरा सम्प्रदाय

विलसन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'दि रेलिजस सेक्स आफ हिन्दूज़' (The Religious Sects of Hindus) में लिखा है कि राजस्थान के अंचल में और कहीं कहीं गुजरात में भी मीरा सम्प्रदाय के अनुयायी पाये जाते हैं। किन्तु अपनी इस धारण का उसने कोई पुष्ट प्रमाण नहीं दिया। बहुत सम्भव है उसी के कथन से प्रभावित होकर मैकॉलिफ़ ने भी मीरा सम्प्रदाय की प्रामाणिकता मान ली हो।

किसी मान्य आधार के अभाव में विलसन और मैकॉलिफ़ की उपर्युक्त धारणा सहसा स्वीकृत नहीं हो सकती। मीरा के जीवन वृत्त पर जो कुछ प्रकाश अब तक पड़ चुका है उससे असन्दिग्ध रूप में यही प्रगट होता है कि मीरा अपने इष्ट कृष्ण की भक्तिरसपूर्ण साधना में इतनी अधिक तल्लीन थीं कि किन्हीं लौकिक व्यापारों का कोई महत्व उनके लिये नहीं रह गया था। भजन कीर्तन वे करती थीं, सब के लिये छूट थी कि जिस का जी चाहे उस में सम्मिलित हो जाये, और सम्भवतः हज़ारों नर नारी हो भी जाते रहे होंगे। मीरा जैसी एकान्तिक साधना में संलग्न, संसार से पूर्ण विरक्त भक्त को किसी सम्प्रदाय स्थापना की फ़ुर्सत ही कहां हो सकती थी।

बहुत सम्भव है मीरा के प्रसिद्धि प्राप्त पद भक्त जनों के द्वारा गाये जाते थे और आज भी गाये जाते हैं। इन्हीं को देख कर विदेशी विद्वान विलसन को मीरा सम्प्रदाय की स्थापना का भ्रम हो गया होगा। या यह भी सम्भव है, मीरां शाह अजमेरी जो सूफ़ी सम्प्रदाय के थे उनकी दरगाह अकबर के द्वारा प्रति स्थापित हो जाने के बाद उनके (मीरां शाह) मुरीद अधिक संख्या में पैदा हो गये हों। और सूफ़ी होने के नाते सम्भवतः इन मुरीदों ने निर्गुणिये पद भी गाये होंगे, जो मीरां नाम के साम्य भ्रम के कारण मीराबाई के पदों में भी

स्थान पा गये होंगे और विलसन के भ्रम का कारण भी हो गये होंगे। सूफ़ी मतवाले प्रायः सम्प्रदाय स्थापना की फेर में रहा करते थे अतः यदि विलसन द्वारा कथित मीरा सम्प्रदाय के आस्तत्व में कुछ थोड़ी सी भी वास्तविकता होगी तो निश्चय ही उसका सम्बन्ध मीराबाई से कम किन्तु मीरां शाह से ही अधिक हो सकता है। मीराबाई के विषय में यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि—

'नाम रहेगा काम से सुनो सयाने लोय,
मीरां सुत जायो नहीं शिष्य ना मुँड्या कोय।'

परिस्थिति पर विचार करते हुए मीराबाई द्वारा संचालित किसी भी सम्प्रदाय की सम्भावना तो नहीं जान पड़ती। लेकिन यदि मीरां शाह वाली बात मान ली जाय तो निस्सन्देह मीराबाई के नाम पर मढ़े गये निर्गुण भावना वाले पदों का रहस्य भी खुल जाता है। कठिनाई केवल यही रह जाती है कि ऐसे पदों में निगुर्णी भावना का बांध ऊपर के ठाठ में देख पड़ता है लेकिन अन्तिम चरण में इन पदों के भो 'मीरां के प्रभु गिरधर नागर' इत्यादि जुड़ा मिलता है। सम्भव है मीराबाई की ख्याति मीरां साहब से बहुत अधिक होने के कारण मीरां शाह के ना समझ भक्त गूढ़ भेद को समझ ही न पाये हों और कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा लेकर भानमती का कुनबा जोड़ लिया हो।

—तारकनाथ अग्रवाल

(७)

गुरु रैदास

१ मैरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।
गुरु म्हारे रैदास सरन न चित सोई॥

२ खोजत फिरौं भेद वा थर को कोइ करत बखानी।
रैदास संत मिले मोंहि सतगुरु दीन्ह सुरत सहदानी॥

३ गुरु रैदास मिले मोंहि पूरे धुर से कल कलमीभड़ी।
सतगुरु सैन दई जब आके जोत में जोत अड़ी॥

४ झाँझ पखावज बेणु बाजियाँ झालर नो झनकार।
काशी नगर ना चौकमाँ मने गुरु मिला रोहीदास॥

कतिपय विद्वानों ने मीरा के उपर्युक्त प्रक्षिप्त पदों में आये हुए रैदादास जी के नाम को देखकर रैदास जी को मीरा का गुरु माना है। काशी के चौक में रैदास से मीरा की भेंट हुई थी यह भी इस पद से स्पष्ट होता है। श्रीव्रजरत्नदास जी कहते हैं कि "काशी का चौक अभी हाल का बना हुआ है। प्रायः दो शतब्दि पहले वहाँ तक महास्मशान समाप्त होता था और अब भी स्मशान, विनायक फाटक के पास मौजूद ही है। मुगल काल में वहाँ अदालत स्थापित हुई थी, जो महाल अब भी पुरानी अदालत कहलता है। चाँदनी चौक का छोटा रूप 'चौक' भी मुगल काल से प्रचलति हुआ है।" अतः जब चौक काही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता तब रैदास जी से मीरा की भेंट को सिद्ध करना भी असम्भव ही है। फिर मीरा का काशी जाने का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं। वे काशी जाती भी क्यों? उनके 'प्रियतम' व्रजवासी थे। जैसा कि प्रसिद्ध है, भक्तों के उपास्य केवल एक ही होते हैं उन्हीं में उनकी 'परानुरक्ति' होती है। जिस रूप की भक्त उपसना करता है उसके सिवा किसी दूसरे रूपकी उपासना उसके लिये सम्भव भी नहीं।

परम भक्त तुलसी ने "तुलसी मस्तक जब नवै धनुष बाण लेहु हाथ" कहकर इसे सिद्ध भी कर दिया है। इसलिये मीरा का काशी जाना भी सम्भव नहीं और रैदास जी से उनकी भेंट की भी सम्भवना नहीं।

मीरा का जन्म काल १५०४ संवत् माना जाता है। रैदास जी की मृत्यु १५१६ में हुई। सन् १५१६ तक मीरा की उम्र १५ वर्ष की हुई। अब यदि रैदास जी की भेंट इनसे हुई होगी तो १२ या १३ वर्ष की आयु में हुई होगी। लेकिन मृत्यु के दो या चार बर्ष पहले रैदास के मेवाड़ या मारवाड़ आने का कहीं उल्लेख नहीं। युवावस्था में उन्होंने अपने मत प्रचार के लिये भ्रमणा किया अवश्य था, वृद्धावस्था में नहीं। इस दृष्टिसे भी मीरा का रैदास जी से दीक्षा लेना सम्भव नहीं जान पड़ता।

हो सकता है कि 'चित्तौड़ की झाली रानी'—जिनकी भेंट रैदास जी से काशी में हुई थी और जिसका उल्लेख रैदास जी की उपलब्ध जीवनियों में पाया भी जाता है—को मीराबाई के नाम के साथ मिश्रित कर रैदास जी को मीरा का गुरु मान लिया गया हो। 'चित्तौड़ की झाली रानी' राणा सांगा की पत्नी थी। रैदास जी से मिली भी थीं। लेकिन 'मेड़तणी' मीराबाई झाली रानी' नहीं हो सकतीं।

कुछ विद्वान रैदास जी का भक्तों की श्रेणी में रखते हैं और यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि भक्त होने के नाते इनकी मीरा को दीक्षा देने की सम्भवना हो सकती है। लेकिन संतों द्वारा भक्तों की दीक्षा की आलोचना करनेवालों को उत्तर देने का यह विफल प्रयत्न ही है। क्योंकि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि मीराबाई से रैदास जी की भेंट की कोई सम्भवना नहीं; दीक्षा और गुरुमन्त्र देना तो दूर की बात है।

—तारकनाथ अग्रवाल

परिशिष्ठ (ख) मीरा परिचय

भारतीय उल्लेख—

<u>हिन्दी में</u> (प्राचीन)—

श्री नाभा दासजी	—भक्तमाल
श्री प्रिया दासजी	—भक्तिरस बोधिनी टीका
श्री सीताराम शरण भगवान प्रसाद	—भक्तमाल की टीका
श्री ध्रुवदास जी	—भक्त नामावली
श्री नागरी दास	—नागर समुच्चय
श्री चरण दास	—शब्द
श्री दया बाई	—विनय पदावली
श्री महाराज प्रतापसिंह	—ब्रजनिधि ग्रंथावली
श्री गोकुल नाथ	—चौरासी वैष्णवन की वार्ता

आधुनिक :—

श्री मुन्शी देवी प्रसाद	—मीराबाई की जीवनी
श्री ठाकुर शिवसिंह सेंगर	—शिवसिंह सरोज
श्री कार्तिक प्रसाद खत्री	—मीराबाई का जीवन चरित्र
श्री मिश्रबंधु	—मिश्रबंधु विनोद
श्री गौरी शंकर हीराचंद ओझा	—राजपुताने का इतिहास
श्री डा. श्याम सुन्दर दास	—हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्री पं. रामचन्द्र शुक्ल	—हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्री डा. रामकुमार वर्मा	—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
श्री महावीर सिंह गहलौत	—मीरा
श्री भुवनेश्वरजी मिश्र 'माधव'	—मीरा की प्रेम साधना
श्री ब्रजरत्न दास	—मीरा माधुरी,
श्रीमती विष्णुकुमारी मंजु	—मीरा पदावली
श्री नरोत्तम दास एम ए.	—मीरा मन्दाकिनी
श्री मुरलीधर श्रीवास्तव	—मीरा बाई का काव्य
श्री ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल'	—स्त्री कवि-कौमुदी
श्री परशुराम चतुर्वेदी	—मीरा बाई की पदावली

गुजराती में

श्री तनसुखराम मनसुखराम त्रिपाठी	—बृहत काव्य दोहन,
श्री मनसुखराम एन मेहता	—मीरांबाई

श्री एस एस मेहता	—मीरांबाई नो चरित्र
श्री आचार्य ध्रुव	—काव्य-तत्व विचार
श्री तनसुखराम त्रिपाठी	—नरसिंह अणे मीरां
श्री मणिक लाल चुन्नीलाल	—मीरांबाई
श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी	—गुजराती साहित्य ना मार्ग-सूचक स्तम्भो।
(अंग्रेज़ी में)	
श्री झावेरी	—माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर
श्री हर विलास शारडा	—महाराणा कुम्भ
श्री रामचन्द्र टन्डन	—सांग्स आफ़ मीराबाई
श्री बांके बिहारी	—दि स्टोरी आफ़ मीरां बाई
पाश्चात्य उल्लेख—	
मानीयर विलियम्स	—'रेलिजस् थाट एंड लाइफ आफ़ इन्डिया'।
कर्नल टॉड	—'एनाल्स् आफ़ राजस्थान'।
बकलैन्ड	—'डिक्शनरी आफ़ इन्डियन बायोग्राफ़ी'।
कोलब्रुक	—'एसेज़ आन दि रेलिजन ऐन्ड फ़िलासफ़ी आफ़ दि हिन्दूज़'।
डासन	—'क्लसिकल डिक्शनरी आफ़ हिन्दू माइथालाजी' इत्यादि
डफ़	—'दि क्रोनालोजी आफ़ इंडिया' इत्यादि।
फ़ोर्बस	—'रासमाला'।
फ्रेज़र	—'लिटररी हिस्ट्री आफ़ इन्डिया'।
हेस्टिंग्स्	—'एनसाइक्लोपीडिया आफ़ रेलिजन एन्ड एथिक्स्'।
हर्बर	—'नेरेटिव आफ़ जर्नी थ्रू दि अपर प्रॉविन्सेज़ आफ़ इन्डिया'।
विलसन	—'रेलिजस् सेक्ट्स् आफ़ हिन्दूज़'।
मैकनिकोल	—'इन्डियन थीइज़म्'।
मार्गरेट मैंकनिकोल	—'पोएम्स् आफ़ इन्डियन विमेन'।
मेकालिफ़	—'दि सिख रेलिजन' भाग-६।
,,	—'दि लीजेनडस् आफ़ मीराबाई'।
विलबरफ़ोर्स	—'हिस्ट्री आफ़ काठियावाड फ्राम द अरलिएस्ट टाईम्स्'।
ग्रियसन	—'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ़ हिन्दोस्तान'